प्रवचनसार : एक अध्ययन

(डी. लिट् हेतु प्रस्तुत प्रबन्ध)

मूल (आंग्ल) लेखक
डा. ए. एन. उपाध्ये, कोल्हापुर
पी. एच. डी., डी. लिट्

हिन्दी रूपान्तरण
प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन मानद निर्देशक
आचार्य विद्यासागर शोध संस्थान, जबलपुर

प्रकाशक
श्री दिग. जैन साहित्य-संस्कृति संरक्षण समिति
डी. ३०२, विवेक विहार, दिल्ली

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान -
श्री दिग. जैन साहित्य-संस्कृति संरक्षण समिति
डी. ३०२, विवेक विहार, दिल्ली

श्री हरकचन्द, पारसमल, सारसमल झांझरी
निवासी दादिया (जिला-अजमेर)
झांझरी ट्रांसपोर्ट कम्पनी
६६, नई धान मण्डी, उद्योग मार्ग
कोटा - ७ (राजस्थान)

प्रथमावृत्ति - १४ अक्टूबर १६६०

अनिल मुद्रणालय, नेपियर टाउन, जबलपुर

प्रकाशकीय

आचार्य कुन्दकुन्द भारतीय चिन्तकों और ग्रन्थकारों में अपना अलग स्थान रखते हैं और वे बड़ी श्रद्धा के साथ जन-मानस में समाये हैं। यद्यपि उनसे पूर्व और उनके पश्चात् सहस्त्रों चिन्तक एवं ग्रन्थकार हुए हैं। पर उनके प्रति लोक का बहु आदर और सम्मान है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विपुल एवं असाधारण प्राकृत वाङ्मय के द्वारा भारतीय संस्कृति को अध्यात्म एवं तत्त्वज्ञान-प्रधान विचार और आचार प्रदान किया तथा उसे अद्भुत ढंग से प्रभावित किया है। भारतीय साहित्य में प्राकृत भाषा के महापण्डित केरूप में तथा इस भाषा में निबद्ध सिद्धान्त साहित्य के रचयिता केरूप में भी इनका नाम अत्यन्त विश्रुत है। तीर्थंकर महावीर और उनके साक्षात् आद्यशिष्य गौतम इन्द्रभूति के बाद आचार्य कुन्दकुन्द का स्मरण किया जाता है। कुन्दकुन्द के काल में तीन भाषाएं बहुप्रचलित थीं- 1संस्कृत. 2प्राकृत. और 3पाली । यतः संस्कृत विद्वानों मुख्यतया ब्राह्मणों की भाषा थी-- वह जन-साधारण की भाषा नहीं थी। अतः कुन्दकुन्द ने संस्कृत को नहीं अपनाया। उन्हें जन-साधारण तक अपने अनुभव और उपदेश को पहुंचाना था और पाली,वर्ग-विशेष की भाषा थी, अतः उसे भी न अपनाकर सामान्य प्राकृतजनों की भाषा प्राकृत को चुना।

कहा जाता है कि उन्होंने 84 पाहुडों की प्राभृतों-प्रकरणों तथा आ. पुष्पदन्त-भूतबलीकृत "षट्खण्डागम" नाम के आगमग्रन्थ की विशाल टीका की रचना की थी। और ये सभी ग्रन्थ उन्होंने शौरसेनी प्राकृत में लिखे थे। पर आज ये सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, फिर भी जो ग्रन्थ-राशि उपलब्ध है वह इतनी प्रभावपूर्ण है कि उससे सारा जैन वाङ्मय उद्दीप्त एवं देदीप्यमान है। उनकी उपलब्ध रचनाएं निम्न प्रकार हैं-----

1.समयसार. 2.प्रवचनसार .3.पंचास्तिकाय. 4.नियमसार. 5.दंसणपाहुड. 6.चारित्रपाहुड. 7.श्रुतपाहुड. 8.बोधपाहुड. 9.भावपाहुड. 10.मोक्खपाहुड. 11.शीलपाहुड. 12.लिंगपाहुड. 13.बारस-अणुवेक्खा द्वादशानुप्रेक्षा. 14.सिद्धभक्ति. 15.श्रुतभक्ति. 16.चारित्रभक्ति. 17.योगिभक्ति. 18.आचार्यभकति. 19.निर्वाणभक्ति. 20.पंचगुरुभक्ति और 21.थोस्सामि-स्तुति ।

इन रचनाओं के सिवाय कुछ विद्वान् रयणसार और मूलाचार को भी कुन्दकुन्द की रचनाएं मानते हैं। परन्तु उनका साहित्यिक और वैषयिक सूक्ष्म अध्ययन करने पर वे उनके साहित्य और विषय से मेल नहीं खातीं । अनेक समीक्षक विद्वानों का भी यही मत है।

कुन्दकुन्द के इस साहित्य का एक समीक्षात्मक अध्ययन विशेषतः प्रवचनसार पर गहन एवं चिन्तनपूर्ण अध्ययन डा. ए. एन. उपाध्ये कोल्हापुर ने किया, जो मूलतः आंग्लभाषा में है। इसी का मूलानुगामी हिन्दीरूपान्तरण प्रो. लखमीचन्द जी द्वारा प्रस्तुत हो रहा है. यह हर्ष का विषय है।

हमें प्रसन्नता है कि यह हिन्दी अनुवाद आज श्री दिगम्बर जैन साहित्य - संस्कृति संरक्षण समिति द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है । सर्वप्रथम आचार्य विद्यासागर जी के चरणों में विनम्र विनयांजलि एवं नमोस्तु समर्पित करते हैं, जिनकी सद्प्रेरणा से ही हमें इस दिशा में बढ़ने का सामर्थ्य हुआ । हम डा. ए. एन. उपाध्ये को सश्रद्धया स्मरण करते हैं तथा प्रो. लखमीचन्द जी के लिए हार्दिक धन्यवाद देते हैं । उन्होंने इसमें पर्याप्त श्रम किया और लगन के साथ उसे तैयार किया है साथ ही मंत्री राय्यचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास को भी साधुवाद जिनकी मूल मुद्रित प्रति से हमने अनुवाद कराने में सहयोग लिया ।

हम ला. शिखरचन्द्रजी जैन, विवेक विहार, दिल्ली को नही भूल सकते, जिनके उदार दान से समिति की स्थापना हुई और जिसका यह प्रथम पुष्प है ।

ब्र. राकेश जी का यह सतत् प्रयास है, जो समिति से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है ।

सुन्दर प्रकाशन के लिए हम प्रेस को भी धन्यवाद देते हैं । इति शम् ।

डा. दरबारीलाल कोठिया,
अध्यक्ष

आमुख

प्राच्यविद्याध्ययन के अपने अनुसरण में जैन साहित्य के विद्यार्थी को जैन साहित्य एवं जैनधर्म की भारतीय विरासत को प्रदत्त सांस्कृतिक अंशदान के मूल्यांकन के लिए विशेष कठिनाइयों का सामना करना होता है। जैन साहित्य धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष दोनों हैं । वह एक विस्तृत क्षेत्र है, जो अनेक भाषाओं में सुरक्षित है ,आर्य भाषाओं में तथा द्राविड़ भाषाओं में सुरक्षित है.आर्य भाषाओं में तथा द्राविडभाषाओं में सुरक्षित है. अतः भारतीय साहित्य,भाषा,विचारधारा एवं जीवन के इतिहास के लिए इसका सर्वांपूर्ण अध्ययन उत्कृष्ट महत्व का है। भारत में अनेक ग्रन्थ छपते हैं किन्तु उनका मूल्य किसी छपी हुई हस्तलिपि से अधिक योग्यता नहीं रखता है। कुछ प्राच्य-विद्याविद् यूरोपीय एवं भारतीय दोनों ने अपने शोधान्वेषण और समालोचनात्मक संस्करणों के द्वारा जैनधर्म एवं जैनसाहित्य के प्रभावन हेतु उल्लेखनीय सेवाएं अर्पित की हैं. उन्होंने भविष्य बतलाया है कि यहां एक फलता-फूलता शोध क्षेत्र है जिसे किसी भी भारत-विद्या-विद् द्वारा उपेक्षित नहीं किया जा सकता है. किन्तु अभी तक जो कुछ भी किया जा सका है अत्यन्त अल्प है. जब कि हम उसकी तुलना उन विशाल छलांगों से करते हैं जिनके द्वारा वैदिक. बौद्धधर्मविषक संस्कृत एवं पालि के अध्ययन अग्रसर हुए हैं। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी समस्याएं सामने आ सकती हैं किन्तु अन्यत्र उत्कृष्ट परिणाम देने वाली तुलनात्मक और आलोच्य-ऐतिहासिक अध्ययन विधि यदि जैन साहित्य में भी प्रयुक्त की जाये तो वह निश्चित ही फल दायक हो सकती है। वह एक अतिविशाल कार्य है जिसका सूत्रपात् सौभाग्य से विविध प्राच्यविद्याविद् द्वारा हो चुका है मुख्यतः उन तीन जर्मन विद्वानों द्वारा वेबर . लायमां और जैकोबी ।

जैन साहित्य का निश्शेषित इतिहास एक अत्यावश्यक अभीष्ट वस्तु है। विण्टरनिट्ज के अभिनवावधि में प्रकाशित ए हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर भाग २ अंग्रेजी में जैन साहित्य का खण्ड बतलाता है कि कितना अधिक और कार्य करने के लिए शेष है। यदि भावी इतिहासकार के कार्य को सुसाध्य बनाना हो तो यह आवश्यक है कि विभिन्न साहित्य रचनाओं या शोधपूर्ण कृतियों पर सर्वांगपूर्ण विनिबन्ध लिखे जाना चाहिए जो उनके धार्मिक.दार्शनिक. भाषावैज्ञानिक साहित्यिक और ऐतिहासिक पक्षों पर प्रकाश डालने वाले हों तथा उनके ग्रन्थकार

और काल के संबन्ध में सभी विवेचना करने वाले हों साहित्यिक और पुरालेखीय स्रोतों से विपुल पार्श्व-प्रकाश उपलब्ध है। तथ्यों का निर्णायकरूप से वरण किया जाना चाहिए और बिना ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य खोये तथ्यों का समालोचनात्मकरूप से विन्यासित किया जाना चाहिए। भारतीय साहित्य के प्रासाद में कोई साधारण स्तम्भ केरूप में नहीं जैनसाहित्य के अग्रोन्मुख इतिहास में सावधानी पूर्वक गढ़े और सचेतकरूप से उत्कीर्णित आधार-शिला-पाषाण को प्रदान करने के विनम्र लक्ष्य को लेकर मैंने ऐसे कुन्दकुन्द आचार्य और उनके ग्रन्थों पर प्रास्तावित निबन्ध सहित प्रवचनसार के संस्करण को यहां निरूपित किया है. जो जैन सम्प्रदाय में महानतम ग्रन्थकारों में से एक हैं।

प्रस्तावना को छह खण्डों में विभक्त किया गया है । प्रथम खण्ड में कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में, चाहे साहित्यिक अथवा पुरालेखीय सूचना के विभिन्न परम्परागत अंशों को एकत्रित किया गया है और समालोचनात्मक पूर्वक उसका मूल्यांकन किया गया है । दूसरे खण्ड में कुन्दकुन्द की तिथि सम्बन्धी समस्या को पूर्ववर्ती लेखकों के विचार-प्रकारों द्वारा, आधारभूत तथ्यों के विश्लेषण द्वारा, और अभिनव सामग्री के प्रकाश में उसी के सवीक्षण के द्वारा विवेचित किया गया है । तृतीय खण्ड को कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अध्ययन लिए अर्पित किया गया है, प्रत्येक रचना की विषय-वस्तु को विश्लेषित किया गया है और प्रत्येक पर समालोचनात्मक अभ्युक्तियाँ दी गयी हैं । चौथा खण्ड प्रवचनसार के अध्ययन हेतु अभिधारित है : प्रवचनसार के अध्ययनों की कालानुक्रम सम्बन्धीरूपरेखा दी गयी है, ग्रन्थ के दो संशोधित पाठों का समालोचनात्मक अध्ययन दिया गया है, रचना की विषय-वस्तु को विस्तृतरूप से सार में बनाया गया है, अधिक ध्यान प्रवचनसार के दार्शनिक पक्षों के लिए अर्पित किया गया है जिसमें से विभिन्न प्रकरणों को रचनात्मकरूप से प्रतिपादित किया गया है और उन पर भारतीय दर्शन की अन्य प्रणालियों के साथ ऐतिहासिक और समालोचनात्मक मार्गों पर अध्ययन किया गया है, और अन्त में ग्रन्थ के साधु-धर्म सम्बन्धी पक्ष को बुद्ध-धर्म के भिक्षु-धर्म सम्बन्धी पक्ष की तुलना में विवेचित किया गया है । पाँचवें खण्ड में प्रवचनसार को छः टीकाओं पर लघु विनिबन्ध जोड़े गये हैं : उनसे सम्बन्धित तथा उनकी रचनाओं से सम्बन्धित सभी उपलब्ध सूचनाओं को निर्णीत करने का प्रयत्न किया गया है, और उनमें से कुछ की टीकाओं में से उद्धरण आदि को भी उनके स्रोतों से

खोजा गया है । छठवाँ खण्ड प्रवचनसार की प्राकृत भाषिका के अध्ययन के लिए अर्पित है : भाषिका का व्याकरणीय विश्लेषण दिया गया है, प्राकृत भाषिकाओं की योजना में इस भाषिका की ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि की रूपरेखा देते हुए उसका स्थान सीमांकित करने का प्रयत्न किया गया है, और अन्त में उसका नाम तक डॉ. जैकोबी द्वारा अवधारित पूर्व-शास्त्रीय प्राकृत से उसका सम्बन्ध विवेचित किया गया है । इस प्रकार यह देखने में आयेगा कि कुन्दकुन्द और उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में अनेक नये तथ्यों को प्रकाश में लाया गया है, और जैन साहित्य की प्रायोजना में उनका स्थान निश्चित किया गया है । मूलतः इस प्रस्तावना का एक अंश मेरे द्वारा दिये गये व्याख्यानों की ऐसी माला द्वारा समाया है जो अर्ध-मागधी के स्नातकोत्तर शिक्षक, बम्बई विश्वविद्यालय के पद से एम. ए. के विद्यार्थियों को दिये गये थे ।

प्रस्तावना में प्रतिपादित प्रवचनसार का दार्शनिक पक्ष विद्यार्थी को जैन-दर्शन के सर्वांगपूर्ण अध्ययन से परिचित कराने के लिए एक संतुलित रूपरेखा जैसी प्रत्याशित है । मेरा विश्वास है कि अब समय आ गया है जबकि हम सांख्य, जैन, बौद्ध और आजीविक सिद्धान्तों को इस रूप में मूल्यांकित न करें कि वे आर्य विचारधारा के उपनिषद् आधार से अनियमित संयोगिक रूप से वरण किये हुए इक्के-दुक्के विचारों के मात्र विकृत विस्तारण हैं । इन प्रणालियों की अन्तर्निहित समानताएँ, जो आर्य वैदिक एवं ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध सारभूत रूप से असमानताएँ रखती हैं, तथा वे अन्तर जो वैदिक ब्राह्मणों को समन्वित करते हुए और उपनिषद् विचारधाराओं का तटस्थ अध्ययन करने से ताड़े जा सकते हैं, वस्तुतः एक स्वदेशीय विचारधारा के अस्तित्व को इंगित करती है, जिसे सुविधाजनक रूप से मागध-धर्म कहा जा सकता है । मागध-धर्म अपने सांसारिक दृष्टिकोण में सारभूत रूप से उदासीनात्मक था, आधिभौतिक रूप से बहुवादी नहीं तो द्वैतवादी था, अपने नैतिक सिद्धान्तों में जीववादी तथा परा-मानवीय था, स्वभावगत रूप से वैराग्य सम्बन्धी था, निस्संदेह रूप से पुनर्जन्म के मत को और कर्म-सिद्धान्त को मानता था, वेदों और वैदिक अनुष्ठानों के प्रति जातीयनिष्ठा रहित था, व्यक्ति की परिपूर्णता के विश्वास का समर्थन करता था , तथा सृष्टिकर्ता की मान्यता को निस्संकोच रूप से अस्वीकृत करता था ।

प्रवचनसार का प्राकृत ग्रंथ इस प्रकार निरूपित किया गया है जैसा कि वह जयसेन की टीका में सुरक्षित है जो सबसे पूर्व के ऐसे ज्ञात टीकाकार हैं जिन्होंने ग्रंथ की परिशुद्धता की ओर ध्यान दिया है। गाथाओं के भाषिकीय पक्ष पर मात्र कुछ पार्श्व-प्रकाश डालने हेतु दो अन्य हस्तलिपियों का मिलान किया गया है, और उनके पाठांतर अन्त में दिये गये हैं।

आंग्ल अनुवाद उतना मूलार्थक रखा गया है जितना सम्भव है, और उसका यथातथ्य भाषाशास्त्रीय विधि से प्रयास किया गया है। यहां प्रवचनसार का अनुवाद प्रथम बार हुआ है, और इसलिए मैं अपने अनुवाद के प्रयोगत्मक लक्षण के प्रति पूर्णतः सचेत हूं। प्रोफेसर फैड़ेगान का ग्रन्थ एवं अमृतचन्द्र टीका का अग्रेजी अनुवाद (डा. एफ. डब्लू. टामस, (F.W. Thomas), कैम्ब्रिज, १९३५ मेरे हाथों में बहुत देर से पहुंचा (बहुत देर पश्चात् प्राप्त हुआ) जब कि मेरे अनुवाद और भूमिका के सभी फार्म छप चुके थे। जैन पारिभाषिक शब्दों के आंग्ल समानार्थक (शब्दों) का उपयोग करते हुएमैंने निरन्तर जैन ग्रन्थों के पूर्ववर्ति अनुवादकों स्टीवेन्सन (Stevenson), जैकोबी (Jacobi), होएर्न्ले (Hoernle), बर्नेट (Branrtt), घोषाल (Ghoshal), जैनी (Jaini), चक्रवर्ती (Chakravarti) और अन्य (विद्वानों) के सुझावों (प्रस्तावों) पर ध्यान दिया है। साथ ही कभी कभी, उनके प्रति सम्मान देते हुए ऐसे अन्य शब्दों को ग्रहण किया जो मुझे अधिक महत्त्वपूर्ण और गुणार्थक प्रतीत हुए। अनुवाद के साथ, मात्र थोड़े (कुछ) व्याख्याकारी
टिप्पण जोड़ दिये गये हैं।

सर्व प्रथम मैं स्वर्गीय पंडित मनोहरलाल शास्त्री को धन्यवाद देता हूं जो दो संस्कृत टीकाओं के प्रथम सम्पादक थे। मैं रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, विशेषतः शेठ मणिलाल रेवाशंकर झवेरी का अत्यंत अनुग्रहीत हूं, जिनके उदार प्रोत्साहन के बिना कुन्दकुन्द सम्बन्धी मेरे अध्ययन कभी प्रकाशित न हो सके होते। मैं प्रोफेसर हीरालाल जैन किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती
के प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूं जिन्होंने मुझे मूल्यवान् सुझाव दिये तथा समय समय पर प्रूफ संशोधित किये। मैं अपने सहयोगियों, प्रोफेसर के. जी. कुंदंगर और प्रोफेसर एस. एस. सुकथंकर को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने इस कार्य के विभिन्न चरणों में कृपापूर्ण परामर्श दिये। इसके पश्चात् मुझे स्वीकार करना

चाहिए कि निर्णयसागर प्रेस ने अपने दीर्घकालीन प्रतिष्ठा के अनुकूल संतोष जनक विधि से अपना कार्य सम्पन्न किया ।

इस शोध प्रबन्ध की योजना बनाई गई और प्रेरणास्पद भण्डारकर ओरीयन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना में अनेक निर्देश भी १९३० में एकत्रित किए गये , जबकि मुझे दो संस्कृत के महान विद्वानों, डा. एस. के. बेलवलकर तथा डा. व्ही. एस .सुक्थंकर , के क्रमशः अथर्व- वेद एवं उपनिषद् तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान पर हुए पांडित्यपूर्ण व्याख्यानों में उपस्थित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ , और जो कुछ भी मैंने उनसे प्रेरणा एवं अनुदेश रूप में प्राप्त किया वह औपचारिक अभिव्यक्ति से परे है ।

अंत में सम्मानीय आचार्य डा. पी. एल. वैद्य, पूना के प्रति अपने गहन ऋण का सद्भावपूर्ण आभार अंकित करता हूं जिनके योग्य संरक्षण में मुझे प्राकृत विद्याध्ययन क्षेत्र में सुसंस्कृत (दीक्षित) होने का गौरवपूर्ण प्राधिकार प्राप्त हुआ । उन्होंने सदैव मुझे कार्य हेतु और उत्तमतर कार्य करने हेतु तथा उत्तमतर पद्धतियों से कार्य करने हेतु प्रोत्साहित किया । जो प्रशिक्षण मैंने उनसे प्राप्त किया , वह मुझे सदैव लाभदायक रहा ।

सम्पादक विश्वविद्यालय बम्बई के प्रति पर्याप्त वित्तीय सहायता के लिए अपनी कृतज्ञता स्वीकार करता हूं जो उन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन करने के लागत खर्च के लिए अनुदान के रूप में प्रदान की ।

ग्रन्थ की समस्त अपरिपूर्णता सहित, जिसके सम्बन्ध में मुझे कहना चाहिए कि मैं अन्य किसी और की अपेक्षा अधिक जानता हूं, मैं अपने इस कार्य को प्राच्यविद्याविद् के करकमलों में समर्पित कर रहा हूं । मुझे आशा है कि मेरा यह कुन्दकुन्द के अध्ययन पर दिया अशंदान , चाहे कितना भी अल्प हो , ऐसे जैन साहित्य क्षेत्र में (शोध) कार्य करने में वाले विद्वानों के लिए सहायक सिद्ध होगा , जो निपुण एवं विस्तृत आरंभिक कार्य की प्रतीक्षा करता हुआ अभी तक अनन्वेषित है ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते --------

कोल्हापुर

अगस्त १९३५ ए.एन. उपाध्ये

१. श्री कुन्दकुन्दाचार्य

कुन्दकुन्द का समान्य परिबोधन–

जैन ग्रन्थकारों के मध्य, विशेषकर दिगम्बर सर्वश्रेष्ठ परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्य को अप्रतिम स्थान प्राप्त है। उनके नाम का उल्लेख मांगलिक महत्त्व का है और वह केवल महावीर एवं उनके गणधर गौतम के ठीक बाद आता है।(1) दिगम्बर आम्नाय के जैनाचार्यों ने कुन्दकुन्द से अपनी गुरुपरम्परा को जोड़ने में गौरव अनुभव किया है; और इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि हम दक्षिण के दिगम्बर जैन मुनि वर्ग के चार संघों मे से तीन को कुन्दकुन्दान्वय का पाते हैं। (2)अनेक पश्चात्कालीन ग्रन्थकार उनके महान् आभारी हैं और उनके कुछ ग्रंथ उद्धरण हेतु पिछले टीकाकारो के लिये कामधेनु सिद्ध हुये हैं; यह सीधा संकेत करता है कि उनकी रचनाएँ प्रामाणिक कोटि की है। उनके ग्रन्थत्रय, नामतः, **पञ्चास्तिकाय**, **प्रवचनसार**, और **समयसार**, (3) प्राविधि रूप से नाटक–त्रय या प्राभृतत्रय कहे जाते हैं, सम्भवतः इसलिये कि उनका साम्यानुमान वेदान्तियो के प्रस्थान–त्रय से है; यह सूचित करता है कि जैनो के लिये ये तीन ग्रंथ उतने ही पवित्र एवं प्रामाणिक है जितने कि वेदान्तियों के लिये **उपनिषद्**, **ब्रह्मसूत्र** एवं **भगवद्गीता** ।उनकी अधिकांश उक्तियाँ सम्प्रदायवाद से परे है; उनका समयसार दिगम्बरो, श्वेताम्बरो और स्थानकवासियो के द्वारा समान रूप से भक्तिपूर्वक अध्ययन किया जाता है; और कुन्दकुन्द के इस ग्रंथ से आज तक सहस्रो अध्यात्मरस के रसिको, मुनि और गृहस्थों, दोनो ने धार्मिक प्रेरणा और आध्यात्मिक शान्ति पायी है।

कुन्दकुन्द के परम्परागत नाम–

पुरा अभिलेखो की ओर देखने पर उनका नाम कोण्डकुन्द वर्ण–विन्यास रूप मे प्राप्त होता है। (4) यह रूप निर्णीत रूप से द्राविड़ ध्वनि रंजित है; इसका सरल संस्कृत रूप कुन्दकुन्द है, और इसने पूर्णतः मूल शब्द को पीछे छोड़ दिया है। बारहवीं शताब्दी के कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उनका मूल नाम पद्मनन्दि था, किन्तु वे कोण्डकुन्द कहलाये, अथवा कुन्दकुन्द कहलाये जैसा कि हम वर्णविन्यास करते हैं। (5)1386 ईस्वी लगभग के विजयनगर के नंदिसंघ से सम्बन्धित किसी शिलालेख में, हम अभिलेख बद्ध पाते है। कि हमारे ग्रंथकार के पाँच नाम थे: पद्मनन्दि, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ (गृद्धपिञ्छ भी वर्णविन्यासित है) (6)तत्पश्चात् अनिश्चित तिथि के अभिलेखों वाली नंदिसंघ की पट्टावलि में वही पाँच नाम कुन्दकुन्द के प्राप्त हुए है। (7)होएर्नले (Hoernle)ने भी दिगम्बर पट्टावलियों के अपने तुलनात्मक अध्ययन में किसी हस्तलिपि में देखा है कि कुन्दकुन्द के ये ही पाँच नाम थे। (8)इन लाक्षणिक सूचियों की यथार्थ तिथियाँ संभवतः पंद्रहवी शताब्दी तक की आती हैं। तिस पर भी विश्वास के साथ माना जा सकता है कि उनकी अन्तर्वस्तु के अंश पर्याप्त प्राचीन हीं, यद्यपि कोई

नहीं कह सकता कि कितने ! तत्पश्चात् पंद्रहवीं शताब्दी (9)के प्राय: अंत में हुये श्रुतसागर ने कुन्दकुन्द (10)के षट्–पाहुडों पर संस्कृत टीका की औपसंहारिक प्रशस्ति में उपर्युक्तानुसार हमारे ग्रंथकार के इन्हीं पाँच नामों का उल्लेख किया है। कुन्दकुन्द स्वयं इन नामों पर पूर्णतः मौन हैं, मात्र वे बारस–अणुवेक्खा के अंत को छोड़कर अपनी रचनाओं में भी अपने नाम का उल्लेख नहीं करते हैं। उनके प्रथम टीकाकार, अमृतचन्द्र, जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस बिन्दु पर मौन हैं। जयसेन ने फिर भी पंचास्तिकाय की उत्थानिका में कहा है कि—कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि था; और जब वे समयसार पर अपनी टीका के अंत में दो औपसंहारिक प्राकृत श्लोकों (11)में पउमणंदि का गुणगान करते हैं। तब सम्भवतः उनका अभिप्राय वही होता है। इस प्रकार, जहाँ तक हमारे समक्ष साक्ष्य हैं, प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि था; और केवल चौदहवी शताब्दी के पश्चात् ही हम परम्परागत प्रवाह से जानते हैं कि उनके पाँच नाम थे। उनके पाँच नाम की परम्परा से कोई भी सहमत हो जाता, यदि अन्य ग्रंथकारों द्वारा इन नामों में से कुछ पर अधिकार का कथ्य न होता। यह कि इनमें से कुछ स्वतंत्र व्यक्ति प्रतीत होते हैं, और केवल दो नाम बतलाने वाले पूर्व–कालीन शिलालेख पाँच नामों की परम्परा को बिलकुल भी पुष्ट नहीं करते हैं। अतः व्यक्तिशः इन नामों की छानबीन करना आवश्यक है और यह देखना है कि इस परम्परा को कहाँ तक यथार्थ माना जा सकता है।

वक्रग्रीव के रूप में विवेचित कुन्दकुन्द का नाम—

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, वक्रग्रीव नाम सर्वप्रथम 1125 ईस्वी के शिलालेख में आता है। किन्तु द्राविड़ संघ एवं अरुंगळन्वय (12)गुरु परम्परा मे इस शिलालेख में वक्रग्रीवाचार्य मात्र उल्लेख से परे कोई भी सूचना प्राप्त नहीं होती है। दूसरा उल्लेख 1129 ईस्वी के श्रवण ळगोळ शिलालेख में पाया जाता है। यह पर्याप्त दीर्घ शिलालेख है जिसमें अधिक ऐतिहासिक सूचना गर्भित है। (13)पांचवें श्लोक में कहा गया है कि कोण्डकुन्द सभी के समादरणीय है; कि उनकी मालती (पुष्प) जैसी कीर्ति अनेक क्षेत्रों को सुरभित कर रही है; कि वे चारण ऋद्धिधारी मुनियों के सुन्दर चरणकमलों के भ्रमर थे; और यह कि उन्होंने दृढ़तापूर्वक भारत में श्रुत की स्थापना की थी। इसके पश्चात् छः से नौ तक के श्लोकों में समन्तभद्र एवं सिंहनन्दि का गुणगान है। आगे, दसवें श्लोक में, वक्रग्रीव के सम्बन्ध में कुछ तथ्य दिये गये हैं :— 'वह महान् मुनि थे; उनमें ऐसी सशक्त वक्तृत्व कला थी जिससे वादियों के समूह मार्ग पर लग जाते थे, और इसकी प्रशंसा एक सहस्रमुख वाले नागेन्द्र के द्वारा भी भलीभाँति नहीं की जा सकती थी; उन्हें शासन देवताओं से सम्मान प्राप्त था; उनके समक्ष कुवादियों की ग्रीवाएं लज्जा से झुक जाती थीं; और उन्होंने संक्षेप रूप में अथ शब्द का अर्थ छः माह तक प्रतिपादित किया था।' (14)इस प्रकार इस शिलालेख में मुनि वक्रग्रीव को एक ऐसे विद्वान् एवं शास्त्रार्थतार्किक के रूप में वर्णित किया है जिन्हें विजय से विभूषित किया गया है। इस शिलालेख में उन्हें जिस प्रकार उल्लेखित एवं वर्णित किया गया है स्पष्टतः प्रदर्शित करता है कि वे कुन्दकुन्द से भिन्न व्यक्ति हैं और संभवतः कुन्दकुन्द के पश्चात् हुये प्रतीत होते हैं। इसके सिवाय, 1137, 1158 और 1168 ईस्वी के अन्य शिलालेख भी हैं जिसमें वक्रग्रीवाचार्य का निर्देश किया गया है।(15)किन्तु वे कहीं भी हमें सूचित नहीं करते कि

कुन्दकुन्द ही वक्रग्रीव थे। (16)इन सभी शिलालेखों में, जहाँ कहीं संघ, गण और अन्वय का कोई उल्लेख है, हम पाते हैं कि वक्रग्रीव का संबंध द्राविड़–संघ, नन्दि–गण एवं अरुंगळान्वय से जोड़ा गया है। इसलिये, मेरा विचार है कि वक्रग्रीव एक ऐसे स्वतंत्र गुरु थे। जो कुन्दकुन्द से बिलकुल भिन्न थे।

एलाचार्य नाम के रूप में विवेचित कुन्दकुन्द—

एलाचार्य का नाम आने पर मुझे चिक हनसोग (17)(Chicka Hanasoge), के एक तिथि रहित शिलालेख की याद आती है, जिसमें देशि–गण और पुस्तकगच्छ के किन्हीं एलाचार्य का उल्लेख है; किन्तु मुझे ऐसा कोई संकेत नहीं मिला है कि उनकी तद्रूपता अथवा अतद्रूपता कुन्दकुन्द से दिखाई जा सके। **धवला** की प्रशस्ति से हमें ज्ञात होता है कि कोई एलाचार्य थे जिनसे धवलाकार वीरसेन ने सिद्धांत (18) का उपदेश ग्रहण किया था, और **जयधवला** टीका में ऐसी सूचनाएँ हैं कि सिद्धान्त के कम से कम एक भाग पर उनका संभवतः कोई स्पष्टीकरण उनके पास था। 19 ये एलाचार्य, वीरसेन के गुरु होने के कारण, आठवीं शताब्दी के अंत में अवश्य ही थे। अपने **श्रुतावता** (20) में जब इंद्रनन्दि इन एलाचार्य का निर्देश देते हैं, तो ये एलाचार्य चित्रकूटपुर के निवासी थे तथा सिद्धांत में भलीभांति निपुण थे। तथा इन्हीं से वीरसेन ने सिद्धांत का अध्ययन किया था, और चित्रकूट से वाटग्राम वापिस होते हुए, टीका की रचना की थी जो **धवला** कहलाई। ये एलाचार्य वही कुन्दकुन्द नहीं हो सकते है, क्योंकि पिछले श्लोकों में से कुछ (नामतः 160–61) मे इंद्रनंदि ने कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि का निर्देश दिया है। मै सोचता हूँ जो अपने कुन्दकुन्द के समान है, क्योंकि उन्होंने **षट्खण्डागम** के प्रथम तीन भागो पर परिकर्म नाम की सर्वांगपूर्ण टीका लिखी । इसके सिवाय हम एक और हेलाचार्य को जानते हैं, एलाचार्य नाम का संभवतः प्रान्तीय उच्चारण था, जो मांत्रिक ज्ञान परम्परा के स्वामी थे, द्राविड़–गण के थे, तथा दक्षिण मे हेमग्राम के निवासी थे। वे एक तांत्रिक ग्रंथ, **ज्वालिनीमत**, की विषय–वस्तु के लिये मुख्यतः उत्तरदायी थे जो मुख्यतः हेलाचार्य के प्राचीन ग्रंथ पर आधारित था और जिसे इन्द्रनन्दि योगीन्द्र ने शक संवत् 861 अर्थात् 939 ईस्वी में रचा था। (21)इन्द्रनन्दि जिस विधि से हेलाचार्य के विषय मे कथन करते है उससे प्रतीत होता है कि हेलाचार्य बहुत काल पूर्व हुये, यद्यपि वीरसेन के उपरि निर्दिष्ट गुरु के रूप में उनको पहिचानने के लिये कोई साक्ष्य नहीं है। यह कि कुन्दकुन्द का एक नाम एलाचार्य था, तब तक असिद्ध रहना चाहिये जब तक कि कोई अन्य साक्ष्य या स्वतंत्र परम्परा प्राप्त हो। कारण कि कुन्दकुन्द के पाँच नाम वाली परम्परा की सम्पूर्ण प्रामाणिकता पर संदेह है जैसा कि कुन्दकुन्द को वक्रग्रीव नामधारी मानने से प्रतीत होता है।

गृद्धपिच्छ नाम के रूप में विवेचित कुन्दकुन्द—

ईस्वी सन् 1115 से 1398 तक के श्रवणबेलगोळ शिलालेखों से ज्ञात होता है कि **तत्त्वार्थसूत्र** (22) के ग्रंथकर्त्ता उमास्वाति का दूसरा नाम गृद्धपिच्छ था, और इन शिलालेखों में से कुछ सूचित करते हैं कि कभी कभी गृद्धपिच्छ नाम उमास्वाति का उल्लेख करने के लिये पर्याप्त था, उनका गृद्धपिच्छ नाम इसीलिए अत्यन्त लोकप्रिय था। इन्हीं अभिलेखों में से कुछ में दूसरा नाम गृद्धपिच्छ, उमास्वाति नाम के साथ कुन्दकुन्द के नाम के उल्लेख के तत्पश्चात् आता है।

यदि गृद्धपिच्छ नाम कुन्दकुन्द का भी था, अथवा यदि वह कुन्दकुन्द एवं उमास्वाति दोनों का उभयनिष्ठ नाम था, तो हम सामान्य विधानुसार प्रत्याशा करते हैं कि शिलालेखों को उसका निर्देश करना चाहिये था। उमास्वाति को गृद्धपिच्छ कहलाए जाने में कोई विशेषता थी, और ईस्वी सन् 1433 के श्रवणबेलगोळ के शिलालेख में उसका निर्देश किया गया है:– आचार्य उमास्वाति कुन्दकुन्द के पवित्र वंश के थे, और सभी सिद्धांतों (मतों) में निपुण होने से उन्होंने विस्तृत जैन सिद्धांत को सूत्र रूप में संक्षिप्त कर दिया था। जीवों की रक्षा में सजग थे, जैसा कहा जाता है (किल) गृद्ध–पंखों को लिये चलते थे, और उस दिन से वे विद्वानों के मध्य गृद्धपिच्छाचार्य (23) नाम से प्रख्यात हुये। इस नाम को विचित्र नहीं मानना चाहिये क्योंकि ऐसे भी जैन ग्रंथकार हुये हैं–जिनके नाम बलाकपिच्छ(24) और मयूरपिच्छ(25) थे, जिनमें से प्रथम तो विशिष्ट रूप से उमास्वाति के प्रत्यक्ष शिष्य थे। अन्य पुरालेखात्मक अभिलेख हैं जिनमें कभी कभी मात्र गृद्धपिच्छ (26) और कभी कभी मात्र उमास्वाति (27) उल्लिखित हैं। इस प्रकार निस्संदेह रूप से प्रतीत होता है कि उमास्वाति का नाम गृद्धपिच्छ था। (28)यथार्थ संसूचना के अभाव में अथवा अशुद्ध संसूचना के कारण सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से यह परम्परा प्रचलित हो गयी कि कुन्दकुन्द का नाम गृद्धपिच्छ था। इस परम्परा से ऐसी संभ्रान्ति उद्गमित हुई कि **तत्त्वार्थसूत्र** के पश्चात्कालीन टीकाकार राजेन्द्रमौलि ने यह मानकर कि कुन्दकुन्द का नाम गृद्धपिच्छ था और **तत्त्वार्थसूत्र** (29)के ग्रंथकर्ता गृद्धपिच्छाचार्य थे अतः कुन्दकुन्द **तत्त्वार्थसूत्र** (30) के ग्रंथकर्ता थे, इस प्रकार तथ्यों का अशुद्ध प्रतिरूपण था, जो शुद्ध पदो मे, पूर्वप्राप्त साक्ष्यो द्वारा खंडित है।

उनके नामों सम्बन्धी उपसंहार–

उपर्युक्त विवेचित साक्ष्यो के प्रकाश में उपसंहार रूप से यह स्पष्ट है कि अपने ग्रंथकार का नाम पद्मनन्दि था और जैसा कि इन्द्रनन्दि ने अपने **श्रुतावतार**(श्लोक 160 इत्यादि) में कहा है कि संभवतः उनका जन्म स्थान कुण्डकुन्दपुर होने से वे कोण्डकुन्दाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुये। कुन्दकुन्द के अन्य नामों में एलाचार्य नाम अभी भी **अनिर्णीत** विषय–वस्तु है, और दो अन्य नामों के विषय मे पुरालेख संबंधी अभिलेख परम्परा के विरुद्ध हैं। मेरा विचार है कि कुन्दकुन्द के संबंध मे प्रामाणिक संसूचना के अभाव मे वे प्रचलित हो गये होंगे।

कुन्दकुन्द के आत्मकथित अवशेष–

बारस अणुवेक्खा के अंत मे कुन्दकुन्द ने अपने नाम का उल्लेख किया है; और **बोधप्राभृत** के अंत से हमें ज्ञात होता है कि वह भद्रबाहु के **शिष्य** की रचना है, मात्र इतना ही कुन्दकुन्द के विषय मे उनके ग्रंथो से ज्ञात होता है। प्राकृत साहित्य के विद्यार्थी और जैन साहित्य के विद्यार्थी इसे सदैव दुर्भाग्यपूर्ण वृत्त मानेगे, कि कुन्दकुन्द ने अपने किसी भी ग्रंथ में अपने व्यक्तित्व संबंधी जानकारी के विषय में अपने मुख से कुछ भी नहीं कहा है। किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य के इतिहास में यह बिलकुल भी असामान्य नहीं है।

कुन्दकुन्द का परम्परागत जीवनचरित–

कुन्दकुन्द के जीवन संबंधी दो परम्परागत कथानक उपलब्ध है। वे बिलकुल भी समका–

लीन अभिलेख नहीं हैं। इसके सिवाय कुन्दकुन्द के युग से उनका लेखन समय की बड़ी दूरी पर हुआ है जिससे वे स्वयं ही अधिक साख के योग्य नहीं हैं। प्रोफेसर चक्रवर्ती (31)ने **पुण्यास्रवकथा**(32)के प्रमाण के आधार पर कुन्दकुन्द के जीवन का वर्णन किया है। इसमें उन्होंने कहा कि उसे **शास्त्रदान** के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है: भरत–खण्ड के दक्षिण–देश में, पिदथनाडू जिले में कुरुमरई नगर में 'करमुण्ड' नामक एक धनवान् वणिक अपनी पत्नि 'श्रीमती' सहित रहता था। उनके पास एक ग्वाला था जिसका नाम मथिवरन् था, जो पशुओ का पालन करता था। एक बार उस बालक ने बड़े आश्चर्य के साथ देखा कि जहाँ संपूर्ण जंगल दावानल से जल चुका था, वहाँ बीचों बीच कुछ वृक्ष हरियाली सहित पल्लवित थे। उस बालक ने उक्त स्थान को देखा भाला और पाया कि वहाँ आगम ग्रंथों सहित कोई पेटी है तथा किसी मुनि का निवास है। इससे उस श्रद्धालु बालक ने समझा कि उन्हीं के कारण यह स्थान आग से जलने से बच गया है। उसने उन ग्रंथों को घर लाकर पवित्र स्थान पर विराजमान कर उनका प्रतिदिन पूजन प्रारम्भ कर दिया। एक बार कोई धर्म–गुरु उस घर में आये; व्यापारी ने उन्हें आहार दिया, और इस बालक ने उन्हें वे ग्रंथ भेंट किये। इस धर्म कार्य के लिये साधु ने स्वामी तथा बालक को आशीर्वाद दिया। स्वामी के कोई संतान नहीं थी। और कालान्त में स्वामीभक्त बालक मरकर स्वामी के यहाँ पुत्र रूप में जन्मा । जैसे जैसे समय बीता, यह कुशाग्रबुद्धि बालक कुन्दकुन्द नाम का एक महान् दार्शनिक एवं धार्मिक गुरु हुआ । इसके पश्चात् , प्रोफेसर चक्रवर्ती सामान्य से अन्य घटनाओं का निर्देश करते हैं। यथा यह विवरण :– कि उत्कृष्ट बुद्धिमान के रूप में कुन्दकुन्द, श्रीमन्धरस्वामी के समवशरण में, दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों द्वारा उक्त भ्रमण का सत्यापन, कुन्दकुन्द की उनके प्रति उदासीनता, जुगुप्सा सहित उनकी अनुवर्ती वापिसी, भ्रमनिवारण एवं अन्त में पूर्वविदेह क्षेत्र में श्रीमन्धरस्वामी के समवसरण मे कुन्दकुन्द का पहुँचना। **शास्त्रदान** के पुण्य ने उन्हें साधुसंघों का संगठक एवं महान् संघ नायक बना दिया इसके बाद उन्हें आचार्यपद प्राप्त हुआ और उनका जीवन कल्याणकारी एवं कीर्तिवान् व्यतीत हुआ।(33)

कुन्दकुन्द के विषय में एक अन्य परम्परागत कथा–

पंडित प्रेमीजी(34)ने कुन्दकुन्द की एक अन्य कथा का उल्लेख **ज्ञानप्रबोध** नामक ग्रंथ के प्रमाणाधार पर दिया है:–मालवा के बारापुर नगर में एक राजा कुमुदचन्द्र अपनी रानी कुमुदचन्द्रिका के साथ रहते थे। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठि नामक व्यापारी अपनी पत्नि कुन्दलता सहित रहता था, जिसके कुन्दकुन्द नामक एक पुत्र था। किसी समय उस बालक को अपने मित्रों के साथ खेलते समय, किसी उद्यान में एक मुनि अनेक गृहस्थो के साथ दिखाई दिये। बालक ने सावधानीपूर्वक उनके उपदेश सुने। मुनि के वचनों और चरित्र से बालक पर इतना प्रभाव पड़ा कि मात्र ग्यारह वर्ष के इस बालक को वैराग्य हो गया और वह उन जिनचंद्र मुनि का शिष्य हो गया, और उनके साथ रहने लगा। माता पिता को इस घटना से बहुत दुःख हुआ। कुछ ही अवधि में कुन्दकुन्द को जिनचंद्र के शिष्यों के मध्य इतनी अग्रगण्यता प्राप्त हुई कि वे तैंतीस वर्ष की उम्र में आचार्य बन गये। वे अंतर्मुखी एवं धर्मध्यान में विशेष समुन्नत हुये। एक बार उन्हें जैनधर्म के कुछ

मूलभूत सिद्धांतों पर शंका हुई; न जानते हुये कि क्या करें, वे धार्मिक अनुष्ठानों में पूर्णतः संलग्न हो गये। एक दिन अपनी ध्यानावस्था में, उन्होंने मन, वचन, काय शुद्धिसहित, विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर श्रीमन्धरस्वामी को नमस्कार किया। उनका नमस्कार इतना विशुद्ध था कि समवसरण में श्रीमन्धर के मुख से सहज ही ''सद्धर्म वृद्धिरस्तु'' प्रस्फुटित हुआ। समवसरण में उपस्थित श्रोताओं को इस आशीर्वाद का औचित्य समझ में नहीं आया कि नमस्कार करने वाले के बिना यह आशीर्वाद किसे दिया जा रहा है। श्रीमन्धरस्वामी की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के कुन्दकुन्द (आचार्य) को यह आशीर्वाद दिया गया है। वहाँ कुन्दकुन्द के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को समवसरण में ले गये। आकाशमार्ग से जाते हुये कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छिका गिर गयी और किसी भी प्रकार से फिर पायी न जा सकी; इसलिये उन्हें गृद्धपिच्छ से वहाँ धर्मचर्या निभाना पड़ी। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह ठहरे (भगवान् के दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवण से) उन्हें जो धर्मबोध प्राप्त हुआ उससे उनकी धार्मिक शंकाओं का समाधान हो गया। लौटते समय उन्होंने नीतिचातुर्य एवं तंत्र विषयक सामग्री वाला ग्रंथ दिया था किन्तु वह मार्ग में लवणसमुद्र में गिर गया। मार्ग में अनेक तीर्थस्थानों की वन्दना करते हुये लौटे। उन्होंने यहाँ आकर धर्मोपदेश प्रारम्भ किया (जिसे सुनकर) उनसे सात सौ स्त्री पुरुषों ने दीक्षा ले ली। कुछ कालोपरान्त श्वेताम्बरों के साथ गिरनार पर उनका विवाद हो गया, जिसमें स्थानीय ब्राह्मी देवी ने स्वीकार किया कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर धर्म ही सत्य है। अंत में वे अपने शिष्य उमास्वति को आचार्य पद प्रदान कर, अनेक दुद्धर तपश्चर्या करते हुये, धर्मध्यान में लीन हो एक दिन स्वर्गवासी हुये।

उपरोक्त दो परम्परागत कथाओं का परिनिरीक्षण—

ये दोनों कथाएँ व्यावहारिक रूप में केवल उत्तरार्द्ध में सहमत है; किन्तु जहाँ तक निवास और पैतृक विषय है उसमें सहमति नहीं है, और अन्तर—बिन्दुओं को एक मत नहीं किया जा सकता है। राजा और रानी के नामों सहित, दूसरी कथा में माता पिता के नामों में वृद्धा द्वारा बालक को सोते समय सुनाई जाने वाली कहानियों जैसी यंत्रवत् कृत्रिमता है। इन परम्परागत कथाओं में पायी जाने वाली कुछ घटनाओं को इन परम्पराओं की यथार्थता पर प्रकाश डालकर उनमें गर्भित सत्य को सिद्ध या असिद्ध करने की अपेक्षा उनका आलोचनात्मक परिनिरीक्षण आवश्यक है।

यह प्रचलित है कि कुन्दकुन्द के विदेहक्षेत्र गये थे, का सबसे पहला निर्देश देवसेन(35) के दर्शनसार में प्राप्त हुआ है, जो विक्रम की मृत्यु के 990 वर्ष पश्चात् लिखा गया है। उन्होंने बतलाया है कि मुनिराज पद्मनन्दि को श्रीमन्धर स्वामी के केवलज्ञान से बोध प्राप्त हुआ था। प्रसिद्धकथान्यायेन के प्रमाणाधार पर जयसेन ने अपनी पञ्चास्तिकाय पर लिखी टीका के प्रारम्भ में कथन किया है कि कुन्दकुन्द व्यक्तिगत रूप से पूर्व—विदेह गये थे। जहाँ उन्होंने श्रीमन्धर स्वामी की वन्दना कर बोध प्राप्त किया था। श्रवणबेलगोळ के शिलालेखों से, जिनमें से अधिकांश 12 वीं ईस्वी सदी के अथवा ऐसे ही हैं, हमें ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द का धर्ममय चरित्र उत्कृष्ट होने से उन्हें वायु में गमन करने की अतिशय पूर्ण (आकाशगामी) शक्ति प्राप्त थी,(36) और यह

भी कि वे पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर वायु में गमन करते थे।(37)उनकी अतिशयपूर्ण सामर्थ्य का कवितारूप में विवरण दिया गया है कि वे अंतरंग एवं बहिरंग रूप में बिलकुल (काषायिक) धूलि से अछूते थे, जबकि पृथ्वी, धूलि का निवास है।(38)इस प्रकार उपलब्ध पुरालेखीय अभिलेख केवल उनके अतिशय पूर्ण सामर्थ्य का उल्लेख करते हैं, और विदेहभूमि में उनके जाने के सम्बंध में मौन हैं श्रवणबेलगोळ 1128 ईस्वी का शिलालेख कुन्दकुन्द को चारणों के सुन्दर चरणकमलों का भ्रमर वर्णित करता है; इससे कुन्दकुन्द का चारणों से कुछ सम्बन्ध सूचित होता है। यह परम्परा न केवल कुन्दकुन्द के विदेहक्षेत्र जाने का समारोप करती है किन्तु उमास्वाति और पूज्यपाद को भी। उमास्वति के संबंध में भी कहा जाता है कि एक बार वे श्रीमन्धर तीर्थंकर से जैन सिद्धांत पर अपनी शंकाएं समाधानित करने हेतु अपनी अतिशय पूर्ण शक्ति से वायु में गमन कर विदेह क्षेत्र पहुँचे। मार्ग मे उनकी मयूरपिच्छिका गिर गयी; तब उन्होंने कार्य चलाने हेतु आकाश में उड़ते हुये गृद्ध के पंखों को ग्रहण किंया; इसीलिये वे गृद्धपिच्छ कहलाये। (39) देवचन्द्र (1770–1841 ईस्वी) ने अपने ''राजावळि–कथे'' में पूज्यपाद के संबंध में समान विवरण दिया है, अंतर यह है कि वे अपने पैरों में किसी औषधि का लेप लगाने से प्राप्त शक्ति के कारण विदेहक्षेत्र तक गमन करते पहुंच सके।(40)कुछ शिलालेखों में पूज्यपाद को एक महान् अतिशयपूर्ण वैद्य के रूप में पूज्य माना है जिनकी पूजा वनदेवता भी किया करते थे।(41) श्रवणबेलगोळ का 7 जुलाई 1432 ईस्वी का शिलालेख उपरोक्त परम्परा का निर्देश करता है कि पूज्यपाद के अंग विदेह क्षेत्र के जिन को नमस्कार करने से पवित्र हो गये थे।(42)इस परम्परा की प्रामाणिकता संदेहास्पद हो जाती है, क्योंकि वह बिना किसी भेदभाव के कुन्दकुन्द, उमास्वाति एवं पूज्यपाद को समारोपित है। ऊपर दिखाई देता है कि कुन्दकुन्द और उमास्वाति में बहुधा संभ्रान्ति हो जाती है; और यहाँ इस परम्परा के संदर्भ में उनकी सूची में पूज्यपाद को जोड़ दिया गया है। इस प्रसंग में पुरालेखीय साक्ष्य अति निर्बल है, और श्रवणबेलगोळ का 1432 ईस्वी का शिलालेख बतलाता है कि वे पूज्यपाद ही थे जो विदेहक्षेत्र पहुँचे थे। जो भी हो, मैं यह कहने के लिये लालायित हूँ कि इस परम्परा का परिणामपूर्णउद्गम **प्रवचनसार** की तीसरी गाथा है, कि कुन्दकुन्द ने यहाँ से विदेहक्षेत्र में विराजमान श्रीमन्धर स्वामी को नमस्कार किया था और यह कि वे परिणामस्वरूप उस क्षेत्र में पहुँचे; वहाँ, उस गाथा में, उन्होंने मानुषक्षेत्र मे वर्तमान अरिहंतों को नमस्कार किया है।

गिरनार पर्वत पर उनका श्वेताम्बरों से हुए विवाद के संबंध में तथा ब्राह्मी की अनुवर्ती स्वीकृति कि 'दिगम्बरों का निर्ग्रन्थ पंथ ही सत्य है' के संबंध में इस अधर परम्परा से कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। किन्तु आपातृरूप से यह देखा जा सकता है कि शुभचन्द्र (लगभग 1516–56 ईस्वी) ने इसे अपने **पाण्डवपुराण** में निदिष्ट किया है,(43)तथा यही गुर्वावली में भी उल्लिखित है।(44)

कुन्दकुन्द की गुरुपरम्परादि–

कुन्दकुन्द अपनी गुरुपरम्परा के संबंध में उस अभिप्राय से मौन हैं जिस अभिप्राय से पश्चात्कालीन ग्रंथकारों ने अपनी आध्यात्मिक वंशावली को दिया है। **बोधपाहुड** के अंत में

उल्लेख करते हैं कि उसे भद्रबाहु के शिष्य ने रचा है, किन्तु इसके संबंध में बाद में कहेंगे। इस प्रसंग में शिलालेख भी अधिक सहायक नहीं हैं। नन्दि–संघ की गुर्वावली के अनुसार, कुन्दकुन्द जिनचन्द्र उत्तराधिकारी थे, जो माघनन्दि के उत्तराधिकारी थे। जिनसे नन्दि–संघ की पट्टावली प्रारम्भ होती है। (45)किन्तु इस पट्टावली पर अत्यधिक विश्वास करते हुये यह कहना कि कुन्दकुन्द जिनचंद्र के शिष्य थे, अधिक समाश्वासित नहीं है। जयसेन ने पञ्चास्तिकाय की अपनी टीका के प्रारम्भिक कथन में कहा है कि कुन्दकुन्द कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। इस कुमारनन्दि के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। मथुरा के शिलालेख में उच्चनागरी शाखा के किसी कुमारनन्दि का उल्लेख है;(46)और किसी अन्य कुमारनन्दि का उल्लेख 776 ईस्वी के देवरहल्लि शिलालेख में मिलता है।(47)विद्यानंद ने अपने ग्रंथ पत्रपरीक्षा में किन्हीं कुमारनन्दि भट्टारक के ग्रंथ वादन्याय में से तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं।(48)किन्तु इनमें से कोई भी कुन्दकुन्द के गुरु के रूप में, किसी भी संकेत के अभाव में, नहीं पहचाने जा सकते हैं । पहचान के लिये मात्र नाम की समानता को कठिनाई से आधार माना जा सकता है, क्यों कि विभिन्न कालों में उसी नाम वाले अनेक जैन मुनि एवं गुरु हुये है। (49) जैन संघों, गणों और गच्छों का इतिहास अभी भी अस्पष्ट पथ है जिस पर शीघ्र प्रकाश डालने की आवश्यकता है।(50) साथ ही कुन्दकुन्द के गण आदि के संबंध में विश्वस्त सूचना नही मिली है। द्राविड़–संघ, नन्दिगण और अरुङ्गलान्वय, और मूलसंघ, देशीगण, कुन्दकुन्दान्वय और पुस्तक–गच्छ, वक्रगच्छ या सरस्वती–गच्छ के गुरुओं की पारम्परिक सूचियो में,प्रारम्भ में पूज्यनीय रूप से कुन्दकुन्द का नाम है।(51) कुन्दकुन्द की मान्यता मूलसंघ के नायक (52) के रूप में है, इस पद का दिगम्बरों द्वारा इस दृष्टिकोण से दावा किया जाता है जो जैन आम्नाय को दिगम्बरो और श्वेताम्बरों में विभक्त हो जाने से संबंधित है। गुरुओं की विभिन्न गुर्वावलियों मे, पुनरावृत्त मे बहुधा कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख, स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि कुन्दकुन्द के कुछ कालोपरान्त जैन गुरुओं की गुर्वावली प्रारम्भ हो गयी थी।

2. कुन्दकुन्द की तिथि

समस्या तक हमारी पहुँच–

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और बाधक समस्या कुन्दकुन्द की तिथि सम्बन्धी है, जो कुछ विद्वानों द्वारा संभाली तो गयी है, फिर भी उस पर विभिन्न साहित्यिक एवं पुरालेखीय अभिलेखों के सापेक्ष मूल्यांकन के पश्चात् न्यायिक विचार करना आवश्यक है। प्रारम्भिक रूप में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रकट साक्ष्य सहित विभिन्न अभिमतों का सारवृत्त लेना आवश्यक है।

कुन्दकुन्द की पारम्परिक तिथि–

कुछ पट्टावलिसूचियों द्वारा प्रतिरूपित जैनो का वर्तमान पारम्परिक दृष्टिकोण बतलाया है कि कुन्दकुन्द 33 वर्ष की आयु में लगभग 8 ईस्वी पूर्व, विक्रम सम्वत् 49 में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये; 52 वर्ष तक आचार्य रहे और लगभग 85 वर्ष में स्वर्गारोहि हुये; वर्षों का विवरण विभिन्न पट्टावलियो की हस्तलिपियो में अलग-अलग है। होएर्नले (Hoernle) द्वारा देखी गयी एक हस्तलिपि E की पट्टावली उनके आचार्य पद को विभूषित करने का वर्ष विक्रम संवत् 149, अर्थात् 92 ईस्वी बतलाती है।(53) एक अन्य परम्परानुसार, जो किसी अज्ञात लेखक द्वारा उद्धृत एक गाथा मे **विद्वज्जनबोधक** में प्रकाशित हुई है, कुन्दकुन्द वीर के 770 वर्ष पश्चात् अर्थात् 243 ईस्वी में हुये (जातः); गाथा अस्पष्ट रूप से कुछ और भी बतलाती है कि कुन्दकुन्द उमास्वाति के समकालीन थे।(54)यह प्रथम परम्परा है जो अधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित है।

पंडित प्रेमी द्वारा प्रस्तावित तिथि–

पंडित प्रेमी का अभिमत है कि कुन्दकुन्द संभवतः ईसा की तृतीय सदी के द्वितीय चरण में हुये, अथवा अधिक निश्चित रूप से उन्हें ईसा की द्वितीय सदी के मध्य से पूर्व की तिथि का नही माना जा सकता। (55)उनके द्वारा इंद्रनन्दि के **श्रुतावतार** की प्रामाणिकता पर आधारित निकाला गया विवरण, अतिरिक्त सामग्री के साथ यह है:– महावीर के निर्वाण के पश्चात् 3 केवली 62 वर्षो तक रहे; 5 श्रुतकेवली 100 वर्षों तक रहे, 11 दशपूर्वी 183 वर्षों तक रहे, 5 एकादश अंगी 220 वर्षों तक रहे; और 4 एक अंगी 118 वर्षो तक रहे। इस प्रकार ईसा से 527 वर्ष पूर्व महावीर निर्वाण के पश्चात् अंग ज्ञान 683 वर्षों (56) तक रहा। तत्पश्चात् **श्रुतावतार** के अनुसार अंगों के और पूर्वों के एकदेशज्ञाता आरातीय आचार्य हुये; उनके पश्चात् अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन हुये; धरसेन **महाकर्मप्राभृत** के ज्ञाता थे, जो अग्रायणीयपूर्व का एक अंश है। धरसेन ने यह ज्ञातकर कि उनकी मृत्यु निकट है और ग्रंथज्ञान विलुप्त हो जाने का भय है, वेणाकतटीपुर से दो प्रतिभासम्पन्न एवं श्रुत के ग्रहण और धारण में समर्थ मुनियों को आमंत्रित किया, जो बाद में पुष्पदन्त एवं भूतबलि के नाम से जाने गये और जिन्हें उन्होंने श्रुत-ज्ञान-ग्रंथ

पढ़ाया। पुष्पदंत और भूतबलि ने **कर्म-प्राभृत** को लघुरूप में लाकर **षट्खंडागम** की रचना की, जो परिणाम स्वरूप लेखबद्ध हुआ। कथा का दूसरा सूत्र बतलाता है कि आचार्य गुणधर ने **कषाय-प्राभृत** के मूलसूत्र एवं विवरण गाथाएँ नागहस्ति एवं आर्यमंक्षु को पढ़ाई थीं। यतिवृषभ ने इनका अध्ययन उन्हीं से किया था। और छः हजार से अधिक **चूर्णिसूत्र** इन पर रचे थे। यतिवृषभ से उन्हीं का अध्ययन उच्चारणाचार्य द्वारा किया और उनके द्वारा द्विगुणित वृत्ति रची गयी। इस प्रकार **कषाय-प्राभृत** गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्य के परिश्रम का फल था जो लेखबद्ध रचना के रूप में प्रकट हुआ। अब यह सिद्धांत, जिसमें कर्म–प्राभृत एवं कषाय प्राभृतनिहित था, कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि को परम्परा से प्राप्त हुआ। और उन्होंने **षट्खण्डागम** के प्रथम तीन खंडों पर बारह हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखी । इससे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द वीर के 683 वर्ष पश्चात् हुये।

पंडित प्रेमी धरसेन एवं अन्य से लेकर उच्चारणाचार्य तक अन्वीक्षात्मक लघु अवधियाँ नियत करते हुये, इस परिणाम पर पहुँचते है कि कुन्दकुन्द विक्रम संवत् की तृतीय सदी के अंतिम चरण में हुये। प्रेमी जी के द्वारा अपनाया गया दूसरा तर्क इस परम्परा पर आधारित है कि कुन्दकुन्द का उज्जयन्त–गिरि पर श्वेताम्बरो से विवाद हुआ था। कुन्दकुन्द की कृतियों, विशेषतः **सुत्त-पाहुड** से हमे ज्ञात होता है कि जैन आम्नाय कुन्दकुन्द के समय से पूर्व ही दिगम्बरों एवं श्वेताम्बरों में विभक्त हो चुका था। देवसेन के **दर्शनसार** के अनुसार यह विभाजन राजा विक्रम की मृत्यु के 136 वर्ष पश्चात् हुआ । प्रेमी ने **दर्शनसार** मे प्रदत्त तिथि को शालिवाहन शक रूप में लेकर श्वेताम्बर भेद का उद्गम (136+135)271विक्रम संवत् में समझ लिया, उन्होने परिणाम निकाला कि कुन्दकुन्द, इसीलिये उसके पश्चात् हुये होंगे, अर्थात् विक्रम सम्वत् की तृतीय सदी के अंतिम चरण मे हुये होंगे, जो **श्रुतावतार** के साक्ष्य से पहुँचे परिणाम के साथ मेल खा गया होगा। जो कुछ हो, उनके दृष्टिकोण के अनुसार, कुन्दकुन्द वीर के 683 वर्ष पश्चात् अर्थात् 156 ईस्वी सन् के पूर्व नहीं हो सकते।

डा. पाठक के द्वारा प्रस्तावित तिथि–

द्वितीय अभिमत पाठक का है।(57)उनका विश्वास राष्ट्रकूट राजवंश के गोविन्द राज III के राज्यावधि के शक 719 (अर्थात् 797 ईस्वी) एवं अन्य शक 724 (अर्थात् 802 ईस्वी) के दो ताम्रपत्रीय लेखो पर आधारित है इन ताम्रपत्रीय (शिला) लेखों का संदर्भ पुष्पनन्दि के शिष्य प्रभाचन्द्र समकालीन गुरु से है, जो बारी से कुन्दकुन्दान्वय के कोई तोरणाचार्य के शिष्य (**कुन्दकुन्दान्वयोद्भव**) थे। के.बी. पाठक ने तर्क दिया है कि यदि प्रभाचन्द्र लगभग शक 719 में हुये तो, उनके दादा–गुरु, तोरणाचार्य लगभग शक 600 में हुये होंगे; और क्योंकि तोरणाचार्य लगभग शक 600 में माने जाते हैं तो जिनके अन्वय में तोरणाचार्य हुए उन कुन्दकुन्द को लगभग 750 वर्ष पूर्व अर्थात् लगभग शक 450 (अर्थात् 528ईस्वी सन्) में हुआ माना जा सकता है। इस तर्क को वे अन्य तर्कों के द्वारा समर्थित करते हैं। शक संवत् 500 में जो चालुक्य राजा कीर्तिवर्मन् महाराज राजगद्दी पर थे, उन्होंने बादामि को परास्त कर कदम्ब राजवंश को अपहृत किया और इस प्रकार, इसलिए, यह निर्णीत होता है कि कदम्ब राजवंश के श्रीमृगेशवर्मन् प्रायः 50 वर्ष

पूर्व, अर्थात् शक 450 में राज्य कर रहे थे।

पञ्चास्तिकाय की अपनी कन्नड़ी टीका में बालचन्द्र और उसकी अपनी संस्कृत टीका में जयसेन कहते हैं कुन्दकुन्द ने इस कृति को शिवकुमार महाराज को बोध देने के लिये रचा था, जो कदम्ब राजवंश के शिवमृगेशवर्मन् के समान दिखाई देते हैं। इस प्रकार कुन्दकुन्द की तिथि, उनके शिवमृगेशवर्मन् के समकालीन होने के कारण शक 450 अर्थात् 528 ईस्वी प्राप्त होती है।

प्रोफेसर चक्रवर्ती द्वारा प्रस्तावित तिथि—

तीसरा अभिमत प्रोफेसर चक्रवर्ती का है। (58) वे होएर्नले (Hoernle) द्वारा पट्टावलियों से निर्धारित उनकी आचार्य पद पर आसीन होने की तिथि 8 ईस्वी पूर्व से प्रारम्भ करते हैं, और कुन्दकुन्द के जन्म की तिथि 52 ईस्वी पूर्व निधारित करते हैं। आगे, पाठक द्वारा प्रस्तावित तिथि के विरोध मे वे, पारिस्थितिक साक्ष्यों से इस तिथि को समर्थन देने का प्रयास करते हैं। परम्परागत कथाओं से, कि कुन्दकुन्द दक्षिण—देश के थे, निष्कर्ष निकालते हुये वे इस तथ्य पर जोर डालते हैं कि कुन्दकुन्द द्राविड़-संघ के थे। **मंत्र-लक्षण** की एक अप्रकाशित हस्तलिपि से वे यह संकेत निकालते है कि दक्षिण मे मलय में, हेमग्राम में, एक महान और प्रतिभावान् एलाचार्य नामक मुनिराज हुए जो द्राविड़-गणाधीश थे। (59) प्रोफेसर चक्रवर्ती संभावना व्यक्त करते है कि ये सभी संदर्भ द्राविड़ देश में खोजे जा सकते हैं, इसलिए कुन्दकुन्द अवश्य ही वहाँ के रहे होंगे,कुन्दकुन्द का दूसरा प्रसिद्ध नाम एलाचार्य रहा होगा। जैन परम्परा के अुनसार एलाचार्य सुविख्यात तमिल प्रतिष्ठित थिरुक्कुरल के ग्रंथकार हैं; उन्होंने उसे रचा और अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को दे दिया जिन्होंने उससे मदुरा संघ को परिचित कराया। तिरुवल्लुवर के साहित्यिक सरक्षक एलालसिंघ माने जाते है, जो एलाचार्य का दूसरा नाम रहा हो। जैन एलाचार्य द्वारा **कुरल** ग्रंथ की रचना होना अन्य ऐसे तथ्यों से संगत है, जैसे **कुरल** के नैतिक स्वर, और कृषि की प्रशंसा जिस व्यवसाय को दक्षिण के उस जमींदार श्रेष्ठिवर्ग, वल्लुवों, द्वारा उत्कृष्ट मान अपनाया गया, जिसने द्राविड़ देश में सबसे पहले जैन मत को अपनाया और उसके अनुयायी बने। (**शिलप्पडिगारम्** और **मणिमेखलइ** से भी पूर्व रचित) **कुरल** के ग्रंथकर्ता को एलाचार्य अथवा कुन्दकुन्द के रूप में निर्धारण करना **कुरल** के संभाव्य युग से बिलकुल भी असंगत नहीं है; इस निर्धारण से पट्टावलियों की परम्परागत तिथि को अधिक संभाव्यता प्राप्त होगी कि कुन्दकुन्द ईसा की प्रथम सदी के प्रारम्भ में हुये । द्राविड़ संघ के नायक होने के नाते, कुन्दकुन्द ने अहिंसा धर्म का कड़ाई से पालन करने वाले एवं प्राचीन तमिल साहित्य वाले वेल्ललों के कल्याण हेतु तमिल भाषा में ग्रंथ रचे होंगे। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में प्रोफेसर चक्रवर्ती शिवकुमार महाराज, जो कुन्दकुन्द के राज्यशिष्य थे, की पहचान इस रूप में निर्धारित करना चाहते हैं कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ उनके लिये लिखे, जैसा कि प्राभृत—त्रय के सभी (?) टीकाकार कहते हैं। प्रोफेसर चक्रवर्ती पाठक की इस स्थिति को स्वीकार करते हैं कि आम्नाय श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों में विभक्त हो गया था, और संभवतः सामान्य जनता विष्णु-पंथ के वेदान्तिक रूप की अनुयायी थी; किन्तु वे लगभग पाँचवीं सदी के कदम्ब राज्यवंश के श्री विजय शिवमृगेशमहाराज को शिवकुमार महाराज के रूप में पहचान किये जाने का विरोध इन आधारों पर करते हैं कि (एक तो) कदम्ब

राज्यवंश समय मे इतना बाद का है कि वह कुन्दकुन्दकालीन नहीं हो सकता है, और (दूसरे) यह कि इस तथ्य का कोई साक्ष्य नही है कि कदम्बीगण प्राकृतभाषा के जानकार रहे होंगे जिसमें कि कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ लिखे। आगे वे प्रस्तावित करते हैं कि शिवकुमार महाराज वही हों जो राजा शिवस्कन्ध रूप मे थे, जो पल्लव राजवंश के शिवकुमार का मात्र दूसरा रूप है। वह युवमहाराज के रूप में भी प्रकट हैं। जो विलक्षण रूप से कुमारमहाराज के साथ तादात्म्य रखता है। अन्य परिस्थिति साक्ष्य भी अनुकूल हैं। थोण्डमण्डलम् अथवा थोण्डइनाडु पर राज्य करने वाले पल्लवों की राजधानी काँजीपुरम् थी जिसे विद्वानों का देश कहा जाता है। उसके महानगर ने कुरल आदि के ग्रंथकार जैसे अनेक द्राविड़ विद्वानो को आकर्षित किया ही था। काँजीपुरम् के राजागण विद्या के संरक्षक थे: क्योंकि ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर आठवीं शताब्दी तक, समन्तभद्र से लेकर अकलंक तक को हम उस क्षेत्र के आसपास जैनधर्म के प्रसार के संबंध में सुनते रहते हैं। अतः यह असंभाव्य नहीं है कि इस सन् की प्रथम सदी में काँजीपुरम् के पल्लव राजा जैनधर्म के संरक्षक थे अथवा स्वयं जैनमत के अनुयायी थे। आगे मयिदवोलु दानपत्र प्राकृत भाषिका मे है, और उसे काँजीपुरम् के शिवस्कन्धवर्मन् ने प्रचलित किया है। दानपत्र के प्रारम्भ मे सिद्धम् का उपयोग और मथुरा के शिलालेखों से उसका सन्निकट सदृशताएं शासक के जैन झुकावो को इंगित करती है। अनेक विभिन्न पुरालेखीय अभिलेखों से भी यह स्पष्ट है कि इन नृपो की राजभाषा प्राकृत थी। इस प्रकार प्रोफेसर चक्रवर्ती निष्कर्ष निकालते है कि कोई ऐसे शिवकुमार महाराज के लिये कुन्दकुन्दाचार्य ने अपना प्राभृतत्रय लिखा, जो संभाव्यतम रूप से वही थे जो पल्लव राजवंश के शिवस्कन्धवर्मन थे

तिथि के संबंध में पंडित जुगलकिशोर का दृष्टिकोण—

पंडित जुगलकिशोर ने समन्तभद्र (60) पर लिखे अपने श्रेष्ठ विशेष-निबंध में कुन्दकुन्द की तिथि को निर्धारित करने के लिये विभिन्न साक्ष्यो के पक्ष-विपक्ष का विवेचन किया है, और विभिन्न संभाव्यताओं को इस दृष्टि से तौला है कि कुन्दकुन्द की तिथि उन्हे समन्तभद्र की तिथि को निर्धारित करने मे सहायक होगी। पट्टावलियो में दी गयी कुन्दकुन्द की तिथि को वे असंतोषजनक मानते है, क्योंकि पट्टावलियाँ स्वयं अपने आप से तथा अन्य स्रोतो से प्राप्य अन्य सूचना -अंशों से बहुधा भिन्न होती है। प्रेमी जी के समान, उन्होंने इंद्रनन्दि के **श्रुतावतार** में दिये गये कथन के पूर्ववर्ती कालक्रमिक विवरण का साधन किया है, कि कुन्दकुन्द ने **षट्खंडागम** के प्रथम तीन खंडो पर कोई टीका लिखी थी, और व्यवहारतः निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द वीर के 683 वर्ष पश्चात् अर्थात् 156 ईस्वी सन् के पूर्व कुन्दकुन्द नही हो सकते है; और अनुवर्ती रूप से उन्होने पट्टावलियो की विभिन्न विसंगतियाँ भी सूचित की हैं। विक्रम संवत् के वैकल्पिक प्रारम्भो की सम्भव छूटो को देते हुए वे पूर्वतर सीमा मान सकते हैं कि कुन्दकुन्द 133 विक्रम संवत् अर्थात् 76 ईस्वी के पश्चात् हुये। तत्पश्चात् वे कुन्दकुन्द द्वारा शिवकुमार महाराज के लिये लिखने की परम्परा के आधार पर कुन्दकुन्द की तिथि निकालने की संभवता का विवेचन करते है। वे सूचित करते हैं कि उक्त परम्परा पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता है क्योकि कुन्दकुन्द ने इस विषय में कुछ भी नही कहा है। यदि परम्परा को मान लिया जाये, तो वे प्रोफेसर चक्रवर्ती

द्वारा प्रस्तावित यह निर्धारण स्वीकार करते हैं कि पाठक द्वारा प्रस्तावित तिथि 528 ईस्वी का निर्धारण साधित करने पर अनेक जैन ग्रंथकारों का सापेक्ष कालानुक्रम अस्तव्यस्त हो जाता है, और यह कि पाठक द्वारा प्रस्तावित कालानुक्रमिक निष्कर्ष के साथ उन शिलालेखों में तदन्वय की व्याख्या गलत हो जाती है। क्योंकि 15 वीं ईस्वी सदी में हुये सकलकीर्ति के गुरु पद्मनन्दि को भी तद (कुन्दकुन्द) अन्वय--धुरिणा पद संज्ञा दी गयी है। पंडित जुगलकिशोर इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि शक 388 के मर्करा ताम्रपत्रों में कुन्दकुन्दान्वय का पहले ही उल्लेख हो चुका है। वे इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं कि कुन्दकुन्द का नाम एलाचार्य था। पट्टावलियों में दी गई तिथि श्रुतावतार में अभिलेखबद्ध परम्परा के विभिन्न पक्षों के विरुद्ध जाती है। अंत में वे इस तथ्य को लेते हैं कि कुन्दकुन्द ने स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहा है, जिन्हें वे द्वितीय भद्रबाहु के रूप में मान लेते हैं, जो पट्टावलियों के अनुसार वीर के 589 या 672 वर्ष पश्चात् हुये होंगे; यह अवधि उन्हें परिणामतः इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है कि कुन्दकुन्द वीर के 608 से लेकर 692 पश्चात् अर्थात् लगभग 81 से 165 ईस्वी में हुये होंगे। वे सोचते हैं कि यह निष्कर्ष, अनेक अस्पष्ट विवरणों को समझा देता है।

तथ्यों का सार—

मैंने उपरोक्त पक्षों का सारांश मात्र यह देखने के लिये निकाला है कि विभिन्न पक्षों में उपयोग करते हुए विभिन्न विद्वान् कौन सी संभाव्य तिथि पर पहुँचे हैं। प्रमुख परम्परागत तथ्य निम्नलिखित हैं:—

1. मूल जैनधर्म पंथ को श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में विभक्त होने के पश्चात् कुन्दकुन्द हुये।

2. कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं।

3. श्रुतावतार की प्रामाणिकता के आधार पर कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि को कर्म और कषाय--प्राभृत सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त हुआ, और उन्होंने षट्खंडागम के अर्द्धभाग पर विशाल टीका लिखी।

4. जयसेन एवं बालचन्द्र की प्रामाणिकता के आधार पर कुन्दकुन्द किन्हीं शिवकुमार महाराज के समकालीन कहे गये हैं।

5. कुन्दकुन्द तमिल शास्त्र कुरल के रचयिता हैं।

हम इन बिन्दुओ की क्रमशः छानबीन करेंगे और बाद में देखेगे कि कुन्दकुन्द की तिथि निर्धारण के लिये कौन से अन्य साक्ष्य उपलब्ध हैं।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर विभाजन (संघभेद) से कुन्दकुन्द की पश्चाद्वर्तिता—

जैनधर्म पंथ का दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में विभाजन हो जाने के कुन्दकुन्द के पश्चात्वर्तित्व संबंधी दो अभिमत नहीं हो सकते, क्योंकि उन्होंने यहाँ वहाँ सैद्धान्तिक स्थितियों पर कटु समालोचना की है, जो पश्चात्वर्ती साहित्य में श्वेताम्बर धारणाओं के निश्चितरूप से अभिमत हैं, उदाहरणार्थ स्त्रियों के लिये मुक्ति, मुक्ति प्राप्त करने के लिये साधु को वस्त्र का उपयोग अथवा वस्त्रों की तुच्छता, आदि (61) इस विभाजन के बीज, मैं जहाँ तक जैन धर्म के

इतिहास की धाराओं को समझ सका हूँ, भद्रबाहु श्रुतकेवली के दिनों के समान पूर्व तक जाते हैं, किन्तु उसके पूर्व नहीं, जो मगध में भीषण दुर्भिक्ष के समय साधुसंघ को लेकर दक्षिण की ओर प्रवास कर गये थे। (62)दुर्भिक्ष एवं प्रवास अवश्य ही तथ्य रहे होंगे, क्योंकि इन बिन्दुओं पर शवेताम्बर और दिगम्बर दोनों सहमत हैं। दोनों आम्नायों द्वारा सुरक्षित महावीर के बाद की पदानुक्रमसूचियों की तुलना करने पर, जो उभयनिष्ठ रूप सें अंतिम गुरु अभिस्वीकृत हैं वे भद्रबाहु हैं। (63)यह स्पष्ट संकेत है कि उनके समय में मुख्यधारा दो धाराओं में प्रशाखित हो गयी। दुर्भिक्ष के पश्चात्-प्रभावों से दृष्ट पारिस्थितिक साक्ष्य भी जैन पंथ के ऐसे विभाजन के अनुकूल हैं। इस प्रकार इस (विभाजन) के निश्चित बीज, चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन भद्रबाहु के दिनों में, कहिये लगभग ईसा से तीसरी सदी पूर्व में बो दिये गये होंगे। ऐसी पश्चात्‌वर्ती परम्पराएँ, कि दिगम्बरों के कथन के अुनसार श्वेताम्बर आम्नाय विक्रम के 136 वर्ष पश्चात् प्रकट हुआ, और श्वेताम्बरों के कथनानुसार दिगम्बर आम्नाय विक्रम के 139 वर्ष पश्चात् प्रकट हुआ।, (64) मात्र यह बतलाती हैं कि इस काल तक, अर्थात् प्रथम ईस्वी सदी के अंत तक सैद्धांतिक मतभेद स्पष्ट रूप से तीव्र हो चुके थे, जहाँ तक इन मतभेदों की लोकप्रिय प्रशंसा का संबन्ध है। इस प्रकार पाठक और प्रेमी के द्वारा किया गया निरीक्षणसंकेत, कि कुन्दकुन्द श्वेताम्बर झुकावों को निर्दिष्ट करते हैं, कुन्दकुन्द की तिथि निर्धारण में अधिक सहायक नहीं हो सकते हैं; और अन्य संकेत कि सामान्य जनता में विष्णु पूजा लोकप्रिय थी इसे मान्यता नही दी जा सकती है, जबकि समयसार गाथा क्रमांक 322 की यथोचित प्रसंग के प्रकाश में शुद्ध व्याख्या की जाये।

भद्रबाहु के शिष्य के रूप में विवेचित कुन्दकुन्द—

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि कुन्दकुन्द स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहते हैं, जिन्हें वे जयवन्त कहते हैं; (बोधपाहुड) संदर्भित गाथाएँ इस प्रकार हैं:

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स।।61।।
बारस अंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयऊ।।62।।

इन गाथाओं से दो तथ्य स्पष्ट हैं कि कुन्दकुन्द स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य निर्दिष्ट करते हैं, और ये भद्रबाहु सुयणाणि योग्यता को प्राप्त हैं, ऐसे पूज्य आचार्य हैं जिन्हें यथार्थ ग्रंथ एवं अर्थ ज्ञात था और जो द्वादश अंग और विपुल विस्तार वाले चौदह पूर्वांगों के ज्ञाता थे। लगभग 15 वी सदी के अंत में हुये श्रुतसागर इन दोनों गाथाओं को अपनी संस्कृत टीका में प्रवेश देते हैं; और जब तक युक्तियुक्त हस्तलिपि साक्ष्य पर नहीं बतलाया जाता है कि ये गाथाएं प्रक्षिप्त लक्षण युक्त हैं, तब तक हम उन्हें कुन्दकुन्द द्वारा रचित मानने में न्यायसंगत हैं और उनका विवेकसम्मत उपयोग कालानुक्रमिक अध्ययन के लिये करते हैं। दिगम्बरों की पट्टावलियों में दो भद्रबाहु दिये गये हैं, एक श्रुतकेवली भद्रबाहु और अन्य गौण या एक अंगी भद्रबाहु; इसलिये यह देखना आवश्यक है कि किस भद्रबाहु को निर्दिष्ट किया गया है। पंडित जुगलकिशोर उद्धरण देते हुये मात्र प्रथम गाथा पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, और संभवतः वे द्वितीय गाथा की उपेक्षा कर देते हैं; और उनका

यह निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द द्वारा उल्लेखित भद्रबाहु वे हैं जो (वीर के 589–612 पश्चात् अर्थात्) 62–85 ईस्वी में हुये भद्रबाहु द्वितीय हैं। यह एक अतिसूक्ष्मता से जानने योग्य पहचान है, किन्तु उक्त द्वितीय गाथा के दृष्टिकोण में इसका परीक्षण करना होगा, जिसमें भद्रबाहु विषयक वास्तविक सूचना दी गयी है। द्वितीय गाथा में आये विशेषण स्पष्टतः बतलाये हैं कि ये भद्रबाहु अन्य कोई नहीं वरन् श्रुतकेवली भद्रबाहु ही हैं: भद्रबाहु द्वितीय **बारसअंगवियाणम्** और **चौदसपुब्बंग** आदि विशेषणों के यथार्थधारक नहीं हो सकते हैं, कम से कम उनके समकालीन द्वारा, यदि, जैसा कि पंडित जुगलकिशोर ने प्रस्तावित किया है, कि कुन्दकुन्द उनके शिष्य मान लिये जायें; और उपर्युक्त विशेषणों के प्रकाश में, मेरे विचार से विशेषण सुयणाणि का अर्थ **सुयकेवली** के रूप में लिया जाना चाहिये। यदि निर्दिष्ट भद्रबाहु वह श्रुतकेवली के रूप में हैं तो स्वभावतः यह बिलकुल भंलीप्रकार निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द उनके शिष्य होने के नाते, अथवा शिष्य शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष शिष्य के सिवाय कुछ और होना चाहिये। मेरा आग्रह है कि शिष्य के शब्द को **परम्पराशिष्य** के रूप में लिया जाये, और अन्यत्र इसके समानान्तर रूप का नास्तित्व नहीं है। जैन ग्रंथकारों के साथ, **गुरु** और **शिष्य** का अर्थ आवश्यकीय रूप से प्रत्यक्ष और समकालीन गुरु और शिष्य नहीं है, वरन् उनका अर्थ **परम्परा–गुरु** और **शिष्य** भी हो सकता है। कभी कभी कोई पूर्ववर्ती गुरु का प्रभाव इतना अत्यधिक होता है कि पश्चात्‌वर्ती शिष्य उन्हें अपना गुरु उल्लेखित करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, **उपमितिभव–प्रपत्र–कथा** (906 ईस्वी) के ग्रंथकार सिद्धर्षि ने हरिभद्र को अपना **धर्मप्रबोधकरो गुरु** कहा है; परन्तु विश्वसनीय साक्ष्यों से यह सिद्ध किया गया है कि वे समकालीन भी नहीं थे, हरिभद्र (वस्तुतः) आठवीं सदी के अंतिम चरण के पूर्व हुए। (65) अन्य उदाहरणार्थ, **प्रतिष्ठापाठ** के ग्रंथकार, जयसेन ने स्वयं को कुन्दकुन्दाग्र–शिष्य कहा है (65) किन्तु प्राचीन हस्तलिपि की दुर्लभता से, उस ग्रंथ की विषयवस्तु और भाषा से, और किसी पूर्ववर्ती परम्परा के अभाव में कि वे कुन्दकुन्द के समकालीन थे, जयसेन के पूज्य नाम वाले कुन्दकुन्द के परम्परा–**शिष्य** के रूप में सशक्त रूप से स्वीकार करना पड़ता है। फिर भी, पारिस्थितिक साक्ष्य ऐसे प्राप्त होते हैं कि कुन्दकुन्द को स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य बतलाने का प्रलोभन क्यों हुआ होगा? भद्रबाहु एक संघ के महान् नायक थे, जिसे वे भौतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण के लिये दक्षिण की ओर ले गये। भद्रबाहु के देहावसान के पश्चात् उनके शिष्यों और प्रशिष्यों ने उन्हें महान्तम गुरु के रूप में सदैव माना होगा; और विशेष रूप से दक्षिण में, मुनि वर्ग ने, एकाकी होने से, परमगुरु भद्रबाहु से अंततोगत्वा समस्त धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकार रूप से प्राप्त किया होगा। अतःआश्चर्य नहीं कि ऐसे कुन्दकुन्द ने, जो सुदूर दक्षिण मे एक एकाकी मुनि वर्ग के नायक थे और जो सदैव मंगलकारी रूप में इस प्रकार स्मरण किये जाते हैं कि जो भी ज्ञान उन्हें उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था, अंततोगत्वा भद्रबाहु से ही प्राप्त हुआ है, स्वयं को अपने ग्रंथों में भद्रबाहु का शिष्य, अर्थात् परम्परागत शिष्य कहा है जो मूल रचनाएं न होकर वस्तुतः वंशागत उपदेश पर आधारित रचनागत लक्षण वाले हैं। किन्तु यह पूछा जा सकता है कि कुन्दकुन्द को भद्रबाहु श्रुतकेवली का प्रत्यक्ष शिष्य क्यों न मानकर उन्हें ईसापूर्व की तृतीय सदी में रखा जाये? इसमें, अनेक कठिनाइयाँ हैं ऐसा मान लेने पर जैसी हम प्रत्याशा रखेंगे, कुन्दकुन्द अंगधारियों की सूचि में नहीं

आते हैं शिष्य शब्द मात्र पर्याप्त नही है कि ऐसा निष्कर्ष निकाला जाये, क्योंकि जैसा ऊपर दिखाया गया है, उसे परम्परा–शिष्य के अभिप्राय रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। मुझे न तो दंतकथासमूह और न ही साहित्यिक जैन परम्परा खंड की कोई ऐसी जानकारी है, जिसमें कुन्दकुन्द को भद्रबाहु श्रुतकेवली का समकालीन बतलाने के लिये किंचित् भी आधार दिया गया हो। और जो भी प्राप्य परम्पराएं हैं वे इस ईसा पूर्व तृतीय सदी तिथि के विरुद्ध जाती हैं।

षट्खंडागमटीका रचयिता के रूप में विवेचित कुन्दकुन्द –

इस परम्परा के संबंध में कि कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने सिद्धांतद्वय का ज्ञान प्राप्त किया और **षट्खण्डागम** (67) के तीन खण्डों पर टीका लिखी, दो विधिसंगत प्रश्न उठाये जा सकते है–प्रथम यह कि क्या कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने **षट्खण्डागम** के किसी भाग पर वास्तव में टीका लिखी है? इस निष्कर्ष की प्रामाणिकता, जो इस परम्परा पर आधारित है कि यदि लोहाचार्य के पश्चात्वर्ती आचार्यों के लिये कुछ वर्ष बाद मान्य कर (कुन्दकुन्द को) वीर के 770 वर्ष पश्चात् न लें, तो कुन्दकुन्द वीर के पश्चात् 683 वर्ष के पूर्व ले सकते है, (वस्तुतः) उपरोक्त दोनो प्रश्नो के सकारात्मक उत्तर मात्र इसी पर आधारित हैं। इस निष्कर्ष को सरलता से पराभूत किया जा सकता है, यदि दो प्रश्नों मे से एक को अस्वीकार किया जाये अथवा संदेहास्पद लक्षण वाला दिखा दिया जाये, यह कारण दिखाकर कि, कोई अन्य परम्परा उसके विरुद्ध जा रही है। कोई परम्परा, सामान्य परिस्थितियों में, परिकल्पना रूप मे तभी स्वीकृत की जा सकती है जब तक कि उसकी यथार्थता और प्रामाणिकता को अन्य किसी मूलभूतरूप से असर्वसम विवरण वाली परम्परा की विद्यमानता द्वारा, और सामान्य मानवीय सूझबूझ की समझ से परे कोई विशेष पृष्ठ–अभिप्राय, दैवी हस्तक्षेप, चमत्कारी घटनाओ आदि के असामान्य विवरणो द्वारा व्यर्थ न सिद्ध किया जाये। अपने कुन्दकुन्द को पद्मनन्दि द्वारा निर्दिष्ट करने वाली परम्परा मेरे विचार से स्वीकृत की जा सकती है। पुरालेखीय अभिलेखों के अनुसार, जैसा ऊपर देखा जा चुका है, हमारे ग्रंथकार का नाम वस्तुतः पद्मनन्दि था। और वे बाद मे कुन्दकुन्द कहलाये। साथ ही इंद्रनन्दि दूसरे नाम को उनके मूल निवास से संयोजित सिद्ध करते हैं। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या कुन्दकुन्द ने **षट्खंडागम** के तीन खंडों पर टीका लिखी? इसे निस्संदेह रूप से विविध कारणों से स्वीकार नही किया जा सकता है। आज कुन्दकुन्द को यह श्रेय देने वाली कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है, न ही मै **धवला** और **जयधवला** टीकाओ में उसके कोई संकेत प्राप्त कर सका हूँ; न ही कोई निर्देश इस टीका के संबंध में बाद के साहित्य मे प्रकाश में लाया गया है। यह परम्परा, न तो अनेक ग्रंथों में लिपिबद्ध हुई है, और न ही बहुधा लोकप्रिय हुई दिखाई देती है; और अंततः इंद्रनन्दि द्वारा अभिलेखबद्ध परम्परा का यह पक्ष विबुधश्रीधर द्वारा स्वीकृत नही किया गया है। वे अपने **श्रुतावतार**(68) में **पंचाधिकार** के चतुर्थखंड मे इस प्रकार कथन करते हैं: सिद्धान्तद्वय परम्परागत रूप से चला आया, और परमगुरु कुन्दकुन्दाचार्य से कुन्दकीर्ति ने सिद्धांत सीखकर **षट्खण्डागम** के प्रथम तीन खण्डो पर बारह हजार प्रमाण से अधिक श्लोक मे **परिकर्म** नामक शास्त्र की रचना की। इस प्रकार संयोग कुन्दकुन्द एवं कुन्द कीर्ति के बीच झूल रहा है और यह निश्चयपूर्वक सरलता से निर्णीत नही हो सकता है, क्योकि परम्परा को अन्य स्रोतों से कोई ठोस आलम्ब नहीं प्राप्त हो रहा है। जहाँ

तक कुन्दकुन्द के दावे का संबंध है, मुझे संदेह है, क्योंकि उनकी प्रतिपादन शैली के बहुभाग में मैं उन्हें उत्साहशील टीकाकार की अपेक्षा सिद्धांत के प्रतिपादकरूप में पाता हूँ। अभी तक प्राप्य उनके ग्रंथों में वह खण्डनमण्डनात्मक उत्साहशीलता सुस्पष्टतः अनुपस्थित है जो समन्तभद्र, जिनभद्र क्षमाश्रमण, सिद्धसेन, पूज्यपाद और मध्ययुगीन टीकाकार दल के अभियान में उपलब्ध है। दोनों परम्पराओं में, फिर भी एक इस बिन्दु पर सहमति है कि षट्खण्डागम की रचना कुन्दकुन्द से पूर्व हुई है, किन्तु यह बिन्दु भी अति अधिक दूरतक खींचा नहीं जा सकता है, जहाँ तक उसका कालानुक्रम मान का सम्बन्ध है,क्योंकि उक्त परम्परा का एक भाग शंकास्पद सिद्ध हो चुका है। साथ ही,जैसा इंद्रनन्दि स्पष्टतः कहते हैं, जहाँ तक इस परम्परा की पूर्ववर्ती कड़ियों की यथार्थता है, वहाँ अधिक अस्पष्टता (69) झलकती है, और विबुधश्रीधर कुछ अनिश्चित हैं जब वे सरलता पूर्वक कहते हैं, **इति परम्परया।** इन परम्पराओं के विवरणों की छानबीन पूर्ण खोज (शोध) हमे और अधिक जागरूक करती है। कि हमें कुन्दकुन्द की ठीक तिथि निर्णीत करने के लिये कितनी और अंधकार मे होल लेना पड़ेगी। अतः यहाँ मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि हम उपर्युक्त परम्पराओं की प्रामाणिकता के विवेचन के आधार पर अत्यधिक आग्रह नहीं कर सकते है कि कुन्दकुन्द वीर के 683 वर्ष के पश्चात् के भी बाद होना चाहिये।

शिवकुमार के समकालीन रूप में विवेचित कुन्दकुन्द—

अब चौथा बिन्दु शासक शिवकुमार महाराज के समकालीन रूप में कुन्दकुन्द होने की संभावना संबंधी है। मैं पंडित जुगलकिशोर की इस टिप्पणी से सहमत हूँ कि कुन्दकुन्द ने ऐसे किसी व्यक्ति का निर्देश नहीं किया है, और न उनके ग्रंथो में इस बात का कोई संकेत ही है; जहाँ तक मैं जानता हूँ, उनके प्रथम टीकाकार अमृतचन्द्र ने किसी भी शिवकुमार महाराज को निर्दिष्ट नहीं किया है। वे केवल जयसेन (लगभग 12 वीं ईसा की सदी के मध्य में) और उनके पश्चात् एवं उनका अनुसरण करने वाले कन्नड़ी टीकाकार बालचन्द्र (70) हैं जो शिवकुमार महाराज का निर्देश करते हैं, जिन्हें प्रबुद्ध करने हेतु, जयसेन कहते है कि कुन्दकुन्द ने अपनी **पञ्चास्तिकाय** रची। **पञ्चास्तिकाय** और **प्रवचनसार** की अपनी टीकाओ में जयसेन ने शिवकुमार अथवा—महाराज (71) के नाम का उल्लेख किया है। किन्तु **प्रवचनसार** के प्रारंभिक अवतरण के अनुसार कभी—कभी शिवकुमार का व्यक्तित्व अतिसंदिग्ध भूमिका निभाता है जिससे इस शंका को जन्म मिलता है कि क्या शिवकुमार स्वयं ही **प्रवचनसार** के रचियता हैं? स्मरण रहे कि जयसेन का कथन समकालीन साक्ष्य की साख के योग्य नहीं हो सकता है, और अब हम इन शिवकुमार को ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों वाले दक्षिण भारत के राज्यवंशों के किसी राजा के साथ पहचान करने का प्रयत्न करते हैं, तो यह मान लिया जाता है कि सभी संभाव्यता में जयसेन का कथन सम्भवतः किसी (प्रामाणिक) विश्वासयोग्य पूर्वपरम्परा पर आधारित है। डा. पाठक ने ऐसी पहचान निकालने का प्रथम प्रयास किया था और उन्होंने प्रस्तावित किया था कि इन शिवकुमार महाराज को (पाठक के अनुसार लगभग 528 ईस्वी सन् में हुये) कदम्ब राज्यवंश के शिवमृगेशवर्मन् के साथ पहचाना जाना चाहिये। (72)कदम्बों द्वारा जैनधर्म एवं जैनों को दिया गया संरक्षण सुप्रसिद्ध है; परन्तु ऐसा कोई कारण बिलकुल भी नहीं है कि कुन्दकुन्द को इतने बाद

माना जाये। यह निष्कर्ष अनेक कारणो से स्वीकृत नही किया जा सकता है: प्रथम तो, इससे दिगम्बर कालानुक्रम के कुछ सुमान्यताप्राप्त तथ्य अस्तव्यस्त हो जाते हैं; दूसरे, यह असम्भव है कि कुन्दकुन्द को 6 वी सदी का माना जाये जबकि शक संवत् 388 के मर्करा (Merkara) ताम्रपत्रों में कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख है और उसमें उक्त अन्वय में हुये कम से कम छः आचार्यों के नाम दिये गये है, (73) और इससे सूचित होता है कि उन ताम्रपत्रों की तिथि से अधिक तो नहीं तो कम से कम एक शताब्दि पूर्व कुन्दकुन्द का होना माना जाना होगा। सम्भवत: इस पहचान के समर्थन में उन्होंने राष्ट्रकूट राज्यवंश के उन तामरपत्रो में तद्–अन्वय शब्दों की अशुद्ध व्याख्या कर दी; उनकी व्याख्या की अशुद्धि पहले ही ऊपर बतला दी गई है। प्रोफेसर चक्रवर्ती का दृष्टिकोण अधिक युक्तिसंगत है जिन्होंने इन शिवकुमार महाराज को पल्लव राज्यवंश के शिवस्कंध अथवा युवा महाराज के रूप में पहचाना है, क्योंकि इसमें अनुकूल कुछ पारिस्थितिक साक्ष्य है। इस पहचान की पद्धति में पल्लव वंशानुक्रम एवं कालानुक्रम की अनिश्चितता का विरोध है। (74)उनके अभिलेखो मे समान नाम वाले राजा विभिन्न अवधियों में प्रकट होते हैं: पल्लव वंशावली में शिवस्कंधवर्मन् पाँचवे व्यक्ति है और उनके पूर्व कई स्कन्धवर्मन् है; और वहाँ, उन आलेखों मे किसी प्रामाणिक युग का उल्लेख न होकर राज्य–वर्षों का उल्लेख किया गया है। इसलिये पल्लव वंशानुक्रम का प्रारंभ कालानुक्रम रूप में अनिश्चित है। प्रोफेसर चक्रवर्ती इन कठिनाइयो से सुव्यक्त न होते हुये भी विज्ञ हैं, जब वे कहते हैं: ''अत: यह बिलकुल संभव है कि काँजीपुरम् के ये शिवस्कन्ध अथवा इसी नाम वाले उनके पूर्वजों में से कोई एक श्री कुन्दकुन्द के समकालीन और शिष्य थे।'' इस प्रकार यदि जयसेन के कथनों का कोई ऐतिहासिक मूल्य संलग्न किया जाता है, तो पाठक द्वारा प्रस्तावित पहचान की अपेक्षा शिवकुमार की पहचान पल्लव राजा शिवस्कन्ध के रूप में अधिक संभाव्य है।

कुरल के रचयिता के रूप में कुन्दकुन्द –

कुरल के रचयिता के रूप मे कुन्दकुन्द को श्रेय देना, निस्संदेह, कुन्दकुन्द की तिथि से कुछ आशय रखता है, किन्तु जिस पद्धति से प्रोफेसर चक्रवर्ती उस समस्या को साधित करते हैं, मुझे भय है, उसमे **कुण्ड-बदर-न्याय** का प्रसिद्ध बखेड़ा गर्भित है। विभिन्न मतावलम्बियों के दावे होने पर भी, एक निष्पक्ष समालोचक निश्चित ही **कुरल** में अनेक जैन लक्षण पायेगा, जैसे कि कमलो पर दिव्यविहार और अष्टगुणसम्पन्नता आदि, जो अन्य मतों के अनुसार सरलता और स्वाभाविक रूप से नही समझाये जा सकते हैं। जैन ग्रंथ **नीलकेसि** के टीकाकार ने **कुरल** पर 'अपनी स्वयं की बाइबिल रूप' कहा है; अंत: साक्ष्यों के अतिरिक्त यह भी सूचित करना है कि काफी लंबे समय से जैनों ने **कुरल** का अपनी जाति के स्वामित्व का दावा किया है। जहाँ तक **कुरल** की तिथि का सम्बन्ध है उस पर भिन्न भिन्न अभिमत हैं। अति उत्तम आधारों पर एम.एस. रामास्वामी आयंगर (M. S. Ramaswami Ayangar) **कुरल** को ईस्वी सन् के प्रारम्भ में रखते हैं। आगे जैन परम्परा कुरल के रचयिता का श्रेय किन्हीं जैन संत एलाचार्य को देते हैं, जिन्होंने उसे रचने के पश्चात् अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को दे दिया जिन्होंने उसे मदुरा संघ को भेंट कर दिया। अब कुरल के रचयिता रूप में कुन्दकुन्द इन एलाचार्य के साथ कुन्दकुन्द तादात्म्य होने पर आधारित

है। किन्तु यह निर्धारण निश्चित आधार नही है। अपने पिछले विवेचन में परम्परा का अंश यह था कि कुन्दकुन्द के पाँच नाम थे और इसे शंकास्पद एवं उत्तम आधाररहित बतलाया गया है। इसलिये, यदि प्रोफेसर चक्रवर्ती उसी परम्परा पर विश्वास करते हैं तो मैं अवश्य कहूँगा कि यह निर्धारण सिद्ध करना अपर्याप्त है, यद्यपि मैं जानता हूँ कि मैं यह सिद्ध नही कर सकता हूँ कि कुन्दकुन्द का एक नाम एलाचार्य नहीं था, जैसा कि मैंने वक्रग्रीव आदि के नाम के संबंध में किया है। इस प्रकार यह दिखाने के लिये कि कुन्दकुन्द का एक नाम एलाचार्य था कुछ और साक्ष्य की आवश्यकता है। और उसे अधिक निश्चित बनाया जावे, तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुन्दकुन्द **कुरल** के रचयिता थे, और परिणामस्वरूप उन का युग ईसा की प्रथम सदी में रखा जा सकता है। फिर भी , मै सूचित करूं कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ में जैसी परिस्थितियाँ रही हों कि वे **कुरल** जैसे सारग्राही ग्रंथ के, उसे बिना शुद्ध जैनमत की संहिता बनाए, रचयिता के रूप में कुन्दकुन्द अथवा अन्य कोई उत्कृष्ट जैन आचार्य की मुद्रा और गौरव के लिये बिलकुल प्रलोभनपूर्ण दिखाई देती है। ईसा पूर्व की तृतीय सदी के शीघ्र पश्चात् मैसूर के आसपास जैन उन्नतिशील होते जा रहे थे, जबकि भद्रबाहु ने दक्षिण की ओर प्रवास किया था; और अगली दो शताब्दियों के भीतर जैनमत दक्षिण की ओर अवश्य फैला होगा। यदि उसके उपदेशों का प्रचार सामान्य जनता मे करना होता, तो उसे सरस पदो में और वह भी जनता की देशी भाषा में अवश्य ही रचना होता। यह जैन आचार्यों की नीति रही है कि वे जहाँ भी जाते हैं वहाँ अपने सिद्धांतों का प्रचार करने हेतु स्थानीय भाषा को अपना लेते हैं अतएव उन्होंने तमिलभाषा को द्राविड़ देशों मे जैन सिद्धांत के मूलभूत तत्त्वों का प्रसार–प्रचार करने हेतु परिष्कृत किया होगा। जैन आचार्यों की ग्रंथकारिता **कुरल** मे आर्यों की विचारधारा और संस्कृति की सुदृढ़ पृष्ठभूमि को सुसंगत रूप मे समझाती है। क्योकि मगध एवं उत्तर भारत के आसपास के क्षेत्रों से जैन मात्र दो शताब्दी पूर्व नये नये आये थे। जैन आचार्यों ने, जिनके पूर्वज मगध की राज्य व्यवस्था और शासन तंत्र से भलीभाँति परिचित थे, अपने ग्रंथों में मगध मे प्रचलित राजनैतिक धारणाओं और सिद्धांतों को समाविष्ट किया, और यही कारण है कि हमे कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** और **कुरल** के बीच अनेक संबंधपरक बिन्दु मिलते हैं। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में तमिल क्षेत्र में जैनाचार्यों को अपनी प्रत्याशित सफलता के संबंध मे अतिविश्वास न होना प्रतीत होता है, और उन्हे आशंका रही हो सकती है कि उस क्षेत्र के विद्वानो के मध्य उनके शब्द भलीभांति ग्रहण न किये जा सकेगे; यही कारण प्रतीत होता है कि एलाचार्य अथवा (यदि वे कुन्दकुन्द से अभिन्न है) कुन्दकुन्दाचार्य ने **कुरल** को मदुरा संघ को अपने शिष्य तिरुवल्लुवर द्वारा भेंट किया, जो अपने नाम से तमिल क्षेत्र के निवासी प्रतीत होते हैं। अगली दो शताब्दियों मे जैनमत धीरे–धीरे प्रतिष्ठित हो गया, और जैन तमिल साहित्य के गरिमापूर्ण कहलाये जाने वाले युग के पथ–प्रदर्शक हो गये । और ईसा की पाँचवी सदी के अंत तक, जैसा कि देवसेन अपने **दर्शनसार** (24 इत्यादि) में कहते हैं कि वज्रनन्दि द्वारा मदुरा में द्राविड़ संघ की स्थापना हुई, जिसका अभिधान संभवतः मूलसंघ की किसी भौगोलिक मर्यादा को सूचित करता है।

साहित्य और पुरालेखीय साक्ष्यों से संसूचित तिथि के लिये पश्चात्वर्ती सीमा—

कुन्दकुन्द के ग्रंथों से उद्धरणों आदि द्वारा कुन्दकुन्द की तिथि निर्धारण करने में सबसे पूर्व

के दिगम्बर टीकाकारों के ग्रंथ कहां तक सहायक होते हैं, यह देखने हेतु उन पर ध्यान देने से हमें ज्ञात होता है कि सबसे पूर्व की प्राप्य टीकाएँ **धवला** और **जयधवला** में समाविष्ट होने पर भी कोई सहायता नही दे पातीं, क्योंकि उनके क्रमिक ग्रंथकारों की विभिन्न परतों को पृथक् करना लगभग असम्भव है। **तत्त्वार्थसूत्र** के अभी तक ज्ञात सर्वप्रथम दिगम्बर टीकाकार पूज्यपाद ने अपनी **सर्वार्थसिद्धि** में (II.10),पांच गाथाओं का उल्लेख किया है, जो कुन्दकुन्द की **बारस अणुवेक्खा** (क्र.25-29) में उसी क्रम में प्राप्त हैं, यद्यपि वे यह नहीं बतलाते कि वे कौन से स्रोत से उद्धरण दे रहे हैं। जिस प्रसंग में उद्धृत की गयी हैं, उद्धरण का धारावाही क्रम और अकलंक (77) के **राजवार्तिक** में इन उद्धरणों की अनुपस्थिति आदि, **सर्वार्थसिद्धि** (78) में दिये गये इन उद्धरणों की प्रासंगिकता सूचित करती हैं। **मूलाचार** (79) के अष्टम अध्याय से **बारस अणुवेक्खा** की कुछ गाथाएं समान हैं। किन्तु ये गाथायें वहाँ अंकित नहीं हैं, और मुझे पूर्ववर्ती किसी भी जैन ग्रंथों मे इन गाथाओं की जानकारी नही है। इन परिस्थितियो में और इन उद्धृत गाथाओं के मूलक्रम के अनुरक्षण के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि पूज्यपाद कुन्दकुन्द के **बारस अणुवेक्खा** से उद्धृत कर रहे हैं। इससे कुन्दकुन्द के युग की उत्तर पश्चात्वर्ती सीमा बंध जाती है। पूज्यपाद ईसा की पाँचवी सदी (80) के अंतिम चरण से पूर्व हुये थे, इसलिये कुन्दकुन्द उनसे पूर्ववर्ती थे। इसके पश्चात् शक 388 अर्थात् ईस्वी 466 के मर्करा ताम्रपत्र जिनका निर्देश पहले दिया जा चुका है, छः आचार्यो का उल्लेख इस स्पष्ट कथन के साथ करते है कि वे कुन्दकुन्दान्वय के थे; इसका अर्थ यह है कि कुन्दकुन्दान्वय प्रचलन मे था।यह इस निर्दोष परिकल्पना के आधार पर है कि उस वंशपराम्परा में, ताम्रपत्रों की तिथि से कम से कम सौ वर्ष पूर्व ये छः आचार्य उत्तरवर्ती हुए। यदि हम यह मान लें कि कुन्दकुन्दान्वय एक शताब्दी पूर्व, यदि और अधिक नहीं, तो और भी पहले कुन्दकुन्द का होना अत्यधिक नहीं होगा, क्योकि किसी संत का अन्वय उसकी मृत्यु के शीघ्र पश्चात् ही प्रारम्भ नहीं हो जाता है। यह हमे कुन्दकुन्द के युग की पश्चात्वर्ती सीमा को ईसा की तृतीय सदी के मध्य तक ले आती है।

दो सीमाएं और सम्भव निष्कर्ष—

कुन्दकुन्द युग संबंधी इस लंबे विवेचन के प्रकाश में जहां हमने अनेक दृष्टिकोणों द्वारा समस्या पर पहुँचने के पश्चात् और प्राप्य परम्पराओं को सम्पूर्ण रूप से विचार विमर्श द्वारा सुलझाने के लिये मात्र संभावनाओं को तौलने का प्रयास किया है। इससे हमें ज्ञात होता है कि परम्परा उनके युग को ईसा पूर्व की प्रथम सदी में रखती है, और ईसा की प्रथम सदी के प्रथमार्ध में रखती है। कुन्दकुन्द से पूर्व **षट्खण्डागम** के पूर्ण होने की संभावना उन्हें ईसा की द्वितीय शताब्दी के मध्य के पश्चात् रखेगी। और मर्करा ताम्रपत्र यह दिखायेंगे कि उनके युग की पश्चात्वर्ती सीमा ईसा की तृतीय सदी का मध्य होगी। विवेचित परिसीमाओं के प्रकाश में, आगे ये संभावनाएं कि कुन्दकुन्द पल्लव राजवंश के राजा शिवस्कंध के समकालीन रहे होंगे और यह कि यदि वे अधिक निश्चित आधार पर एलाचार्य के तादात्मरूप सिद्ध होते हों और इसलिये **कुरल** के रचयिता हों, तो अंतर्निहित वास्तविकता यह होगी कि कुन्दकुन्द का युग, उपर्युक्त पारिस्थितिक साक्ष्यों के प्रकाश में ईस्वी की प्रथम दो शताब्दियों में सीमित किया जाना चाहिये।

प्राप्य सामग्री के इस दीर्घ सर्वेक्षण के पश्चात् मैं विश्वास करने की ओर प्रवृत्त हूँ कि कुन्दकुन्द का युग ईस्वी सन् के प्रारम्भ में स्थित है।(81)

प्रस्तावित तिथि के लिये साक्ष्य के रूप में प्राकृतभाषिका—

कभी-कभी प्राकृत का प्रक्रम भी, चाहे सुनिश्चित साक्ष्य न हो, किसी ग्रंथकार के युग को सूचित करने के उपयोग में लाया जाता है। यह भाषिकीय साक्ष्य, जहाँ तक प्राकृत के विलक्षण अंतर्निहित आभासों और भौगोलिक पारिस्थितिक प्रतिबन्धों की मुझे जानकारी है, परिशुद्ध लक्षणवाला न हो किन्तु मात्र सहायक तो हो सकता है। **प्रवचनसार** की प्राकृतभाषिका के परिच्छेद में यह सूचित किया गया है कि भरत के **नाट्यशास्त्र** के डा. जैकोबी (Dr.Jacobi) द्वारा समीक्षात्मक रूप से विश्लेषित प्राकृत अंशों से, प्राकृत प्रक्रम को प्ररूपित करने वाली गाथाएं जिनके व्याकरणीय तथ्यों का सम्पूर्ण विश्लेषण किया गया है, पूर्वकालीन हैं। **नाट्यशास्त्र** की तिथि अनिश्चित है; संभवतः वह भास और कालिदास के पूर्व की है अतः सामान्यतः उसे ईसा की द्वितीय शताब्दी का प्रारम्भ मान लिया गया है। यह अपने निष्कर्ष से भलीभाँति संगत है कि कुन्दकुन्द ईस्वी सन् के प्रारम्भ में हुये होंगे । अपभ्रंश रूपो की बाह्याकृति भी कुछ कालानुक्रम संबंधी उपयोगिता वाली मानी जाती है। प्राकृत भाषिका के विवेचन में यह बतलाया गया है कि **प्रवचनसार** मे एक भी अपभ्रंश का रूप अनुरेखित नहीं किया गया है; और संभवतः वह एक ऐसी अवधि को सूचित करता है जब प्राकृत भाषा अपभ्रंश के अस्तित्व को तब तक विकसित न कर सकी थी। अब विमलसूरि के **पउमचरिय** मे, जिसे स्वयं ग्रंथकार (82)के कथनानुसार ईस्वी सन् के प्रारम्भ में रखा जाना चाहिये, हेमचन्द्र की पारिभाषिक शब्दावलि में कहे गये अपभ्रंश के अनेक रूप दिखाई देते है। अतः कुन्दकुन्द संभवतः इससे भी पूर्वकालीन होना चाहिये; भौगोलिक परिसीमाओ की छूट देते हुये कि कुन्दकुन्द दूर दक्षिण के थे, आदि, यह भी कुन्दकुन्द को ईस्वी सन् के प्रारम्भ मे लाये, हमारे आरम्भिक सीमा के अनुकूल बैठता है।

प्रस्तावित तिथि के प्रकाश में निवासस्थानादि—

कुन्दकुन्द के निवासस्थान की खोज दक्षिणभारत में करना होगी, विशेषतः द्राविड़ देश में, उनके नाम कोण्डकुन्द (83) के वर्ण विन्यास से, इस तथ्य से कि उन्हें मूलसंघ का प्रधान नायक कहा गया है, और उनका द्राविड़ संघ में होना तथा उससे साहचर्य होने के नाते करना होगी। पल्लव राज्यवंश से संबध होने की संम्भावना पर विचार करते हुये उनकी गतिविधियां कांजीवरम् के आसपास स्थित रही होगी, जो ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे दक्षिण में एक सांस्कृतिक केन्द्र था। जिस समय मे कुन्दकुन्द हुए वह, जहाँ तक दक्षिण मे जैन समाज के विकास एवं संरक्षण से संबन्धित है, पर्याप्त रूप से क्रांतिक दिखाई देता है। भद्रबाहु के पहुंचने के पश्चात्, दक्षिण में जैनधर्म को अवश्य ही अभिनव प्रोत्साहन दिया गया होगा, और जैसा कि हम समन्तभद्र एवं अकलंक से संबंधित परम्परागत कथाओं से देखते हैं कि जैनधर्म को पुष्ट आधारभूमि देने हेतु राज्य से संरक्षण आदि प्राप्त करने के प्रयास अवश्य ही किये गये होंगे। कुन्दकुन्द के समक्ष यह कार्य वास्तव में अवश्य ही महान् रहा होगा। मगध में दुर्भिक्ष समाप्त होने पर श्वेताम्बरों द्वारा पाटलिपुत्र में रचित जैन आगम को दिगम्बरों द्वारा अमान्य कर दिया गया था; और जहाँ तक

दिगम्बर मूलपाठ परम्परा का संबंध था, ईस्वी सन् के लगभग प्रारम्भ तक सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण मूलपाठ विस्मृति के गर्भ में जा चुके थे। कुन्दकुन्द को समाज की धार्मिक आवश्यकताओं के दायित्व का निर्वाह करना था; और इस स्थिति का सामना करने हेतु उन्हें अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से उत्तराधिकार रूप से जो भी परम्परागत मूलपाठ का ज्ञान प्राप्त हुआ था, उसी पर मुख्यतः आधारित प्राकृत में लघु निबंधिकाएं अवश्य ही रची होंगी। कुन्दकुन्द के ग्रंथों का परम्परागत पक्ष इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि उनके ग्रंथों में श्वेताम्बर आगम के कुछ ग्रंथों की गाथाएं दोनों में समान हैं; ये प्राचीनकाल की उभयनिष्ठ सम्पत्ति होने से उन्हें दोनों आम्नायों द्वारा स्वतंत्र रूप से सुरक्षित किया गया है। एक ओर तो कुन्दकुन्द पूर्ववर्ती मूलपाठ-परम्परा के अभिसारी केन्द्र रूप में स्थित हैं और दूसरी ओर उनके स्वयं ग्रंथ ही टीकाओं और टीकाकारों को उदित करते हैं, और इस प्रकार विभिन्न प्रकार के जैनमत विवेचनों के खिलते हुए और प्रदर्शनीय विकास रूप में प्रसारित हुआ।

3. कुन्दकुन्द के ग्रन्थ

84 पाहुडों के रचयिता के रूप में कुन्दकुन्द—

कुन्दकुन्द की साहित्यिक गतिविधि की प्रतिभा संबंधी महिमा महान् है, और परम्परा उन्हें कम से कम चौरासी पाहुड या प्राभृत कहे जाने वाले प्रबन्धों के रचने का श्रेय देती है। पदसंज्ञा 'पाहुड' (एक भेंट) व्याख्यानुसार सूचित करती है कि ये पुस्तकें किसी आध्यात्मिक प्रयोजन के लिये रचीं या संकलित की जाती है, और वे अध्यात्म (श्रेष्ठतर आत्मा) के लिये मात्र भक्तिपूर्वक समर्पित भेटे होती है। जयसेन ने इस शब्द को इस प्रकार समझाया है: **यथा कोऽपि देवदत्तः राजदर्शनार्थं किंचित् सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत् प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्म–राज–दर्शनार्थम् इदमपि शास्त्रं प्राभृतम्।**(84) इस प्रकार टीकाकार कुछ अर्थो को देने मे कुशल है। वास्तविक परम्परागत अर्थ भिन्न प्रतीत होता है : पाहुड का अर्थ अधिकार (85) है, अर्थात् एकखंड, जिसमे कोई विशेष विषय निरूपित या विवेचित किया जाता है। कुछ श्वेताम्बर ग्रंथो, जैसे **जोणिपाहुड, सिद्धपाहुड** (86) आदि मे यह पदसंज्ञा आती है। यह मात्र किंवदन्ती परम्परा है कि कुन्दकुन्द ने 84 पाहुड लिखे, और उनके टीकाकारों से मुझे ऐसे किसी कथन की जानकारी नहीं है।यह सख्या बिलकुल ही अविश्वसनीय नहीं है— इस तथ्य के दृष्टिकोण से कि उनके कुछ पाहुड अत्यन्त अल्पप्रबन्ध है : जैसे **सुत्तपाहुड** में केवल 27 गाथाएं समाविष्ट हैं। अनेक लघुप्रबंध या प्रकरणो को रचने के लिये कुन्दकुन्द के लिये परिस्थितियाँ भी अनुकूल थीं। कुन्दकुन्द काल मे दक्षिण मे बसी जैन समाज मगध एवं अन्य भागों में बसे मुख्य समुदाय से अधिक विलग अवस्था मे था। सम्पूर्ण समाज को अपनी धार्मिक आवश्यकताएं थीं। दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर दिगम्बरो ने आगम के अभिनव संकलन का प्रयास नहीं किया था; और उत्तर स्थित उनके कुछ सहधर्मियों (जो बाद मे श्वेताम्बर कहलाये) द्वारा पाटलिपुत्र में निर्मित आगम दिगम्बरो द्वारा इस रूप मे अमान्य कर दिया गया था कि वह विच्छिन्न और अप्रामाणिक है। परिणाम यह हुआ कि दिगम्बरो द्वारा प्रायः सम्पूर्ण मूलपाठ खो गया । कुन्दकुन्द जैसे नायकों के समक्ष मात्र यही विकल्प रहा कि वे अपनी स्मृतियो का आश्रय ले और जो कुछ उन्हें अपने गुरुओं और दादागुरुओं से परम्परागत रूप से प्राप्त था, अंगरूप ग्रंथों मे नहीं, वरन् मात्र अंगों से परिच्छेद या खंडरूप में प्राप्त किया था, उसे एकत्रित करें। इस प्रकार कुन्दकुन्द ने संकलन किया होगा और अनेक लघु मूलपाठ रचे होंगे। किसी को भी इस 84 संख्या पर अत्यधिक आग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमें उनमे से केवल कुछ के ही नाम प्राप्त हुये हैं; (87) और जिनका श्रेय कुन्दकुन्द को जाता है ऐसे प्राप्य मूलपाठो (ग्रंथों) की संख्या तुलनात्मक रूप से छोटी है। यह स्पष्ट रूप से कहा जाना चाहिये कि निम्नलिखित रचनाओं में अधिकांश में, मूलग्रंथों में कुन्दकुन्द के नाम का उल्लेख दुर्लभ है; कभी-कभी परम्परागत रूप से उनका श्रेय कुन्दकुन्द को दिया गया है, और

कभी-कभी टीकाकार कहते हैं कि कुन्दकुन्द ग्रंथकर्त्ता हैं, प्रत्येक दशा में मैंने यह देखने की सावधानी रखी है कि क्या किसी अन्य ग्रंथकर्त्ता ने उनके समान किसी विशेष रचना पर दावा किया है और यह कि क्या परम्परा में कोई विरोध है। भारत में दार्शनिक तथा ग्रंथकर्त्ता सदैव सिद्धांतों की ओर अभिमुख रहे हैं; वे कभी वी अपनी कृतियों के अंत में अपना नाम उल्लेखित करने में रुचि नहीं लेते रहे,क्योकि जहाँ तक विषयवस्तु का संबंध था जो कुछ वे संकलित करते रहे अथवा निर्मित करते रहे, उन्हें इस बात का भान था कि वह (सामग्री) उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की थी। केवल उस रूप के लिये उत्तरदायी होने से, उन्होंने ऐसा आडम्बर नहीं अपनाना चाहा जो ग्रंथकार के रूप में आधुनिक अभिप्राय में होता है। इस प्रकार भारत मे दर्शन तो हैं पर दार्शनिक नहीं। जैसा कि यूनान (ग्रीस) में होता है। (यहाँ) ग्रंथकारों ने कभी भी किसी दार्शनिक विचारधारा में अपने व्यक्तित्वों को डुबा देने मे संकोच नहीं किया; और जैसा मैक्सम्युलर (Max Muller)ने लिखा है, कि व्यक्ति दार्शनिक परम्परा के वाहक मात्र हैं।

अब हम उन विभिन्न कृतियों का अध्ययन करेंगे, जिन्हे रचने का श्रेय कुन्दकुन्द को जाता है । उनकी समस्त कृतियाँ, जहाँ तक उपलब्ध हैं, प्राकृत में है।

षट्खंडागमटीका— यह पहले ही ऊपर देखा जा चुका है कि अपने **श्रुतावतार** में इंद्रनन्दि ने कहा है कि कुन्दकुन्दपुर के पद्मनन्दि ने जो, संभवतः हमारे कुन्दकुन्द है, षट्खंडागम के तीन खण्डो पर **परिकर्म** नामक टीका लिखी। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त इस परम्परा का विरोध विबुधश्रीधर के कथन से है, जिनके अनुसार ग्रंथकार कुन्दकुन्द के शिष्य कुन्दकीर्ति हैं। इस प्रकार इस कृति का अस्तित्व एवं कृतित्व परम्परा की अनिश्चितता के क्षेत्र में चला गया है।(88)

मूलाचार—(89)जैन मुनियों, विशेष रूप से दिगम्बरों के चारित्र पर यह एक प्रामाणिक ग्रंथ है। उसकी प्राकृत भाषिका, विषयवस्तु, मूलपाठ आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और विशेषतः श्वेताम्बर आगम की **निज्जुत्तियों** से उसके तुलनात्मक सावधानपूर्ण अध्ययन की आवश्यकता है। संस्कृत टीकाकार वसुनन्दि (90) ने उसकी रचना का श्रेय वट्टकेर को दिया है। मुझे कुछ दक्षिण भारतीय हस्तलिपियाँ देखने में आई, जो देखने में बिलकुल यथार्थ हैं, जिनमें ग्रंथकर्त्ता का नाम कुन्दकुन्द दिया गया है; इन हस्तलिपियों में कुछ अतिरिक्त गाथाएं समाविष्ट है। मै मूलाचार ग्रंथ की परितुलना एवं अध्ययन मे लगा हुआ हूँ अतः मैं इस बिन्दु पर आग्रही नहीं होना चाहता हूँ; उसे इस अवस्था में उन्मुक्त प्रश्न होने दें।

दसभत्तियाँ (91)— **क्रियाकलाप** टीका के रचयिता प्रभाचन्द्र अपनी **सिद्धभक्ति** की टीका मे कहते हैं कि सभी संस्कृतभक्तियाँ पूज्यपाद द्वारा रचित हैं और प्राकृतभक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित हैं। (92) हमारा विषय यहां केवल प्राकृतभक्तियों से संबंधित है। प्रकाशित रूप में दशभक्तियाँ ग्रन्थ समालोचना के प्रायोजनों के लिये विश्वस्त नहीं है, ये पाण्डुलिपियाँ गाथा संख्याओं के विषय में भिन्न–भिन्न पायी जाती हैं। ये जैन क्षेत्र के बाहर अति अल्प रूप से ज्ञात हैं इसलिये मैं उन्हें विशेषकर प्राकृतभक्तियों से पाठकों को परिचित कराना चाहता हूँ। हस्तलिपियों मे प्राप्य ये भक्तियाँ **पंचनमस्कार** (**पंचणमोयार**), **मंगलसुत्त**, **लोगुत्तमासुत्त**, **सरणसुत्त**, **सामाइयत्त**, से प्राकृत गद्य (अंचलिका) में प्रारम्भ होती हैं।

तित्थयरभत्ति— इसमें आठ गाथाएं हैं जिनमें 24 तीर्थंकरों का उनके नामों का विशेष उल्लेख करते हुए स्तुति की गयी है। प्रथम गाथा को छोड़कर वह श्वेताम्बरों से एक समान है, जो सामान्यत: उसे **पञ्चप्रतिक्रमण** (93) में सम्मिलित करते हैं । उसके बाद प्राकृत गद्यांश (अंचलिका) है जो **प्रतिक्रमण** और **आलोचना** के साथ है। (अर्थात् कृतादि पापों की सूचनादि एवं दोष स्वीकारादि का वर्णन करती है।)

सिद्धभत्ति—इसमें गाथाओं की संख्या संबंधी अनिश्चितता बहुत अधिक मात्रा में है। इसमें हमें सिद्धों (अर्थात् मुक्तात्माओं), सिद्धों के प्रकार, मार्ग— जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, सिद्धों का सुख और निवास पर निरूपण प्राप्त होता है। इसका उपसंहार प्राकृत की अंचलिका *(गद्यांश) में अलोचना के साथ किया गया है।*

सुदभत्ति—इसमें 11 गाथाएं हैं और उपसंहारक गद्यांश है। इसका प्रारम्भ सिद्धों को नमस्कार से होता है। तब नाम सहित द्वादशांग का स्तवन किया गया है; बारहवें अंग, **दिट्ठिवाद**, के पांच भेद हैं। इसके पश्चात् 14 पुव्व या पूर्वों के नाम दिये गये हैं, जो टीकाकार के अनुसार दृष्टिवाद के चौथे भेद में समन्वित होना चाहिए। शेष गाथाओं में आगे के भेद दिये गये हैं। यह भक्ति प्राचीन जैन साहित्य के परम्परागत भेद के लिये महत्त्वपूर्ण है।

चारित्तभत्ति—इसमें अनुष्टुभ् छन्द में कोई 10 गाथाएं हैं। इसका प्रारम्भ वर्द्धमान महावीर की वन्दना से होता है। समस्त जीवो के कल्याण के लिये तीर्थंकर ने सामाइय,छेदोवट्ठावण, परिहार-विसुद्धि, सुहुम-संजम और जहाखाद-चारित्त के भेद से पांच प्रकार के चारित्र का उपदेश दिया है।(94) इसके पश्चात् 28 मूल-गुणो और उत्तर गुणों को मुनियों के लिये बतलाया गया है। मुनि इन व्रतो के भंग से बचने के संकल्प लेते हैं। अंत में सामान्य गद्यांश (अंचलिका) दिया गया है।

अणगारभत्ति—इसमे 23 गाथाएं है और अंत में एक गद्यांश है। यहाँ गुणों से सम्पन्न समस्त निर्ग्रन्थ साधुओं की वंदना की गयी है। इन साधुओं ने मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को अपनाया है। इसके पश्चात् जैन साधु संबंधी सभी विशेषताएं दो से लेकर चौदह संख्यात्मक गुण समूह के प्रकाश मे (यथा दो दोषो से रहित, तीन दण्डों से विरत, चार कषायों का मन्थन करने वाले, पांच इंद्रियों के जयी, आदि) विस्तार रूप से दी गयी हैं। ये समूह मुनिवर्ग मे पाये जाने वाले मत विस्तार के सम्पूर्ण परिष्कार को सूचित करते हैं, साधु इन समूहों को गिनाये जाने मात्र से सरलता से विस्तार समझ जाते है। जब श्वेताम्बर आगम के ठाणांग और समवायांग में पाये जाने वाले इन गुण समूह की तुलना उपर्युक्त समूह-गणना से की जाती है तो उक्त समूह गणना लघु प्रमाण में दिखती है। यह पद्धति अंगुत्तरनिकाय जैसे बौद्धग्रंथों में भी दिखाई देती है। इसके पश्चात् साधुओं के विविध (आसनों, उपवासों और) तपों तथा ऋद्धियों का वर्णन है। ग्रंथकार शुद्ध भावना करते हैं कि उनके द्वारा स्तुत्य (मुनि) उनके भी दु:खो का क्षय करें। यह भक्ति जैन साधु के आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत करती है।

आयरियभत्ति—इनमें कोई तेरह गाथाएं हैं। यहाँ हम एक आदर्श आचार्य का वर्णन पाते हैं, जो दूसरों को मुक्तिमार्ग पर दीक्षित करते हैं। वे मुनिश्रेष्ठ (आचार्य) उत्तम क्षमा से पृथ्वी के समान हैं, प्रसन्नभावों से जल के सदृश हैं, आकाश की तरह निर्लेप हैं, और सागर की तरह

गंभीर हैं। इसके पश्चात् गद्यांश (अंचलिका) है जिसमें महत्त्वाकांक्षी (मुमुक्षु) गुणों के उल्लेख के साथ पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करता है और अंत मे अपनी आकांक्षाएं प्रकट करता है।

णिव्वाणभत्ति—इसमें कोई 27 गाथाएं है। यहाँ तीर्थकरों और पवित्र आत्माओं की उन स्थानों सहित गणना की गयी है जिन्हें वहाँ से निर्वाण प्राप्त हुआ है। उन्हें तथा उन स्थानों की नमस्कार रूप वन्दना की गयी है। यह भक्ति जैन परम्परागत मिथक (पौराणिक) कथा और भूगोल के दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है। गद्यांश में हमें सूचित किया गया है कि महावीर वर्द्धमान इस अवसर्पिणी संबंधी चतुर्थकाल के पिछले भाग में साढ़े तीन माह कम चार वर्ष रहने पर पावानगरी से कार्तिकमास कृष्णचतुर्दशी की रात्रि मे स्वाति नक्षत्र के रहते हुये प्रभात काल मे निर्वाण को प्राप्त हुये। (95) यह अंश शैली में इतना सादृश है कि उसे किसी विशेष प्रसंग मे श्वेताम्बर जैन आगम में बिना किसी अतिक्रमण के रखा जा सकता है।

पंचपरमेट्ठिभत्ति—इनमें 7 गाथाएं (श्लोक) हैं, इनमें से प्रथम छह को सृग्विणी छंद मे मात्रिक–वृत्त रूप में व्यवहृत किया गया है और अंतिम को गाथा रूप मे। अंत मे गद्यांश (अंचलिका) है। यहाँ पांच परमेष्ठियों के श्रेष्ठ गुणों का वर्णन है और मुमुक्षु अनन्त सुख की आशा करता है।

दसभत्तियों पर समालोचनात्मक अभिमत–

इस प्रकार हमारी आठ प्राकृत भक्तियाँ हैं। **नन्दीश्वरभक्ति** और **शान्तिभक्ति** के विषय मे केवल उपसंहारक प्राकृत अंचलिकाएं हैं जिनमें प्राकृत छंदपूर्ण भक्तियाँ नही है। मेरा विचार है कि **णंदिसर** और **संतिभत्तियाँ** छंद के रूप मे हो सकती हैं: इससे वांछित संख्या दस प्राप्त होती है। विषयवस्तु की सामान्य रूपरेखा सूचित करती है कि ये भक्तियाँ सशक्त मत एवं धार्मिक पृष्ठभूमि वाली वन्दनाएं रूप है। दुर्भाग्य से भक्यिों का कोई समालोचनात्मक संस्करण नही है और न ही शुद्ध एवं पठनीय संस्करण भी प्राप्त है। जैन परम्परा के अध्ययन हेतु वे अत्यधिक महत्त्व वाली है। प्राकृत भाषिका एवं विषयवस्तु की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। समालोचक विद्यार्थी इन प्राकृतभक्तियों में शीघ्र ही दो स्तरों का पता पा जायेगा : प्रथम स्तर वह है जिसमें उपसंहारक (अंचलिकाएं) हैं और दूसरा वह जिसमें छंदपूर्णभक्तियाँ हैं। दोनो स्तर एक ही ग्रंथकार के तथा एक ही युग के नहीं हो सकते हैं। जो सार रूप में गद्यांशो (अंचलिकाओ) में प्राप्त है उसे छंदपूर्णभक्तियों मे विस्तृत कर दिया गया है। गद्यांशो (अंचलिकाओं) को जब सावधानी पूर्वक पढ़ा जाये तो वे हमे श्वेताम्बर आगम ग्रंथों–**प्रतिक्रमण** और **आवश्यकसूत्र** तथा **पंचसुत्त** जैसे ग्रंथों में आये सूक्ष्मरूप से समान अवतरणों की याद दिलाते है। (96) इस प्रकार यहाँ साहित्य का एक प्रबन्ध है जो जैन संघ भेद के पूर्व का है, और उसे दिगम्बरों तथा श्वेताम्बरो द्वारा स्वतंत्र रूप से यत्र तत्र परिष्कृत कर वंशानुक्रम में प्राप्त किया गया है। इन गद्यांशों (अंचलिकाओं) का विवेचन उपयोगी नही होगा। वे जैनाचार्यों के वंशानुक्रम में प्राप्त परम्परागत हैं; और उनका युगकाल उतना ही प्राचीन है जितना स्वयं जैनधर्म है। छंदपूर्ण भक्तियों के संबंध में, **तित्थयरभत्ति** दोनों आम्नायों में उभयनिष्ठ है, और वह भी परम्परागत रूप से वंशानुक्रम में प्राप्त हुई होगी। अवशेष भक्तियाँ भी मुख्यतः परम्परागत ज्ञान पर आधारित रची गई होंगी; और वस्तुतः वे प्राचीन

दृष्टिगत होती हैं। यह किंचित् कल्पनीय है कि कुन्दकुन्द ने गद्यभक्तियों को समझाने और विस्तृत करने के लिये छंदपूर्ण भक्तियाँ रची अथवा संकलित की होंगी, और गद्यभक्तियों को भी परम्परागत पुरावशेषों के रूप मे अंत में सुरक्षित रखा। विवर्धन करते समय कुन्दकुन्द ने वंशानुक्रम से प्राप्त पूर्व परम्परा वाली अनेक उपयुक्त गाथाओं को एकत्रित कर रखा होगा प्राकृतभक्तियों की संपूर्ति हेतु तथा जैनाचार्यों में प्रतिष्ठित संस्कृत की वृद्धिंगत लोकप्रियता के साथ कदम रखने हेतु, पूज्यपाद संस्कृत भक्तियों को रचते हुए दृष्टिगत होते हैं। उनमे से कुछ तो शैली में गौरवपूर्ण है, और विशेषतः **सिद्धभक्ति** नैय्यायिक कुशाग्रता की उत्कृष्ट कृति है।

दंसणपाहुड—(97) इसमें 36 गाथाएं हैं। मुख्य विषय सम्यक्–दर्शन की महिमा एवं विवेचन सहित है। वह सम्यग्दर्शन व्यवहार नय से जिनोपदिष्ट सिद्धांत और तत्त्वों के श्रद्धान करने मे है। और निश्चयनय से वह स्वयं आत्मा की अनुभूति है। (19–20)। (98) वही धर्म की नीव है और मुक्ति हेतु निश्चित पदार्पण है। (2,21)। उसके अभाव में ज्ञान, चारित्र और तप अपने वास्तविक अर्थ मे नही गिने जाते है (3,4,15 आदि)। कर्मरूपी बालू का बंध सम्यग्दर्शन के जल-प्रवाह से धुल जाता है (7)। गुणरूपी वृक्ष की जड़ों को सम्यग्दर्शन ही निर्मित करता है। (10–11)। सम्यग्दृष्टि इस भव में आदर पाते है और दूसरे भव मे वैभव को प्राप्त करते हैं (2)। मात्सर्यभाव से भरा हुआ जो मुनियो के सहजोत्पन्न–दिगम्बर रूप को देखने योग्य नही मानता वह (संयमी होने पर भी) मिथ्यादृष्टि ही है। (24)। गुण, गुण नहीं होते, यदि वे सम्यग्दर्शन पर उत्तमरूप से आधारित न हो (27)। संक्षेप मे सम्यग्दर्शन का अर्थ चेतना की विशुद्ध पर्याय की अभिव्यक्ति होना है (28)। और जब मनुष्य भव प्राप्त हो जाये तो उसे जिनभक्ति द्वारा सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का अवसर नही चूकना चाहिये (34 आदि)।

चारित्तपाहुड— इसमे 44 गाथाएं हैं। मुख्य विवेचन सम्यग्चारित्र प्राप्त करने संबंधी है जो मोक्ष (9) की प्राप्ति हेतु पूर्णतः आवश्यक है। वह दो प्रकार का है: एक तो सम्यग्दर्शन संबंधी (सम्यक्त्वाचरण चारित्र) और दूसरा आत्म-संयम संबंधी (संयमाचरण चारित्र) (5)। प्रथम को अष्ट गुणो **निस्संकिय** आदि, संहित होना चाहिये (7 आदि)। सम्यग्दृष्टि ज्ञानमार्ग का अनुसरण करता है। और पापपूर्ण कृत्यो को छोड़ देता है (14)। वह वास्तविकता का दर्शन करता है, उसके दो रूप पक्षों की अनुभूति करता है और चारित्र संबंधी दोषो को छोड़ता है, तथा इस प्रकार कर्मों से विमुक्त हो जाता है (17,18)। दूसरा, नामतः आत्मसंयम, दो प्रकार का है: एक (सागार) श्रावकों, के होता है जिनके पास अभी भी कुछ **परिग्रह** है, और दूसरा (अनगार) चारित्र **परिग्रहरहित** मुनि के होता है (20)। देशविरत श्रावक का चारित्र ग्यारह भेद **दंसण–वय** आदि रूप है, और जो पांच **अणुव्रत**, तीन **गुणव्रत** चार **शिक्षाव्रत** रूप सागार संयमाचरण होता है जिसे विस्तार मे ग्रंथकार ने परिभाषित किया है। (21–25)। अनगार संयमाचरण चारित्र पाँच इद्रियो के दमन रूप, पांच महाव्रत रूप, इनकी पच्चीस (प्रत्येक व्रत की पांच-पांच भावनाओं) क्रिया सहित, पांच समितियों के पालन रूप और तीन गुप्तियों (मन- वचन -कायगुप्ति) रूप होता है। (27–36) जो जीव और अजीव का विभाग जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है, और रागद्वेष रहित होने से वह (जिनशासन में) मोक्षमार्ग में हैं (38)।

सुत्तपाहुड— इसमें 27 गाथाएं हैं। सूत्रों की विषयवस्तु (अर्थ) अर्हन्त द्वारा कहा गया है,

जो गणधरों द्वारा सम्यक् रूप से ग्रंथ रूप रचा गया है; इस प्रकार श्रुत आचार्य परम्परागत है (1–2)। जैसे सूत्र सहित सुई खोती नहीं है उसी प्रकार सूत्र (पवित्रग्रंथ) का जानकार मनुष्य संसार में भटकता नहीं है (संसार का नाश कर देता है) (3–4)। जिनेन्द्र भगवान ने पवित्रश्रुत में अनेक प्रकरणों (जैसे जीव अजीव आदि) में कहा है। उसका उद्देश्य है कि सम्यग्दृष्टि स्वयं निर्णय करता है कि क्या उपादेय है और क्या हेय। इसे उनके व्यवहार एवं निश्चय नयो के द्वारा अध्ययन करने पर उसे कर्मफल का नाश कर सुख प्राप्त होता है (6)। श्रुतज्ञान से रहित होने पर, यदि वह सच्छंद (स्वच्छन्द) विहार करता है, तो वह मात्र पाप को प्राप्त होता है (9)। वस्त्ररहित (दिगम्बरमुद्रा) और पाणिपात्र (में भोजन ग्रहण) वही अद्वितीय मार्ग है, जिससे मोक्ष प्राप्त होता है (10)। ऐसे मुनिवर जो संयमों से सहित हैं। पाप से रहित 22 परिषहों को सहते हैं और कर्मों का विनाश करने में समर्थ हैं वे ही वन्दना के योग्य हैं, जब कि अन्य साधु (ऐलक–क्षुल्लक आर्यिका आदि) जो सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान सहित हैं किन्तु अभी भी वस्त्रमात्र द्वारा परिग्रही हैं। वे **इच्छाकार** कहने के योग्य हैं (11–13)। मुनि को बालाग्र को बराबर परिग्रह भी हानिकारक है; वह मात्र पाणिपात्र में (अन्य द्वारा प्रदत्त) दिन में एक बार (प्रासुक) अन्न को ग्रहण करता है; वह **यथाजात** (बालक) **के समान** अवस्था में है, और वह तिलतुषमात्र भी (परिग्रह) अपने पास नही रखता है (17 आदि)। निर्ग्रन्थ (मोक्षमार्ग) वन्दना योग्य है। इसके पश्चात् उत्कृष्ट श्रावकों का लिंग है जो आध्यात्मिक रूप से उन्नत होता है। (20–21)। तीसरा लिङ्ग स्त्रियो का है जो दिन में एक बार भोजन करती है, एक ही वस्त्र धारण करती है और वस्त्रसहित ही भोजन करती है। स्त्रियो को प्रव्रज्या–महाव्रत रूप दीक्षा नहीं दी जाती है क्योंकि वे संहननादि (शारीरिक रचनादि) रूप से अयोग्य होती हैं- उनके योनि, स्तनों के मध्य, नाभि तथा कांख आदि स्थानो में सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते हैं, उनका मन शुद्ध नहीं होता, उनका परिणाम शिथिल होता है, उनके प्रत्येक मास में मासिक धर्म होता है; और वे (सदा भीरु प्रकृति की होने से) अबाधित ध्यान नहीं कर सकती हैं। (स्त्रियो में यदि कोई) सम्यग्दर्शन से शुद्ध हो तो वह भी मोक्षमार्ग से युक्त कही गयी है (22–25)। जब किसी मनुष्य को कुछ ग्रहण करना हो तो, उसे थोड़े परिमाण मे ग्रहण करना चाहिये जैसे यद्यपि समुद्र में बहुत जल होते हुये भी उसमें से अपना वस्त्र धोने के लिये थोड़ी मात्रा में ग्रहण किया जाता है। जिन (मुनियों) की इच्छा निवृत्त हो गई है उनके सब दुःख निवृत्त हो जाते है (27)।

बोधपाहुड— इस पाहुड में 62 गाथाएं है जो मङ्गलाचरण की गाथाओं (1–2) के पश्चात् ग्यारह (बोध) स्थानों (आयतन, चैत्यग्रह आदि) मे विभाजित करके गिनाई गयी है (3–4)। 1. **आयदण** (सं. आयतन), आध्यात्मिक या धार्मिक आश्रय या शरणः– मद-राग-द्वेष- मोहादि (क्रोध और लोभ) जिसके पूर्णतः आधीन हो गये हैं, जो पाँच महाव्रतों को धारण करता हैः और जो विशुद्ध ध्यान तथा सम्यग्ज्ञान से युक्त हैं ऐसे मुनि श्रेष्ठ को शुद्ध आत्मा की सिद्धि हो गई है उन्हें धार्मिक शरण या आश्रय (आयतन) कहा गया है। 2. **चेदिहरं** (सं. चैत्यगृहम्):–(जो आत्मा को ज्ञानस्वरूप और दूसरे जीवों को चैतन्यस्वरूप जानता है)ऐसे पांच महाव्रतों से शुद्ध और ज्ञान से तन्मय आत्मा स्वयं चैत्यगृह है। जिनमार्ग के अनुसार वह छहकाय के जीवों का हित करने वाली है; वह बंध और मोक्ष के लिये, सुख और दुःख के लिये व्यक्तियों की

भक्ति के अनुसार साधन (चैत्यगृह) कहा गया है (8–9)। 3. **पडिमा** (सं.प्रतिमा), बिम्ब या मूर्ति :– पूजी जाने वाली प्रतिमा निर्मुक्त अर्थात् कषायरहितदशा का प्ररूपण करती है; जब वह चलती फिरती है तो वीतराग मुनिश्रेष्ठ की होती है, अन्यथा सिद्ध की होती है जो अनन्तचतुष्टय (अनन्तदर्शन) अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य एवं अनन्तसुख) सहित है, शरीर रहित है, अष्टकर्मो से रहित है। और बाधाओ से रहित हैं। (10–13)। 4. **दंसण** (सं. दर्शन) दर्शन एक ऐसा बोधशील पद है जिसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र समाहित है, और जो मोक्षपथ को दर्शाता है। जिस प्रकार फूल गन्धमय और दूध घृतमय होता है, उसी प्रकार दर्शन अन्तरङ्ग में सम्यग्ज्ञानमय है। (और बहिरंग में मुनि, श्रावक और आर्यिका वेशरूप है) (14–15)। 5. **जिणबिम्ब** (सं. जिनबिम्ब), जिन का अथवा अर्हंत का बिम्ब:–जो ज्ञानमय है, संयम से शुद्ध है, वीरराग है, तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देता है तथा कर्मों का नाश करने में कारण रूप होता है; वह पूजा और प्रणाम के योग्य है वह जिनबिम्ब है। 6. **जिणमुद्दा** (सं. जिनमुद्रा):– दृढ़ता से संयम धारण करना सो संयममुद्रा है, इंद्रियों को विषयों से विमुख रखना सो इंद्रियमुद्रा है, कषायों के वशीभूत न होना सो कषायमुद्रा है, ज्ञान के स्वरूप मे स्थिर रहना सो ज्ञानमुद्रा है (19)। 7. **णाण** (सं. ज्ञान):–(जिस प्रकार) धनुर्विद्या के अभ्यास से रहित पुरुष (बाण के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता है उसी) के समान अज्ञानी मोक्षमार्ग के लक्ष्यभूत (आत्मा) को नहीं ग्रहण कर पाता है। जिसके पास (दृढ़) मतिरूपी स्थिर धनुष है, श्रुतज्ञान रूपी डोरी है, रत्नत्रयरूपी बाण हैं और परमार्थ रूप (उच्चतम) लक्ष्य पर जिसका ध्यान है वह मोक्षमार्ग से नही चूकता है (20–23)। 8. **देव** : देव वह है जो (भव्य जीवो को अर्थ,धर्म काम और मोक्ष का कारणभूत ज्ञान देता है) मोह से रहित है; वही ऐसा धर्म प्रदान करता है जो दया से विशुद्ध है, और ऐसी दीक्षा देता है जो सर्वपरिग्रह से रहित है (24–5)। 9. **तित्थ** (सं. तीर्थ):–यदि शान्तभाव से निर्मलधर्म, सम्यग्दर्शन, संयम,तप और ज्ञान धारण किये जायें तो जिनमार्ग में यही तीर्थ है; और उन्हीं में मुनिवरो को **दीक्षा-शिक्षा** रूपी उत्तम स्नान से पवित्र होना चाहिये (26–27)। 10. **अरहंत** (सं. अर्हत्), जिनेन्द्र :–अरहन्तपने का बोध विविध दृष्टिकोणों से हो सकता है। (नाम, स्थापनादि, गर्भादिकल्याणक) । वे जन्म और मृत्यु तथा उनके पूर्ववर्तियो से मुक्त होता है; और उनका वर्णन गुणस्थान मार्गणा स्थान, पर्याप्ति, प्राण, जीवस्थान इत्यादि के दृष्टिकोणों से करना चाहिये (28–36)। उनका भौतिक अस्तित्व इस स्तर पर शारीरिक रोगदोषों से रहित होता है (37); उनके मांस और रुधिर श्वेत होते है : संक्षेप में वे विविध अतिशयों से युक्त होते हैं (38–41)। 11. **पव्वज्जा** (सं. प्रव्रज्या), जिन दीक्षा–यहाँ ग्रंथकार प्रव्रज्या के स्वरूप का वर्णन करते है, और इस प्रकार आदर्श मुनि की झलक प्राप्त हो जाती है। पाँच महाव्रतों सहित, पांचों इंद्रियो का दमन करते हुये और अध्ययन तथा ध्यान में लीन हो, इच्छा रहित हो मुनिवरों को विहार करना चाहिये। उन्हें मोह से रहित होकर 22 परीषह जीतकर, वीतरागी हो पाप के आरम्भ से रहित होना चाहिए। उन्हें शत्रु और मित्र, प्रशंसा और निंदा, हानि और लाभ, तथा तृण और स्वर्ण में समान भाव रखना चाहिये। वे अंतरंग एवं बहिरंग विघ्नबाधाओं से मुक्त होते हैं। वे मोहरहित होते हैं तथा वे सम्यग्दर्शन, तप, व्रत और संयम जैसे गुणों से विभूषित होते हैं। (44–7, 50,53,56,58 आदि) वे सद्योजात बालक के समान नग्न रूप होते हैं। वे शान्त चित्त से

भुजाओ को नीचे करके विहार-गमन करते है। वे शस्त्र रहित होते हैं; वे अपनी काया की ओर कोई ध्यान नहीं देते है (51–2)। वे न तिलतुषमात्र बहिरंग परिग्रह और न ही अंतरंग परिग्रह रखते हैं (55)। वे पशु,स्त्री, नपुंसक और कुशील मनुष्यों का संग नहीं करते हैं; वे विकथाओं से परे रहते हुये सदैव स्वाध्याय तथा ध्यान मे लीन रहते हैं, (57)। वे शून्य गृह मे, वृक्ष के अधस्तल मे, उद्यान मे, श्मशान मे, पहाड़ के शिखर पर, पहाड़ की गुफा में, तथा भयंकर वन या वसतिका (जो उनके लिये विशेषरूप से निर्मित न की गई हो) मे निवास करते है (42,51 आदि; 43 अति अस्पष्ट है); शिला, काष्ठ एवं भूमितल ये सभी उनके बैठने एवं शयन के लिये उपयुक्त होते हैं (50)। वे उत्तम या मध्यम घर मे, दरिद्र तथा धनवान् मे कोई भेद न रखते हुये सभी स्थानों मे आहार ग्रहण करते हैं (48)। अंतिम दो गाथाओं का मुक्त अनुवाद यह हो सकता है: शब्द विकार से उत्पन्न हुये भाषा सूत्रों मे श्री जिनेन्द्र देव ने जो कहा है तथा भद्रबाहु के शिष्य ने जिसे (परम्परागत रूप से) ज्ञात कर उपदिष्ट किया है (वही मार्ग मैने यहाँ कहा है)। द्वादशांग के जानने वाले, चौदहपूर्वों का वृहद् विस्तार जानने वाले और व्याख्याकारो मे प्रधान गुरु,**सुयणाणि** भगवान् भद्रबाहु जयवंत होवें (61) ।

भाव-पाहुड –इस पाहुड मे गाथाओ की कुलसंख्या 163 है:, तथा कुछ अतिरिक्त गाथाएं भी है। मुख्यधारा, भाव के सबंध मे कुछ विवेचन तथा उसके परमार्थ की विशालता धारण करने वाली है। इसे यहॉ **परिणामसुद्धि** के अर्थ मे ग्रहण करना है (जैसी 5 से) । यह भाव प्राथमिक रूप से तीन प्रकार का है: शुद्ध, शुभ एवं अशुभ (75*, 1–3)। साधु के लिये वह भावलिङ्ग है जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, द्रव्यलिङ्ग नही। मन की निर्मलता (भाव) ही सद्गुणी अन्यथा असुद्गुण (दुर्गुणी) बनाती (2)। शरीरादि परिग्रह से रहित होकर तथा मानकषाय से सर्वथा मुक्त होकर भावलिङ्गी साधु अपनी आत्मा मे आत्मरत होता है (56) जिस रूप का वह ध्यान करता है उसे प्रचलित गाथाओ 57–60 मे निरूपित किया गया है। मुनि को (पहले) मिथ्यात्व आदि दोषो को छोड़कर अन्तरंग भाव से नग्न होना चाहिये और तब वह जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा से बाह्यवेश को स्वयमेव प्रकट करता है (73,54)। मन (भाव) की निर्मलता के बिना नग्नमुद्रा से कोई प्रयोजन नही है (55) । भाव रहित होकर आत्मा ने (अनादिकाल से) इस अनन्त संसार मे भ्रमण किया है और कर रहा है। इस चतुर्गति रूप संसार मे जीव ने तीव्र दु:ख प्राप्त किये है, और आगन्तुक, मानसिक साहजिक तथा शारीरिक प्रकार के दु:ख अनन्त काल तक भोगे है। वहाँ (द्रव्यलिग मे) जीव कांदर्पी आदि पाँच अशुभ भावनाओ का चिन्तवन करते हुये आसक्त रहा तथा चार प्रकार की विकथाओं मे व्यस्त होकर रहा (7–17) अनन्त जन्मों की संख्या इतनी अधिक है कि माताओ के स्तनो का पिया दूध समुद्र को भर दे और उनके आँसू भी समुद्र को भर दे (19–21)। विषादि द्वारा अकाल मृत्यु से तथा अनेक बार अनेक शरीर ग्रहण तथा छोड़े गये। सभी वस्तुएं इस संसार मे भक्षण की गईं। बहुत पानी पिया गया, फिर भी कोई तृप्ति नही हो सकी (22–23) । भाव (निर्मलता) के अभाव में इस जीव ने अनेक क्षुद्र भवो मे मृत्यु को प्राप्त होकर, माताओं की अशुद्ध घृणित और पाप रूप मल से मलिन गर्भाशयो मे निवास करते हुये बालकपन मे मलिन द्रव खा-पीकर सर्वत्र भ्रमण किया है (31–41 आदि)। संसार का नाश करने हेतु (निर्मल) भाव ही सक्षम है।

(विशुद्ध) भाव की महिमा अकथनीय है। विविध गुण, धर्माचरण, तप, श्रुताध्ययन और ज्ञान ये सभी भाव के अभाव में निष्प्रयोजनीय हैं। (20,4, 5, आदि 70 आदि, 80, आदि, 97 आदि, 105 आदि, 125 आदि)। भाव सहित आत्मा को अनेकानेक अभ्युदयों की परम्परा प्राप्त होती है (126आदि)। जब तक क्षमता है जीव को मन और हृदय की विशुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न अनेक धार्मिक कृत्यों द्वारा करना चाहिये (130 आदि)। क्रियावादी आदि 363 पाखण्डियों के उन्मार्ग रूप भेद है। जिन्हें त्यागकर जिनमार्ग मे अपना मन स्थिर करना चाहिये (135,140)।

जब भाव न हो, तो आत्मा के आध्यात्मिक भविष्य (भाग्य) को कषायें वास्तव में नष्ट कर देती हैं। यद्यपि बाहुबलि देहादि के संबंध से रहित थे किन्तु मान कषाय से कलुषित होने के कारण उनकी आध्यात्मिक उन्नति न हो सकी। मधुपिङ्ग मुनि निदान (99) के कारण श्रमणपने को प्राप्त नहीं हो सके, और मुनि वशिष्ठ (निदानमात्र से) दुःख को प्राप्त हुये (44–46)। बाहुमुनि जिनलिङ्ग से सहित होने पर भी अंतरंग के दोष से दण्डक नामक समस्त नगर को जलाकर रौरव नामक नरक में उत्पन्न हुये । इसी प्रकार दीपायन (द्वैपायन) नामक द्रव्यलिंगी श्रमण वास्तविक गुणों से (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र) से भ्रष्ट होकर अनन्त संसारी हुए (49–50)। भावलिंग का धारी एवं धीर-वीर शिवकुमार मुनि युवतिजनो से परिवृत्त होकर भी (विशुद्ध बने रहने से) संसार सागर को पार कर गये। (49,50)। भव्यसेन मुनि ने बारह अंग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ लिया था तो भी वह भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं हुये। किन्तु शिवभूति मुनि जो विशुद्धभावों के धारक (और अत्यन्त प्रभाव से युक्त) थे ''तुषमाष '' पद को घोकते हुये–याद करते हुये केवलज्ञानी हो गये। (51–3)। (100) शालिसिक्थ नामक मच्छ भी मन की अशुद्धि सहित होने से महान् नरक में गिरा (86)। जिस प्रकार कमलिनी का पत्र (स्वभाव से ही जल मे लिप्त नहीं होता) उसी प्रकार सत्पुरुष विशुद्ध भाव सहित होने पर कषाय और विषयो से लिप्त नही होता है (152)। (101)

कर्मों से विमुक्त होने के लिये ज्ञान और चेतना सहित स्वभाव वाले जीव का चिंतवन करना चाहिए : वह जीव रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त, चेतनागुण से युक्त,शब्दरहित, इंद्रियों द्वारा अग्राह्य और आकार रहित है (61 आदि, 64)। किन्तु अनादिकाल से यह जीव अष्टकर्मों से बंधा है, इसमे कर्मबंध के मिथ्यात्व आदि अनेक हेतुओं से वृद्धि होती जाती है (146 आदि 115)। ये कर्म भावो की विशुद्धि सहित धार्मिक व्यवहार से नष्ट किये जाते हैं। कर्म संसार का कारण है। जब बीज जल जाता है तो (पृथ्वी पर) अंकुरित नहीं होता है; इसी प्रकार जब कर्म बीज जल जाा है तो विशुद्ध भाव वाले मुनियों के संसार (आवागमन) का अंकुर कभी नहीं ऊगता है (124)। रागादि समस्त दोषो से रहित होकर जो आत्मा आत्मस्वरूप मे लीन होता है वह संसार समुद्र से पार होने का कारण होने से (83) धर्म है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। (83, 119 आदि)। जब तक आत्मा के स्वरूप की प्रतीति नहीं करता है, और भले ही समस्त पुण्यक्रियाओं को करता हो तब तक वह सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है (84)।

यह आत्मा कर्मों से विमुक्त होने पर स्पष्ट ही परमात्मा हो जाता है और ज्ञानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख तथा बुद्ध कहा जाने लगता है। (149)। इस अनन्तसुख एवं ज्ञान प्राप्ति का मार्ग रत्नत्रय के आचरण करने में है जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप है

(30–31)। इन रत्नों की प्राप्ति के लिये विभिन्न स्तरों पर विभिन्न विस्तृत गुणों में पाँच प्रकार के ज्ञान का भाव करना चहिये (65)। कषायों, सुखों और नोकषायों का त्याग करना चाहिये (76 आदि, 89)। तीर्थंकर नामकर्म प्रकृति का बंध करने वाली सोलहकारण (षोडशकारण) भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये (77) । बारह प्रकार का तपश्चरण और तेरह प्रकार की क्रियाओं का चिन्तवन करना चाहिये (78)। दोषरहित श्रमणपना और दो प्रकार का संयम पालन करना चाहिये। पाँच प्रकार के वस्त्रों का त्याग, जमीन पर सोना और शरीर से सदा बाईसपरीषहों को सहते हुये (बिना ध्यान देते हुये) (79,92 आदि) जिसका अर्थ तीर्थंकरों द्वारा कहा गया है और गणधर देव द्वारा जिसकी सम्यक् प्रकार से रचना की गई है उस श्रुतज्ञान का नितप्रति चिन्तन करना चाहिये (90)। बारह अनुप्रेक्षाओं, पच्चीस भावनाओं, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, (चौदह जीवसमास) एवं चौदह गुणस्थानों का चिन्तन करना चाहिये (94–95)। दस प्रकार के अब्रह्म का त्यागकर नव प्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रकट करना चाहिये (96)। छयालीस दोषों से रहित विशुद्ध भोजन ग्रहण करना चाहिये। (101) पाँच प्रकार के विनय और दस प्रकार का वैयावृत्य पालन करना चाहिये (102–3)। भावलिङ्ग की शुद्धि को प्राप्त होकर चार प्रकार के बाह्यलिंगों का सेवन करना चाहिये (109)। भावों से विशुद्ध होकर पूजा-लाभ न चाहते हुये मूल और उत्तर गुणों का पालन करना चाहिये (110–11), इत्यादि इत्यादि। (102) अंत में संक्षेप रूप से ग्रंथकार निष्कर्ष कहते हैं कि (बहुत कहने से क्या?) धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष पुरुषार्थ (तथा अन्य व्यापार) सब भावों में ही अवस्थित हैं –भावों के ही आधीन है (162)।

मोक्खपाहुड—इसमें 106 गाथाएं हैं। ग्रंथकार का अभिप्राय परमात्मा का विवेचन करना है। जिनकी अनुभूति से जीवों को मोक्ष प्राप्त होता है (1–3)। वह आत्मा -परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है: इंद्रियो में आत्मसंकल्प करने वाला बहिरात्मा है, आत्मा का संकल्प अन्तरात्मा है और कर्म रूप कलङ्क से रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है, आदि (4–6)। जिस आराधक को जिनवचनों में प्रीति है और जिसने जिनवचनों का तत्त्व रुचि से ग्रहण किया है उसे पर पदार्थ का त्याग कर अन्तर्मुखी होना चाहिये ताकि निर्वाण रूप परमात्म पद प्राप्त हो सके (33, 38, 7 आदि)। यह मनुष्य मोह के उदय से मिथ्याज्ञान मे रत है तथा मिथ्याभाव से वासित हुआ फिर भी शरीर को आत्मा मान रहा है (10 आदि)। आत्मा स्वभाव से अतिरिक्त जो सचित्त–अचित्त अथवा मिश्र द्रव्य है वह सब परद्रव्य है और आठ (दुष्ट) कर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और शुद्ध आत्मद्रव्य को स्वद्रव्य कहा है। (17–18)। जो स्वद्रव्य का ध्यान करते हैं, परद्रव्य से पराङ्मुख रहते हैं वे जिनेन्द्र के मार्ग का अनुसरण करते हुये निर्वाण प्राप्त करते हैं (19)।

आत्मा और परमात्मा में वही भेद है जो अशुद्ध और शुद्ध स्वर्ण में है (24)। जब बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा पर आरूढ़ होते हैं तब परमात्मा का ध्यान किया जाता है (7आदि)। विषय कषायो से मुक्त होकर जिनमुद्रा धारण करना चाहिये और परमात्मा का ध्यान करना चाहिये (46–47–48)। ध्यान की सिद्धि के लिये रत्नत्रय की आराधना परम आवश्यक है। (34, 36, 37, 90 आदि)। जैसे स्फटिकमणि स्वभाव से निर्मल है किन्तु परद्रव्य से संयुक्त होकर वह अन्य रूप हो जाता है, उसी प्रकार की दशा जीव की है। ध्यानस्थ अवस्थाओं में

रागद्वेषादि से रहित समभाव रूप आत्मा का अभिन्न परिणाम होना चाहिये तभी परमात्मपद प्राप्त होता है।(49—51—83 इत्यादि)। शुद्ध आत्मानुभूति के लिये ध्यान (ही) सशक्त साधन है (26 आदि)। जब आराधक ध्यान मे दैनिक क्रियाओं को जीतकर लीन होता है तो वह कर्मों से विमुक्त हो जाता है। जब ध्यानस्थ मुनि दृढ़ चारित्र का धारक एवं दृढ़ सम्यक्त्व से वासित हृदय होकर (आत्मा का ध्यान करता हुआ) परम पद को प्राप्त करता है। (48 आदि, 63 आदि)। परद्रव्य मे परमाणु मात्र भी मोह आत्मस्वभाव के बिलकुल विपरीत है। (महान् शत्रु) है,अतः सभी बाह्यमुखी प्रवृत्तियों को पूर्णतः रोकना चाहिये (69,66, आदि)। अत्यंत निर्मल और मेरूपर्वत के समान निश्चल सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर उत्कृष्ट ज्ञान, दर्शनादि से पूर्ण होते हुये आत्मा का ध्यान करना चाहिये (84,86 आदि)। जो (पांच महाव्रतों, पांच समितियो व तीन गुप्तियो को धारण करने मे) असमर्थ और मूढ है, वही कहता है कि यह ध्यान का काल नहीं है। मुनियो के लिये आज भी धर्मध्यान संभव है और वे उसके द्वारा इंद्रादि पद प्राप्त कर वहाँ से च्युत होकर निर्वाण पद को प्राप्त कर सकते हैं(73—78)।

जीव और अजीव के विभाग को जानने वाला सम्यग्ज्ञान कहा गया है(41); जो (अचेतन को भी चेतयिता मानता है। वह अज्ञानी है और) जो चेतन को चेतयिता मानता है वह सम्यग्ज्ञानी है। (58)। ज्ञानी और अज्ञानी मे महान् अंतर है। अज्ञानी जीव उग्र तपश्चरण के द्वारा जिस कर्म को अनेक भवो मे खिपा पाता है उसे तीन गुप्तियों से सुरक्षित रहने वाला ज्ञानी जीव अल्प समय (अन्तर्मुहूर्त) मे खिपा देता है(53 आदि)। जो ज्ञान तप से रहित है वह व्यर्थ है और जो तप ज्ञान से रहित है वह भी व्यर्थ है; इसलिये ज्ञान और तप से युक्त पुरुष ही निर्वाण को प्राप्त होता है(59)। मुनि को समस्त परद्रव्य एवं आत्मस्वरूप से विपरीत प्रवृत्तियों से पराङ्मुख होना चाहिये, तथा मूलगुणों का पालन करते हुये आत्मा के स्वरूप मे लीन होना चाहिये, इत्यादि (91 आदि)। (अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) पंचपरमेष्ठी भी जिस कारण आत्मा मे स्थित है उस कारण आत्मा ही जीव के लिये शरणभूत है(104)। परद्रव्यो मे रत पुरुष नानाकर्मों के बन्ध को प्राप्त होता है और परद्रव्यों से विरत पुरुष नाना कर्मो से मुक्त होता है, बन्ध और मोक्ष के विषय मे जिनेन्द्र का यह (संक्षेप मे) उपदेश है (13)।

लिंगपाहुड—इसमे 22 गाथाएँ है। मुनि के लिये भावलिंग ही महत्त्वपूर्ण होता है; मात्र द्रव्य लिङ्ग से मुनिपद वास्तव मे कार्यकारी नहीं है (2)। जो पाप से मोहित है वह जिनन्द्रदेव के लिङ्ग को ग्रहणकर लिङ्गी के यथार्थभाव की हंसी करता है, वह सच्चे वेषधारियो के वेष को नष्ट करता है(3)। जो मुनिलिङ्ग को धारण कर नाचता—गाता (अथवा बाजा बजाता है) आर्तध्यान करता है, भोजन मे रस संबंधी लोलुपता धारण करता है, पृथ्वी खोदता है, वृक्षो के समूह को छेदता है और स्त्रियो से राग तथा अन्य से द्वेष करता है, वह मुनि नहीं है वरन् छल से युक्त और आचार विनय से रहित पशु है(4—5,12, 15,18)। यदि मुनि अब्रह्म का सेवन करता है, गर्वयुक्त है, संसार के कार्यों और पापों मे भाग लेता है, तथा धार्मिक गुणो की हानि करता है, तो वह नरकवास को प्राप्त होता है (6,9,10 आदि) मुनि वेश मे यदि अब्रह्म का सेवन करता है, कांदपी आदि कुत्सित भावनाओ को करता है, आहार के निमित्त दौड़ता है, कलह कर भोजन ग्रहण करता है, वह संसार में दीर्घ काल तक भ्रमण करता है।(7—9) यद्यपि जिनलिङ्ग को धारण

करता है किन्तु बिना दी गई वस्तु को (चोरी से) ग्रहण करता हुआ दूसरों की निन्दा करता है वह साधु नहीं है (14)। जो साधु व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार लेता है और उसकी स्तुति करता है, वह बालस्वभाव को प्राप्त होता है और सच्चा मुनि नहीं है (21)।

शील पाहुड— शील पर यह प्रबंध 40 गाथाओं में है। शील का अर्थ आचरण, चरित्र विशेषतः ब्रह्मचर्य है। ज्ञान और शील का विरोध नही है; यदि शील—आचरण नही है तो विषय, ज्ञान को नष्ट कर देते है (2)। चारित्ररहित ज्ञान, सम्यग्दर्शनरहित लिङ्ग और संयम रहित तप ये सभी व्यर्थ हैं। ज्ञानी पुरुष भी संसार में भ्रमण करते रहते है।, क्योकि वे विषयादिकरूप भाव मे आसक्त रहते है, किन्तु जो शीलवान् होते है। वे ज्ञानभावना सहित होकर तपश्चरण करते हुये संसार को छेद देते है। यदि ज्ञानवान् पुरुष जो विषयासक्त है मुक्त हो सकता है तो दस-पूर्वों का पाठी (रुद्र) सुरत्तपुत्त नर्क क्यो जाता? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र उन्हीं जीवो के निर्वाण का कारण बनते है जो चारित्र से शुद्ध जीवन व्यतीत करते है (7,9,11,आदि 30)। यह पर्याप्त नही है कि व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार (संभवतः धर्मशास्त्र) और न्याय शास्त्र को जानकर श्रुतधारी बन जाये (16); **(103)** मनुष्य भव सफल बनाने हेतु शीलगुणमय जीवन व्यतीत करना चाहिये, और इससे उनके देव भी प्रिय होते है। (15—17)। शीलगुण सहित जीवन आध्यात्मिक जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है; जीवदया, इन्द्रियदमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान (सम्यक्तप) ये सब शील के परिवार है। (19) विष की वेदना से पीड़ित हुआ जीव एक जन्म मे एक ही बार मरण को प्राप्त होता है परन्तु विषयरूपी विष से पीड़ित हुये जीव ससार मे पुनः पुनः जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते रहते है (22)। शील सहित उनके (सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-तप-वीर्य) साथी गुण, पवनसहित अग्नि के समान जीवो के पुरातन कर्मों को दग्ध कर देते है (34); और तभी जीव समस्त गुणो से विभूषित सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है (35)।

अष्टपाहुडों पर समालोचनात्मक व्याख्या—

श्रुतसागर ने छहपाहुडों पर सामूहिक रूप से टीका लिखी, इस तथ्य से सामान्यतः छह पाहुडों को एक समूह में ले लिया जाता है; **छप्पाहुड** गलती से कुन्दकुन्द की कृति के नाम के रूप में देखा गया ! **(104)** अंतिम दो पाहुडों पर श्रुतसागर के द्वारा किन्हीं परिस्थितियों मे टीका नहीं लिखी गयी। छह पाहुडों अथवा आठ पाहुडो पर विचार करने पर उनकी विषयवस्तु से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक पाहुड एक स्वतंत्र प्रबन्ध के रूप मे प्रयोजनार्थ है। प्रत्येक पाहुड महत्त्वपूर्ण आगम है जो सार रूप मे विषयवस्तु की प्रमुखधारा सूचित करता है, यद्यपि सामान्यतः परम्परागत ग्रंथों में, पार्श्व प्रकरणों के लिये सदैव अवकाश रहता है। उनमें से कुछ में, जैसे **चारित्तपाहुड** और **बोधपाहुड** में विषयवस्तु अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादित की गयी है, जबकि अन्य में जैसे **सुत्तपाहुड** और **भावपाहुड** मे विषयवस्तु मात्र संकलित प्रतीत होती है, यही कारण है कि **सुत्तपाहुड** में समन्वित स्त्रियों के लिये सम्भवतः तीसरा लिंङ्ग क्षुल्लिकाओं का आदेशित है। इन पाहुडों में वही प्रकरण, एक से अधिक स्थानों में प्रकट हुआ है: लिङ्ग के संबंध में **भावपाहुड** एवं **लिङ्गपाहुड** में विवेचन पाया जाता है। विषयवस्तु के सम्बन्ध में **भावपाहुड** विस्तृत

रूप से प्रकीर्णक है, अनेक प्रकार की जैन पारिभाषिकताएं मात्र निर्दिष्ट की गयी है, और रचयिता यह मानकर चलते हैं कि श्रोता (पाठक) गण उनसे पूर्व से ही परिचित हैं। कुन्दकुन्द के समय से पूर्व जैनधर्म की मत सम्बन्धी संपत्ति संख्यात्मक समूहो में विशेष व्यवस्थित रूप से विन्यासित अवश्य ही कर ली गयी होगी; अन्यथा उनकी तात्कालिक परिभाषिकपदों युक्त भूमिका अर्थहीन हो जाती। **भाव–पाहुड** मे प्राप्त अनुश्रुति निर्देश सूचित करते हैं कि ईस्वी संवत् के प्रारम्भ में पहले से ही प्रचलित अनेक जैन पौराणिक कथायें उपस्थित थीं। इन समस्त पाहुडों में प्रतिपादन की शैली व्याख्यात्मक एवं मतात्मक है, और ग्रंथकार अपने वर्णित सिद्धांतों के लिये न्यायशास्त्रीय पुष्टि की आवश्यकता कभी नहीं अनुभव करते है। कभी कभी वे अपने अनुरोध को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उपमा का आश्रय ले लेते हैं। मुझे पूरी तह जानकारी है कि प्रचलित परम्परा के आधार मात्र पर ही कुन्दकुन्द को इन पाहुडों का रचयिता स्वीकार किया गया है, और कोई साक्ष्य भी समक्ष नहीं आ रहा है, न ही सम्पूर्ण रूप से इन ग्रंथों में ऐसा कुछ है जो हमे कुन्दकुन्द को इन ग्रंथो के रचयिता के रूप से वंचित करता हो। इन पाहुडो की जिन कृतियों का मैंने उपयोग किया है, अधिकृत रूप से समीक्षा नहीं कही जा सकती है; इसलिये विशेष रूप से ऐसे परम्परागत ग्रंथों मे गाथाओ के छूट जाने और समादेशित हो जाने की प्रत्येक संभावना बनी रहती है। डब्लू. देनेके (W. Denecke) कुन्दकुन्द की ग्रंथकारिता पर शंका प्रकट करते है, किन्तु कोई निश्चित कारण नहीं देते है। द्वन्द्वात्मक रूप से उन्होने पाया है कि छहपाहुड **समयसार** आदि की अपेक्षा पश्चात्वर्ती (Yunger) (नवागत) है। किन्तु इसे सुरक्षित पथप्रदर्शक नहीं कहा जा सकता है, जब तक कि हमे समीक्षात्मक संस्करणो का पथ प्रदर्शन नहीं मिल जाता है। **प्रवचनसार** की तुलना मे इन पाहुडो में जो अपभ्रश के रूप आये हैं। उनकी उपस्थिति के कारण को मैंने **प्रवचनसार** की भाषिका पर किये गये अपने विवेचन मे समझाया है। यह विचारणीय है अपनी साहित्यिक ख्याति के कारण परम्परागत रूप से संकलित ग्रंथों का श्रेय कुन्दकुन्द को दिया जाये, किन्तु इसे सिद्ध करने के लिये हमे कुछ सशक्त साक्ष्य इतने पर्याप्त रूप से सक्षम चाहिये कि वर्तमान (प्रचलित) परम्परा को निरसित किया जा सके। निष्कर्ष रूप में मैं कहूँगा कि इन पाहुडों मे ऐसे अनेक विचार, वाक्यांश तथा वाक्य गर्भित है। जो **प्रवचनसार** की भावना और शैली (पद विन्यास) से बिलकुल एक सी लय (संगति) में है।

इन पाहुड़ो ने एक विशाल छाप छोड़ी है पश्चात्वर्ती कुछ लेखकों पर, और इस तथ्य से श्रुतसागर भी अनभिज्ञ नहीं थे। पूज्यपाद ने **मोक्खपाहुड** पर मुख्यतः आधारित व्यवस्थित रूप से सशक्ततर आधिभौतिकीय तान मे अपनी समाधिशतक (105) की रचना की है। जोइन्दु ने भी अपनी रचनाओं मे इन पाहुडो से निकट का परिचय दिखलाया है। अमृतचन्द्र के अनेक श्लोक हमें इन पाहुडों की गाथाओ का स्मरण दिलाते हैं जिनमें से वे उद्धरण भी देते हैं। गुणभद्र अपने **आत्मानुशासन** (106) में **भावपाहुड** आदि की अनेक गाथाओं का लगभग अनुगमन करते हैं।

रयणसार—इसमें 165 श्लोक हैं। इनमें से एक दोहा है और शेष गाथाएं हैं। ग्रंथकार श्रावक और मुनियों की धार्मिकचर्या पर उपदेश देना चाहते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष वही प्रवचन सदैव देता है जो परम्परागत रूप से गणधरों द्वारा तीर्थंकरों से प्राप्त हुआ है (2)। सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी वृक्ष का मूल है और वह दो प्रकार का है (4): उसके अभाव में कोई भी गुण टिक नहीं

सकते। (47 आदि); और वह कर्मों के विरुद्ध प्रत्यक्ष उपचार है (52)। सम्यग्दृष्टि में 70 गुण होते हैं और वह 44 दोषों से रहित होता है। श्रावक के कर्तव्यों में दान देना और पूजा करना निहित है तथा मुनि के ध्यान और स्वाध्याय हैं (11 आदि)। जिनो की पूजा करना चाहिये और दान, पात्र को देना चाहिये जो तीन प्रकार के होते हैं (15 आदि, 123 आदि)। जैसे उर्वराभूमि में बीज बोने पर उत्तम फसल प्राप्त होती है वैसे ही सुपात्रदान के फल से परलोक में भोगोपभोग की सामग्री उपलब्ध होती है। (17–30 आदि)। जो मनुष्य **जीर्णोद्धार**, **प्रतिष्ठा**, **जिनपूजा** आदि के लिये प्रयोजनीय द्रव्य को अपने लिये ग्रहण करता है वह निश्चित रूप से नरकगामी होता है, आदि (32 आदि)।

सम्यग्दर्शन के बिना भेदविज्ञान नहीं होता (40), धार्मिक आचरण के प्रति भक्ति नहीं होती है और न आत्मस्वभाव मे लीन हुआ जा सकता है (49 आदि)। यहाँ सम्यग्दृष्टि पुरुष अपना समय **वैराग्य और ज्ञान** में व्यतीत करता है वहाँ मिथ्यादृष्टि अपना समय लोभ, दुष्ट विचारों, आलस्य और कलह में खो देता है। सम्यग्दृष्टि इस काल मे दुर्लभ हैं, फिर भी जैसा जिनेन्द्र ने कहा है कि वर्तमान काल में धर्मध्यान संभव है (5 7 आदि)।

अशुभभाव से दुष्ट और अधार्मिक कृत्यो के मार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं, जबकि शुभभाव से पुण्य और धर्म की ओर प्रवृत्त होते है; तदनुसार नरक और स्वर्ग रूप परिणाम प्राप्त होता है (61,65 आदि)। शुभभाव कषायादि के दमन सहित होते है, अतः परिणामस्वरूप यथार्थ संयम मे परिणत होते है। ज्ञानी अपने कर्मो को शीघ्र नष्ट कर देता है और उसकी उपलब्धियाँ विविध प्रकार की होती है (71–72)।

सर्वत्र भक्ति या समर्पण अति आवश्यक होता है; सभी धार्मिक कार्य फल सहित होते है, यदि अपने गुरुओं के प्रति श्रद्धया समर्पण हो, (83 आदि)। मुनिवेष दुःखपूर्ण भार हो जाये यदि आत्मानुभूति की ओर निर्दिष्ट न हो (88 आदि)। इस काल मे **आत्म-तत्त्व** और **पर-तत्त्व** की अनुभूति के लिये स्वाध्याय परमौषधि है, अत. आगम ग्रंथों का स्वाध्याय समर्पित रूप से करना चाहिये जो ध्यान जैसा उत्तम है (95)। जब मन, वचन, काय से परमात्मा मे मन को स्थिर किया जाता है तब कर्म शीघ्र नष्ट हो जाते है (96)। यह मुनिवरो का अधिकार क्षेत्र है जो समस्त दोषपूर्ण और अधार्मिक क्रियाओ से दूर होकर अपनी आत्मा मे लीन हो जाते हैं। जो व्यवहार मे मोहित रहते है, जैसे कफ मे मक्खी लिप्त हो जाती है, वे आत्मानुभूति की आशा नहीं कर सकते, (106,93 आदि)। वे साधु जो स्व-इच्छानुसार रहते है, गुरु के साथ नहीं रहते है। और जो दोषपूर्ण चारित्र धारण करते है तथा संघ का विरोध करते हैं वे जैनधर्म के लिये अनिष्टकारी हैं। (108)। लौकिकक्रियाओ मे वृत्ति रखना और **गण** तथा **गच्छ** जैसे लौकिक उपचारो के विविध प्रकरणो मे उलझे रहना महान् पाप है (109 आदि)। मुनि को स्वच्छन्द रूप से आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु वही निर्दोष आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये, जो पाणिपात्र मे रखा जाता है (116,120 आदि)। तपश्चरण ज्ञानसहित होना चाहिये और लौकिक पूजा, सम्मान तथा लाभादि की प्रवृति नहीं होना चाहिए (131 आदि)। मोह से बंध होता है और निर्मोह से मोक्ष होता है। इस प्रकार जानकर बहिरआत्मा के प्रति मोह नहीं होना चाहिये (134) बहिरात्मा अनेक वस्तुओं और संबंधों से संघटित होता है और उसे यथार्थ आत्मस्वभाव से अलग करना चाहिये (137–40)।

आत्मानुभूति से मोक्ष होता है; इस अंत की सिद्धि के लिये ज्ञानाभ्यास महान् साधन है; और श्रावक को 53 क्रियाएं कही गयी है (156–57 आदि) रत्नत्रय की स्थिति गण और गच्छ के लिए है, विविध गुणों का अर्थ संघ है और समय शुद्ध आत्मा है; मुनि को गण आदि के प्रति मोह नहीं रखना चाहिये किन्तु उसे रत्नत्रय और उसके सहवर्ती गुणों की समाराधना करना चाहिये, ताकि उसे शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो (161 आदि)।

रयणसार पर समालोचनात्मक व्याख्या—

रयणसार ग्रंथ सम्पूर्ण रूप से अति दोषपूर्ण रूप में चला आया है। पाद टिप्पणों से, जहाँ दो हस्तलिपियों की तुलनाओ के परिणाम समन्वित हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथाओं की संख्या तथा उनका क्रम निश्चिम नही है, और यदि और भी हस्तलिपियों से तुलना की कार्य किया जाये तो वे और भी रूपान्तरित हो सकती है। इसमें विचारों की पुनरावृत्ति है, और विन्यास संतोषजनक नहीं है। यह अतिरिक्त गाथाओ के द्वारा ग्रंथ के बाधित हो जाने के कारण हुआ लगता है। यह सुस्पष्ट है तथा असाधारण है कि कुन्दकुन्द की कृतियों में मध्य में दोहा हो तथा अपभ्रंश भाषिका की लगभग आधे दर्जन श्लोक हों। जहाँ तक **रयणसार** का वर्तमान आकार है, वह सम्पूर्ण रूप मे कुन्दकुन्द द्वारा रचित नहीं माना जा सकता है। यह यथोचित सम्भव है उनकी आधार वस्तु रही हो, तिस पर भी इस वास्तविकता के लिए कुछ साक्ष्य अवश्य ही प्रस्तुत किये जाना चाहिए। कुछ ऐसे बिन्दु है जो कुन्दकुन्द की रचियता के लिए बिलकुल अनुकूल नहीं हैं; उनका नाम प्रशस्ति मे उल्लेखित नही है; कुछ श्लोक अपभ्रंश में है जो उनकी कृतियों में असामान्य है; निस्संदेह अनेक सामान्य विचार तो हैं, किन्तु कुछ ऐसी सामाजिक चर्चाएं हैं जो उनकी अन्य कृतियों में नहीं मिलती है गण, गच्छ, संघ आदि निर्दिष्ट किये गये है और गूढ़ स्पष्टीकरण देने का प्रयास किया गया है, उनकी कृतियों मे उपमा पाई जाती है, किन्तु यहाँ उपमाओं की संख्या अत्यधिक है। मेरा विचार है कि रयणसार की रचा करने वाले ग्रंथकार को कुन्दकुन्द बतलाना अभी **विचाराधीन** रखा जाना चाहिए, जब तक कि इस पक्ष या अन्य पक्ष में कुछ सशक्त साक्ष्य सामने नहीं आते।

बारस-अणुवेक्खा— इसमें 91 गाथाएं हैं। इस कृति में 12 अनुप्रेक्षाओं का वर्णन है जिनका चिन्तवन कर्मों के आसन को रोकने के लिए आवश्यक रूप से करना चाहिए। वे प्रकरण (अनुप्रेक्षाएं) निम्नलिखित हैं जिन पर मुनि को स्थिर रूप से चिन्तवन करते रहना चाहिए। 1. विविध प्रकार की सामग्री, स्वजन, बल और सौंदर्य आदि सभी शाश्वत है (1–7)। 2. मरण के समय (तीनों लोकों में) कोई भी बाह्य वस्तुएं जैसे मणि, औषधि, सेना और शस्त्रस्त्र जीव को मृत्यु से नहीं बचा सकते हैं, केवल आत्मा ही स्व का शरण है जिसका निवास पञ्चपरमेष्ठी में है (अर्थात् आत्मा स्वयं पञ्चपरमेष्ठीरूप परिणमन करता है) और जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का आवास है (8–13)। 3. जीव अकेला है, और अकेला ही किये हुए कर्म के फलो के लिये उत्तरदायी है (14×20). 4. स्वस्जन, मित्र तथा यह शरीर : ये सभी बाह्य द्रव्य है, और आत्मा से बिलकुल अन्य हैं, जो दर्शन और ज्ञान शरीर है (21–3)। 5. जीव संसार में मिथ्यात्व और मायामोहवश अनेक दुःख सहता हुआ भ्रमण करता है; जब जीव कर्मों से विमुक्त होता है तो संसार से पार हो जाता है (24–38)। 6. यह लोक (अधोलोक, मध्यमलोक

और उर्ध्वलोक के भेद) से तीन प्रकार का है जहाँ नीचे नरक और ऊपर स्वर्ग हैं, जो चेतन के अशुभोपयोग और शुभोपयोग के परिणामस्वरूप प्राप्त होते हैं; जब शुद्धोपयोग होता है तो मोक्ष प्राप्त होता है (39–42)। 7. इस संसार में प्रत्येक वस्तु मलिन है, और कर्मों से विमुक्त मात्र आत्मा ही शुद्ध है तथा अनन्त सुखों का भण्डार है (43–46)। 8. मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से कर्मास्रव होता है जो संसार का कारण है; अतः इन कारणों को दूर करना चाहिये (47–60)। 9. जिन धार्मिक क्रियाओं द्वारा कर्मास्रव का निरोध हो जाता है उनका चिन्तवन करना चाहिये (61–65) । 10. द्रव्यकर्म की दो प्रकार की निर्जरा के हेतु का विचार करना चाहिये (66–67)। 11. तब गृहस्थों का ग्यारह प्रतिमारूप धर्म और मुनियों का (उत्तमक्षमादि) दस रूप धर्म का चिंतवन करना चाहिये; अंतरंग और बहिरंग मोह का त्याग कर देना चाहिये, और आत्मा के शुद्ध स्वाभाव का चिन्तवन करना चाहिये (68–82)। 12. बोधि दुर्लभ है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये चिन्तवन करना चाहिये (83–86)। इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन (वा भावना) आध्यात्मिक रूप से फलदायी होता है तथा मोक्ष (सिद्धपद) की ओर ले जाता है। इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने निश्चय और व्यवहार का आलम्बन लेकर इस विषय को प्रतिपादित किया है (87–91)।

बारस अणुवेक्खा पर समालोचनात्मक व्याख्या –

बारस–अणुवेक्खा ग्रंथ निश्चायक नही है: जैसा कि मैने हस्तलिपि से हस्तलिपि में गाथाओं की संख्या को परिवर्तित होते हुये तुलनात्मक अध्ययन में देखा है; यहाँ तक अंतिमगाथा जिसमें कुन्दकुन्द का नाम पाया जाता है कुछ हस्तलिपियों मे उल्लेखित नहीं है। इस अवस्था में नही कहा जा सकता है। कि क्या अंतिम गाथा को कुन्दकुन्द द्वारा रचा गया था अथवा नहीं। ग्रंथ में पुरातनता (प्राचीनता) दिखाई देती है: कुछ गाथाएं **मूलाचार** के आठवे अध्याय मे उभयनिष्ठ हैं जो संभवतः सूचित करती हैं कि ये गाथाएं परम्परागत रूप से वंशागत हैं इस कृति मे से पांच गाथाएं उसी क्रम में पूज्यपाद की **सर्वार्थसिद्धि** में उद्धृत की गयी हैं; और प्रतिपादन की विधि बिलकुल परम्परागत तथा मतावलम्बी है। इस कृति में से अनेक विचार और यहाँ तक कि वाक्य भी लिये गये हैं जो पश्चात्‌वर्ती युग में अनुप्रेक्षा पर लिखे गये ग्रंथों में सुसंपादित किये गये हैं।

नियमसार (108) –इसमें पद्मप्रभमलधारिदेव की संस्कृत टीका मे सुरक्षित ग्रंथ के अनुसार 187 गाथाएं हैं। ग्रंथकार ने इस ग्रंथ को जिन वचनों के अनुसार आत्म-ध्यान के निमित्त रचा है। उनका ध्येय रत्नत्रय पर कुछ आवश्यक विवेचन देना है जो नियम से मोक्षमार्ग बनाता है (2–4)। आप्त, आगम, और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है; प्रथम दो के विवरण के पश्चात् (5–8) जैनधर्म के सिद्धांतों या तत्त्वों का विस्तृत विवरण आता है। जीव का वर्णन उसके दो उपयोगों और उसकी विभाव और स्वभाव पर्यायों द्वारा किया गया है (10–19); इसके पश्चात् अजीव तत्त्वों (द्रव्यों) का विवेचन दिया गया है, नामतः पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल; जीव सहित मिलकर छः द्रव्य कहलाते हैं (20–37)। आत्मा का कर्त्तव्य (धर्म) है कि वह बाह्य पदार्थों को त्याग दे और स्वभाव को अपनाये, क्योंकि प्रत्येक जीव, शुद्धनय (द्रव्यस्वभाव) की अपेक्षा स्वयं सिद्ध (स्वभाववाला) है (38–51) यह सम्यग्दर्शन विपरीत

अभिप्राय से रहित श्रद्धान रूप है। सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से विमुक्त (रहित) होता है, और उसमें हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान होता है(51—52)। सम्यक्चारित्र व्यवहारनय से पाँच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति के पालन रूप होता है (56—68); यह प्रकरण निश्चयनय के अनुसार कुछ व्याख्या देते हुये उपसंहारित किया गया है और अंत में पंचपरमेष्ठियो, अर्थात् अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के वर्णन दिये गये है (71—75)। इसके बाद, मोक्ष के मुमुक्षु को भेदाभ्यास या भेदविज्ञान में स्थापित करने हेतु (77—82), निश्चयनय द्वारा सम्यक्चारित्र का विवेचन दिया गया है।जिसमें (विभिन्न चिन्तवन सहित) प्रतिक्रमण (83—84), प्रत्याख्यान (95—106), चार प्रकार की आलोचना (107—12),, कायोत्सर्ग(119—23) (ये दोनों प्रायश्चित्त रूप है 113—118), सामयिक (124—33) और निवृत्ति तथा योगभक्ति, दो रूप परमभक्ति (134—40) इन षट् आवश्यको का वर्णन किया गया है। निश्चय नय के द्वारा आवश्यक की व्याख्या **अवसस्स कम्म आवस्सयं** रूप मे परिभाषित की गई है। ये प्रतिक्रमण आदि रूप आवश्यककर्म मुनि को **वीतरागचारित्र** और कषायरहित आचरण की ओर ले जाते है, ये मौखिक कर्म रूप हैं। जिन्हें (वस्तुतः) भावनारूप में परिणत करने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। आवश्यकों के अभ्यास से आत्मानुभूति होती है। (141—58) जिससे केवलज्ञान हो जाता है। जिसमे दर्शन और ज्ञान युगपत् होते है—जैसे सूर्य में प्रकाश और ताप युगपत् होते हैं, (109) किन्तु केवलज्ञान उसी समय दूसरे पदार्थों को भी प्रकाशित करता है; वास्तव में वह आत्मा का स्वभाव ही है, (ज्ञान और दर्शन दोनों स्व—पर प्रकाशक है)। केवली के विविध योग होते हुये भी (इच्छारहित होने के कारण) कोई कर्मबन्ध नहीं होता है; आयु के क्षय होने से केवली के शेष समस्त कर्म प्रकृतियाँ क्षय हो जाती है, और (समयमात्र मे) वे लोकाग्र को प्राप्त कर लेते हैं, जहाँ वे अनन्त काल तक, गमन के कारणों के अभाव से रहते है और अप्रतिम अनन्तसुख भोगते हैं (159—83)।

नियमसार पर समालोचनात्मक व्याख्या —

जो नियमसार के मात्र एक ही टीकाकार हैं उन पद्मप्रभ के प्रमाण के आधार पर नियमसार के रचयिता कुन्दकुन्द स्वीकार किये जाते है। विषय—वस्तु का विवेचन कुन्दकुन्द की योग्यता लिये है, और उनकी अन्यकृतियो के समान इसका सम्पूर्ण वातावरण सुसंगत है। विषयवस्तु का प्रतिपादन अत्यन्त सुव्यवस्थित है जिसमे मेरे विश्लेषण के अनुसार स्पष्ट होगा कि कुछ यहाँ वहाँ परम्परागत श्लोकों को छोड़ दिया जाये। इस ग्रंथ को 12 श्रुतस्कन्धों मे विभाजित करने के लिये टीकाकार पद्मप्रभ स्वयं उत्तरदायी है। उनके अध्यात्मरूप चिंतन के उच्च-संचार के प्रति पूर्ण श्रद्धा प्रकट करते हुये मै अवश्य कहूंगा कि यह विभाजन न तो मूलग्रन्थ द्वारा अनुमोदित है और न ही वह किसी प्रकार कृति को समझने में सुविधा प्रस्तुत करता है; प्रतीत होता है कि ग्रंथकार को अपनी कृति के विभाजन का कभी भी कोई अभिप्राय नहीं रहा । ग्रंथ का संरचक लक्षण, जब मूल पढ़ा जाता है तो तत्काल पाठक पर प्रभाव छोड़ता है; और इस संबंध में वह **भावपाहुड** से व्यतिरेकी (विषम) है। इस कृति में कुछ परम्परागत गाथाएं जो हैं जो उनकी अन्य कृतियों मे उपलब्ध है, और मूलाचार में भी पायी जाती हैं। जहाँ तक मैं विवेचन को समझ पाया

हूँ, कुन्दकुन्द का आवश्यक संबंधी संख्याक्रम इस प्रकार है–प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, कायोत्सर्ग, सामायिक और परमभक्ति। यह परम्परागत संख्याक्रम (110) से कुछ विलग है। जहाँ आलोचना, प्रतिक्रमण से वास्तविक निष्पादन (111) में पूर्व होने से सम्भवतः उसमें समन्वित हो जाने से, अनुपस्थित है, और परमभक्ति के स्थान में स्तुति तथा वन्दना होती है। कुन्दकुन्द ने परमभक्ति को दो रूपों में विभाजित किया है–निवृत्ति और योगभक्ति। यही स्तुति और वन्दना के समान हो सकते हैं। या तो कुन्दकुन्द परम्परागत संख्याक्रम से संलग्न नहीं रहना चाहते थे क्योंकि वे विषय को निश्चयनय द्वारा विवेचित कर रहे थे, अथवा उन्हें इन दो संख्याक्रमों में कोई सारयुक्त अंतर नहीं दिखा, अथवा उन्होने इस प्रसंग में कोई पूर्व की परम्परा समाविष्ट की हो। जैसा मैं समझता हूं, गाथा 17 में आया वाक्यांश **लोयविभागेसु** किसी विशिष्ट कृति का निर्देश नहीं करता है, अपितु लोकानुयोग समूह के साहित्य के किसी वर्ग का निर्देश करता है; जबकि गाथा 94 मे, ग्रंथकार नाम तः **प्रतिक्रमणसूत्र** द्वारा किसी कृति को सुनिश्चित रूप से निर्दिष्ट करते हैं। (112)

पंचत्थियसंगह अथवा पञ्चास्तिकायसार (113)—जिनमत के अग्र प्रसार एवं गौरवान्वित करने हेतु ग्रंथकार ने जिनसिद्धांत की भक्तिवश इस कृति की रचना की है। वे **समय** पर प्रवचन प्रस्तुत करते हैं जिसकी विषयवस्तु मूलरूप से श्रमण (महावीर) द्वारा दी गयी है और जो निर्वाण की कारण है (2)। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश इन पाँचों का समुदाय समय है जिनसे तीनो लोक सम्पन्न है; **समय** की परिभाषा इन्हीं पाँच अस्तिकाय के **समवाय** रूप है; अर्थात् वे पाँचो जो अस्तिकाय रूप में अस्तित्व स्वभाव वाले अनेक गुण और अनेक पर्यायो के साथ सुनिश्चित हैं (3–5)। इन पाँचो को काल सहित लेने पर षड् द्रव्य कहलाने लगते है। उक्त छहों द्रव्य यद्यपि परस्पर एक दूसरे मे प्रवेश कर रहे हैं, एक दूसरे को अवकाश दे रहे है, और निरंतर एक दूसरे से मिल रहे है, तथापि अपना स्वभाव नहीं छोड़ते है; और वे त्रिकालवर्ती पर्यायों में परिणमन करते हुये स्वरूप में विश्रांत होने से द्रव्य कहलाते है। (6–9)। जो सत्तारूप लक्षण से सहित है, अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिरूप से युक्त है, अथवा गुण और पर्यायो का आश्रय है, उसे द्रव्य कहते है (10)। इसके पश्चात् द्रव्य, गुण, पर्याय का विवेचन दिया गया है, और इसे सप्तभङ्गी सिद्धांत द्वारा जीव के सम्बन्ध में उदाहरण देते हुये समझाया गया है (11–22)। इस पीठिका के निष्कर्ष को, काल के विवेचन द्वारा दिया गया है, निश्चय तथा व्यवहारनय से काल द्रव्य है किन्तु अस्तिकाय नहीं है (23–26)।

इसके पश्चात् ग्रंथकार जीव के विशेष लक्षणों (स्वरूप) वर्णन करते हैं और उसकी संसारी और मोक्ष अवस्थाओं दोनो का विस्तार से विवेचन करते है (30 आदि)। शरीर में स्थित आत्मा समस्त शरीर को व्याप्त करता है (33 आदि) उसके चेतना होती है। (38–9) जो **ज्ञान** और **दर्शन** उपयोग रूप है (40–52)। वह कर्म का कर्ता है (53–56) (उदयागत द्रव्यकर्म का वेदन करते हुये जैसा भाव करता है उसका कर्ता है) तथा उनके परिणामों के लिये उत्तरदायी है (57–67); और अंततः वह जीव सामर्थ्यवान् है। **ज्ञान और दर्शन-उपयोगों** का विवेचन करते हुये ग्रंथकार जैन- मतानुसार द्रव्य और गुण के बीच संबंध बतलाते हैं। जीव का यह विवेचन दो (युग्म) प्रच्छन्न गाथाओं द्वारा जीव के एक से लेकर पृथ्वी आदि दश भेदों में दिया गया है। (71–

72)। अजीव के विवेचन में ग्रंथकार ने पुद्गलद्रव्य के विविध भेदों को देते हुये परमाणु तक का वर्णन किया है,जिसके लक्षणादि को विस्तार से बतलाया गया है। (73–82) इसके पश्चात् धर्म और अधर्म अस्तिकायों को लेकर उनकी सहकारिता (जीव और पुद्गल की गतिक्रिया एवं स्थिति मे अनुग्रह रूप) उदाहरण सहित समझायी गयी है (83–89)। आकाश के विवेचन के पश्चात् इन द्रव्यों के अस्तिकायरूप और अनस्तिकायरूप पक्षों पर कुछ गाथाएं प्राप्त होती हैं। (97–99)। इसके बाद काल का विवेचन, और परिच्छेद के अंत में दो आशीर्वाद सूचक गाथाएं दी गयी हैं (103–4)।

द्रव्यों और अस्तिकायों के विवेचन के पश्चात् ग्रंथकार उन्हीं को पदार्थरूप में विवेचित करने प्रस्तुत होते है। इस प्रकार वे प्रकाशित करते है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्ग है, और उन्हें परिभाषित करते है(104–7)। ग्रंथकार नौ पदार्थों का वर्णन करते है। (108) और उनका विवेचन क्रमानुसार देते है। जीव, उसका स्वभाव और भेद जीवविज्ञान की दृष्टि से दिया गया है (109–23)। अजीव का लक्षण बतलाकर, जीव से उसकी विपरीतता और संबंध बतलाया गया है (124–30)। पुण्य और पाप का लक्षण शुभ और अशुभ परिणाम बतलाया गया है जिनका दमन करना चाहिये (113–34)। प्रशस्तरागादि से पुण्यकर्म का आस्रव तथा प्रमादादि से पापकर्म का आस्रव होता है (135–40) कर्मास्रिव के संवर के लिये जीव को रागद्वेषमोह से परे होना चाहिए (141–3)। जो संवर और शुद्धोपयोग से युक्त हुआ अनेक प्रकार के तपो मे प्रवृत्ति करता है वह निश्चय ही बहुत से कर्मों की निर्जरा करता है (144–6)। कषाय से रंजितभावो से कर्म बंध होता है (146–50)। जब कर्मास्रव का निरोध हो जाता है और समस्त संचित कर्मो की निर्जरा करता है।, तब मोक्ष प्राप्त होता है। जहाँ जीव के अतीन्द्रिय और अव्याबाधगुणो का पूर्ण विकास हो जाता है (151–3)।

निष्कर्ष रूप में ग्रंथकार ने एक सुन्दर परिशिष्ट दिया है जिसमे संक्षेप मे मोक्ष एवं मोक्षमार्ग का प्रतिपादन व्यवहार एवं निश्चयनय द्वारा दिया गया है।(161)आदि।

पञ्चास्तिकाय पर समालोचनात्मक व्याख्या—

पञ्चास्तिकाय —कृति आजकल दो संशोधन—पाठो में उपलब्ध है: एक तो अमृतचन्द्र की संस्कृत टीका मे सुरक्षित है और दूसरी पर जयसेन ने टीका की है। पहली प्रति में 173 गाथाएं हैं और दूसरी मे 181 है। अतिरिक्त गाथाओ का बहुभाग उपयोग विवेचन के प्रसंग मे है। इस कृति का दो स्कन्धों मे विभाजन है, जहॉ प्रारंभ मे **पीठिका** और अंत मे **चूलिका** दी गयी है। इस विभाजन को अमृतचद्र ने यथोचित प्रस्तुत किया है, जो कृति को समझने मे सहायक है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के अंतिम श्लोक (103–4) और दूसरे का प्रारम्भिक सूत्र देखकर कोई भी यह कहने के लिये आकर्षित हो सकता है कि इन दो स्वतंत्र कृतियों को कुन्दकुन्द के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा एकत्रित किया गया है। निस्संदेह रूप से दो श्रुतस्कन्ध को स्वतंत्र खंडो मे रखने का अभिप्राय रहा है, प्रत्येक एक दूसरे पर प्रकाश डालते है; किंतु कुन्दकुन्द स्वयं उन्हे एक कृति मे ले आये है जैसा कि सर्वनाम **तेसिं** 'से जो द्वितीय 'श्रुतस्कन्ध की प्रारम्भिक गाथा मे आया है, सूचित है;, यह (सर्वनाम)' प्रथम श्रुतस्कन्ध)' मे विवेचित अस्तिकायादि को निर्दिष्ट करता है; अतः व्यवस्थापन

स्वयं कुन्दकुन्द द्वारा किया गया है।

शीर्षक मे **संग्रह** मे सूचित करता है कि वह कुन्दकुन्द की रचना न होकर मुख्यतः संकलन है; और कृति के कथ्य मे ऐसे संकेत है कि ग्रंथकार ने किसी प्रकरण को सम्बन्धित ढंग से विवेचित करने के प्रयास मे परम्परागत श्लोको को एकत्रित किया होगा। जीव के स्वरूप का विवेचन उस क्रम मे नही किया गया जिस क्रम मे उनका विवरण गाथा 27 आदि में दिया गया है। जैसा कि यह विश्लेषण से स्पष्ट है। यह संभवतः इस तथ्य के कारण हो कि ग्रंथकार ने परम्परागत श्लोकों को एकत्रित (संग्रहीत) किया होगा; अनेक स्थानो मे उसी विचार की पुनरावृत्ति हो जाने से प्रकरण संबंधी विवेचन बाधित हो गया है। कुछ गाथाओ (64 आदि) को अमृतचंद्र द्वारा सिद्धांत-सूत्राणि कहा गया है, जो स्वयं मे सुसंहत है किन्तु उनका प्रसंग से किंचित् मात्र संबंध है, और जो यत्र तत्र प्राप्य है (71–2); और मोक्षचूलिका एक स्वतंत्र परिच्छेद जैसा ही है। अतः कुन्दकुन्द ने अपने गुरुओ से वंशानुक्रम मे प्राप्त हो सके विशाल विस्तार के परम्परागत श्लोको मे से यह ग्रंथ संकलित कर बनाया होगा।

समयसार (114) –ग्रंथकार का प्रतिपादन स्वसमय और परसमय की व्याख्या से प्रारम्भ होता है, जो क्रमशः सम्यग्दर्शनादि स्वरूप आत्मानुभूति और द्रव्यकर्म के लिये प्रयोजित है (जो जीव दर्शनज्ञान और चारित्र मे स्थित है निश्चय से उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गल के कर्मप्रदेशो मे स्थित है उसे परसमय जानो) (2)। **एकत्व** के प्रतिष्ठित हो जाने पर (बंधकथा विसंवादिनी हो जाती है) कोई बंध नही है। (3); और ग्रंथकार का अभिप्राय इस एकत्व को निर्दिष्ट करना है जो वे निज विभव से (स्व-विभवेण) भेदविज्ञानरूप में दर्शित कराने वाले हैं। (5)। प्रत्येक मुमुक्षु का परम लक्ष्य ज्ञानी रूप मे निश्चयनय द्वारा शुद्ध आत्मा की अनुभूति कर लेना है। जिस प्रकार म्लेच्छजन म्लेच्छ भाषा के बिना वस्तुस्वरूप ग्रहण कराने के लिये शक्य नहीं है, उसी प्रकार व्यवहारनय शुद्धनिश्चय नय (परमार्थ उपदेश) की वस्तु को समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक है (7 आदि)। व्यवहारनय हमारी निर्बल भाषा की सहायता करता है जो वास्तविकता को पूर्ण रूप से व्यक्त करने मे अक्षम है (11आदि)। शुद्धनिश्चयनय आत्मा को बन्धरहित, कर्मों के स्पर्श से रहित, अन्यपने रहित, चञ्चलतारहित। विशेष और अन्य पदार्थ के संयोग से रहित अवलोकन करता है। रत्नत्रय जीव द्वारा निरंतर सेवन योग्य है, जिस प्रकार हम राजा को जानते और श्रद्धा करते है, उसी प्रकार निज आत्मा को जानकर श्रद्धाकर उसकी सेवा करना चाहिये। आत्मा को अहं और मम की समस्त मोहप्रवृत्तियो को त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि परमशुद्ध आत्मा अन्य कोई भी न हो कर स्वयं की आत्मा ही है। शरीर की नहीं वरन् उस शरीररूप मे अवतरित आत्मा के गुणो का स्तवन करना चाहिये। इस प्रकार इंद्रिय, मोहादि बाह्य पदार्थों को जीतकर–क्षीणकर पूर्णतः परभावों को छोड़ देने पर ज्ञानी मुक्त हो जाता है (14 आदि)।

आत्मा को न जानने वाले और पर को आत्मा कहने वाले कितने ही पुरुष अध्यवसान और कर्म नाकर्म आदि को जीव कहते हैं, जो वस्तुतः जीव के स्वरूप से बिलकुल भिन्न है; वे रूढ़िगत व्यवहार की भाषा मे उलझकर परमार्थवादी नही हो सकते हैं। जीव में कोई भी पौद्गलिक गुण नहीं है, ना ही वस्तुतः उसमें पुद्गलद्रव्य के परिणाम रूप जीवस्थान और गुणस्थान होते है। मात्र

व्यवहार के प्रयोजनभूत अभिप्राय से संसारी अवस्था मे जीव के वे उपचाररूप से कहे जाते हैं। यदि ये समस्त पौद्गलिक अवस्थाएं और द्रव्य जो पौद्गलिक है जीव के साथ तादात्म्य रूप मानी जाये तो जीव और पुद्गलद्रव्यो की विभाजन रेखा ही नष्ट हो जायेगी। जीवों के अनुबंध और प्रकृतियाँ नामकर्म के उदय से फलित है (39–68)।

आत्मा और कर्मास्रव के मध्य अंतर को अनुभूतकर लेना चाहिये, और क्रोधादि भावों का त्यागकर देना चाहिये, जिनमे लिप्त रहने पर जीव कर्मों के द्वारा बंध जाता है। आस्रवों का अशुचिपना और दु.खपना जानकर जीव उनके कारणो से निवृत्ति करता है। आत्मा निज स्वरूप में लीन हो और प्रत्येक परपदार्थ एवं परभावो को आत्मा से भिन्न चिन्तवन करे । आत्मा के परिणामो और पुद्गल के परिणामो मे निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; निश्चय नय से आत्मा (कर्मोदय से हुये) अपने भावो का कर्ता है जिनके निमित्त से पुद्गल कर्मों के रूप में परिणत हो जाते हैं, व्यवहारनय से कर्मों का कर्त्ता आत्मा कहा जाता है। जब आत्मा निज को ज्ञानशरीरी रूप मे अनुभूत करता है तो मिथ्यात्वादि द्वारा बंधादि को प्राप्त नहीं होता है। यदि कहा जाये कि जीव बधा नहीं है आदि, तो विसगतस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, या तो संसार नहीं है अथवा सांख्य सिद्धात जैसी न्याय से असंगत स्थिति हो जाती है (117 एवं 122)।(आत्मा जिस भाव को करता है उस भाव रूप कर्म का कर्ता होता है) वह भाव ज्ञानी जीव के ज्ञानमय होता है और अज्ञानी जीव के उसके विपरीत (अज्ञानमय) होता है। उन (समस्त) नयों के विभिन्न पक्षो से और उनके कथनो से ऊपर वही पुरुष हो जाता है जो अपने शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध हो जाता है (69–144)।

पाप और पुण्य कर्मो का तुलना क्रमश. लोहे और सुवर्ण की बेडियो से की गयी है। स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये उन दोनो से मुक्त होना चाहिये। यह आवश्यक है कि मोह का त्याग किया जाये और शुद्ध आत्मस्वरूप मे लीन हुआ जाये, अन्यथा समस्त तप एवं व्रतनियम निष्फल हो जाते है जीवादि पदार्थो का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उनका ठीक-ठीक अधिगम करना ज्ञान है और रागादि का त्याग करना चारित्र है। यह सम्यक्त्व, ज्ञान, तथा चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योकि उनसे मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायो का प्रतिहार होता है (145–163)।

मिथ्यात्वादि संसारी जीवो के भाव है जिनसे कर्मास्रव होता है । जब भाव कषाय से रंजित नहीं होते है तो बंध का कोई कारण नहीं रह जाता है। जैसे पका फल पृथ्वी पर नीचे गिर जाता है तब वह फिर बोंडी के साथ संबंध को प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार कर्मभाव पककर पूर्णतः नष्ट किया जाने पर जीव को पुनः संसार में नहीं उलझा सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने भेदविज्ञान की क्षमता से बंध से परे हैं (164–180)।

जिस प्रकार सुवर्ण अग्नि से तपाये जाने पर भी सुवर्णपने को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार कर्मोदय से तप्त हुआ ज्ञानी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता है। उसका लक्ष्य कषायादि भावों से शुद्ध आत्मा को विभेद करना होता है। समस्त परिग्रह से (सर्वसंग से) मुक्त होकर, जब वह आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है, तब कर्म और नोकर्म से उसका कोई संपर्क नहीं रह जाता है (181–192)।

सम्यग्दृष्टि जीव के सुखादि मात्र उसके कर्म संचय की निर्जरा का कारण बनते हैं क्योंकि वहां मोहादि का पूर्ण अभाव उसके होता है। वह पूर्णतः अनुभव करता है कि उसकी आत्मा मात्र

ज्ञायक है जो और किसी भी अन्य वस्तु के स्वभाव रूप नही है। जिस जीव के परमाणुमात्र भी रागादि विद्यमान है वह सर्वागम का धारी भी हो तो भी आत्मानुभूति की स्थिति स्पष्ट नहीं होती है। उसे (निरन्तर) ज्ञान स्वरूप आत्मा में लीन रहना चाहिए, इसी में (निरंतर) संतुष्ट रहना चाहिये जिसमे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। ज्ञानी सब द्रव्यों में रागादि का छोड़ने वाला है इसलिये कर्मों से लिप्त नहीं होता है। जैसे कि कीचड़ के बीच में पड़ा हुआ सोना; किन्तु अज्ञानी की तुलना लोहे से की जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव मे निःशङ्क और अन्य अङ्ग होते हैं, और वह शंका (भय) आदि से मुक्त रहता है (193–236)।

जिस प्रकार शरीर में तेल लगाये हुये कोई पुरुष यदि (बहुत) धूलि वाले स्थान में स्थित होकर विभिन्न प्रकार के व्यायाम करता है तो वह रज से लिप्त हो जाता है। उसी प्रकार जो मिथ्यादृष्टि बहुत प्रकार की चेष्टाओं तथा उपयोग मे रागादिक भावो को कर रहा है वह कर्मरूपी रज से बंध (लिप्त हो) जाता है। दूसरी ओर जब तेल दूर किया जाता है, तब नाना प्रकार के व्यायाम करते हुये भी वह रज से लिप्त नहीं होता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जो बहुत प्रकार के योगो मे प्रवर्तमान है तथापि उपयोग में रागादि भाव नही करता है वह कर्मों से नही बंधता है। जीव को सदैव कर्मो के फल के प्रति उदासीन (तटस्थ) रहना चाहिये। निश्चय रूप से कहा जाये तो अध्यवसाय (विकारी परिणामो) से बंध होता है चाहे पापपूर्ण कृत्य किया जाये या नही। जीवो के जो अध्यवसान है वह वस्तु के अवलम्बन से होता है। वस्तु से बन्ध नहीं होता है किन्तु अध्यवसान से ही बन्ध होता है (237–287)।

जैसे कोई पुरुष बेड़ी (बंधन) मे बंधा बंधनमुक्त नहीं हो सकता यदि वह मात्र बेडियो (बंधन) पर विचार करता रहे और उनको तोड़ने का प्रयास न करे; उसी प्रकार संसार मे जीव को कर्मों का बंध तोडना चाहिये ताकि वह पूर्णतः मुक्त हो सके। प्रज्ञा छेनी उसे कर्म बंधन को काटने मे सहायक होगी और तभी शुद्धत्मानुभूति होती है (288–307)।

कर्मफल अज्ञानी को अतिरिक्त बंध की ओर ले जाते है, जबकि ज्ञानी कर्मफल के द्वारा निर्जरा को प्राप्त होता हुआ आत्मस्वभाव का अनुभव करता है। सांख्यों ने जीव के संबंध मे जीव को सर्वथा अकारक—अकर्ता कहा है जिसे स्वीकार करना त्रुटिपूर्ण है (340), क्योंकि इससे कारण और कार्य तथा कर्ता और भोक्ता का संबंध स्थापित नही किया जा सकता है। रागद्वेषादिभाव जीव में देखे जाते है, पौद्गलिक वस्तुओ मे नहीं। वह परम वीतरागता का जागृत अभिप्राय है जो आत्मा के ईश्वरीय औदार्य (महानता) को महान् ऊँचाइयो तक पहुँचा देता है। ज्ञान और आत्मा में पूर्ण रूप से तादात्म्य है, न कम न अधिक, न ही ज्ञान अन्यत्र पाया जाता है और न ही अन्य किसी वस्तु से अनन्य होता है। समस्त बाह्य लिगो को छोड़कर मोक्षमार्ग के अनुसरण मे लग जाना चाहिये तथा अपने आप मे लीन हो जाना चाहिये ताकि अनन्तसुख की प्राप्ति हो सके।

समयसार पर आलोचनात्मक टिप्पण —

समयसार- को जैनों द्वारा कुन्दकुन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है, और परम्परानिष्ठ अभिमत के अनुसार उसको इतना पवित्र माना जाता है कि उसे गृहस्थो द्वारा पढ़ा जाना वर्जित है। कारण बिल्कुल स्पष्ट है—ग्रंथ में **भेदविज्ञान** जैसे आध्यात्मिक प्रकरण मुख्यतः

बरते (चर्चित किये) गये हैं; विवेचन शुद्धनिश्चयनय से किया गया है और व्यवहारनय को मात्र संभव भूलों (गलतफहमियों) को टालने के लिये समझाया गया है। अंततः निश्चयनय से दिये गये आध्यात्मिक कथन उन गृहस्थों को सामाजिक और नैतिक रूप से हानिकारक हो सकते हैं। जो आध्यात्मिक अनुशासन से प्रायः पूर्णतः शून्य हैं। बहुत से कथन चिंतवन और ध्यान की धुन मे हैं जो कभी—कभी प्रथम पुरुष में भी हैं। ग्रंथकार का अभिप्राय पाठकों पर यह छाप छोड़ना (प्रभाव डालना) है कि कर्म संसर्ग के फलस्वरूप होने वाले अज्ञान ने अनेक जीवो को आत्मस्वभाव से वंचित कर दिया है अतः प्रत्येक मुमुक्षु को सभी रागादिकों से ऊपर उठकर आत्मा को शुद्ध, प्रबुद्ध केवली और अजीव से पूर्णतः भिन्न अनुभव करना चाहिये, यही जैन आध्यात्मिक शिक्षा की सर्वोच्च पराकाष्ठा है। ग्रंथकार यह मानकर चलते हैं कि उनके पाठक जैन पारिभाषिक शब्दावलि से भिज्ञ हैं और वे आत्मा के शुद्ध स्वभाव पर मनन करते चले जाते हैं। कभी-कभी पुद्गल से भिन्ता दिखाते हुये और कभी— कभी कर्म, कर्मास्रव, कर्मबन्ध आदि के स्वभाव का विवेचन करते हुये; और कभी-कभी कर्मों के संवर और निर्जरा का उपाय या मार्ग दिखाते हुये। उनके कथनो मे सरलता और प्रत्यक्षता है जो ग्रंथकार के प्रयत्न स्वरूप ऐसी प्रतीत होती है, मानों वही अन्तरङ्ग रहस्य प्रकट किया जा रहा हो जो उन्होने स्वयं अनुभव में लाया हो। वे अत्यन्त धाराप्रवाही, प्रमुदित एवं उल्लसित होते हैं जब वे आत्म शुद्धस्वभाव पर चिंतन करते चले जाते है। इसलिए, आश्चर्य नहीं जो उन्होने व्यवस्थित प्रतिपादन कही जाने वाली वस्तु की चिन्ता नही की, जो उनके चारित्तपाहुड जैसी कृतियो मे दृष्टिगत है। प्रकरण को अधिक प्रभावशील बनाने हेतु वे विचारो और वाक्यो की पुनरावृत्ति करते जाते है। यत्र तत्र, जब ग्रंथ को बिना टीकाओं के पढ़ा जाता है, तो ऐसा अनुभव होता है। मानो प्रसंग पर परम्परागत श्लोकों के समूहो का अंतर्वेधन(अतिक्रमण) हो रहा है, जो यह सूचित करता है कि संभवतः जब इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्द द्वारा इस प्रकार का रूप प्रदान किया गया तब अनेक परम्परागत श्लोक समन्वित किये गये होगे।

ग्रंथकार का 85—86 मे दिया गया दो किरियावाद का निर्देश सुरुचिपूर्ण है, यद्यपि उस पर विस्तार से विवेचन नहीं दिया गया है। यह सिद्धांत कि जीव अपने भावों का तथा पुद्गलपरिणामों का कर्ता हो सकता है, जैन दार्शनिकों को मान्य नहीं है। श्वेताम्बर आगम में भी दो—किरियावाद, अपने विविध पक्षो में,समालोचित किया गया है : श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार इस पंथ का प्रर्वतक आर्य गंग था जो महावीर के 228 वर्ष पश्चात् हुआ (115)

दूसरा रुचिपूर्ण निर्देश 111, 122, और 340 गाथाओं में नाम से आया हुआ सांख्य सिद्धांत है। सांख्य सत्तामीमांसा की संरचना में पुरुष की स्थिति और उसका प्रकृति से संबंध ये कुछ निर्बल शिक्षाएं हैं—पुरुष सर्वदा मुक्त होने से कभी भी नहीं बंधता; वह प्रकृति है जो बांधी जाती है और मुक्त की जाती है। प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि बंध नहीं होता है तो मुक्ति की चर्चा क्यों की जाये; और यदि पुरुष और प्रकृति के बीच कोई वास्तविक सम्बन्ध (सहयोजन) नहीं है तो ऐसे संबंध की मिथ्याधारणा कैसे उदित हो सकती है? ये ही वे बिन्दु हैं, जैसे प्रकृति सभी कार्य करती है और पुरुष बिना कुछ करते हुये तटस्थ (उदासीन)है; जिन पर आक्षेप लगाया जाता है। जैन सिद्धांत प्रतिपादन इस प्रकार है कि जीव या आत्मा विविधभावों का कर्त्ता है जिससे कर्मों का

आस्रव होकर बंध होता हैं; जब कर्म के कारणो को जड़हीन कर दिया जाता है और सत्त्व को उड़ाकर कर्मों का नाश कर दिया जाता है, तो आत्मा अपनी स्वाभाविक निर्मलता को पा लेता है जो अनन्तसुख और केवलज्ञान सहित है।

समयसारग्रंथ— में अमृतचन्द्र के पुनरीक्षित पाठानुसार 415 गाथाएं हैं और जयसेन के पुनरीक्षित पाठानुसार 439 श्लोक हैं; यह केवल अतिरिक्त गाथाओं का प्रश्न ही नहीं है, परन्तु कभी-कभी जयसेन ने महत्त्वपूर्ण और स्वतन्त्र पाठभेदो को सुरक्षित रखा है; अधिकांशतः गाथाये हैं तथा 9 वें परिच्छेद मे मात्र 4 अनुष्टुप् श्लोक हैं। अमृतचन्द्र ने संपूर्ण ग्रंथ को 9 अंकों में विभाजित किया है जहाँ प्रारम्भ मे **पूर्वरङ्ग** है और अंत में एक **परिशिष्ट** है। यह विभाजन जिसे यद्यपि ग्रंथकार ने अधिकृत नहीं किया है, तथापि वह कुन्दकुन्द की इस सर्वोच्च कृति की विषयवस्तु को समझने में सहायक है।

पदसंज्ञा की विवेचना —

यद्यपि सामान्यतः **पञ्चास्तिकाय**, **प्रवचनसार** एवं **समयसार** को नाटक–त्रयी कहा जाता है, किन्तु वास्तव में केवल समयसार ही है, जिसमें विषयवस्तु ऐसे संसार के नाटक का निर्देश करती है, जिसमें जीव अजीव और आस्रव आदि नाटक के अभिनेताओं के रूप में भूमिका निभाते है, और यही (ग्रंथ) नाटक कहलाने योग्य है। अमृतचन्द्र ही प्रथम दृष्टिगत हैं जिन्होंने यह पदसंज्ञा समयसार (116) को दी, और वे अपनी समस्त टीका मे विविध निर्देश बिखराकर उसे और भी विनियोजित करना चाहते थे। जैसे— पीठिका परिच्छेद को पूर्वरंग कहा गया है; कृति को अंकों या नाटक के अंको में विभक्त किया गया है; द्वितीय अध्याय के पश्चात् विभिन्न अध्यायों के अंत और आरम्भ मे नाटकीय शब्द, जैसे निष्क्रांतः, प्रविशति आदि का उपयोग किया गया है; और वे, यत्र तत्र, संस्कृत नाटको मे बिलकुल सामान्य रूप से उपयुक्त अन्य शब्दों का उपयोग करते हैं। जयसेन ने भी इन शब्दो को प्रयुक्त किया है, किन्तु उन्होने अध्यायों को अधिकार कहा है।

4. कुन्दकुन्द का प्रवचनसार

(अ) प्रवचनसार का अध्ययन

प्राच्यविद्याध्ययन में प्रवचनसार—

कुन्दकुन्द का **पवयणसार** अथवा **प्रवचनसार** जैन समाज में विशेष लोकप्रिय, और प्रायः प्रत्येक दिगम्बर भंडार (संग्रह) मे उसकी प्रतियाँ प्राप्त हो जाती हैं। (117); किन्तु विशेषकर इस कारण कि दिगम्बर (जैन) दूसरो के लिए ग्रंथो के अपने भंडार को खोलने में इतना अधिक विरोध (अरुचि) रखते थे कि उसकी हस्तलिपियाँ बहुत समय पश्चात् (अभी–अभी) प्राच्यविद्याविद् लोगो के हाथ मे आई। बूलर (Buhler) को इसका नाम इस रूप मे ज्ञात था कि वह दिगम्बर साहित्य के द्रव्यानुयोग समूह की एक पवित्र कृति है।(118) के.बी. पाठक (K.B. Pathak) ने भी उसे कुंदकुंद की कृति निर्दिष्ट की है। 119 वे स्वर्गीय डा. आर.जी भंण्डारकर (R. G. Bhandarkar) थे जो प्राच्यविद्या के गगनमण्डल में सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न एव स्थिर ध्रुवतारे की भाति थे जिन्होने अपनी 1883–4 की चिरस्मरणीय रिपोर्ट मे **प्रवचनसार** से कुछ उद्धरण दिये थे तथा कुछ गाथाओ के अनुवाद सहित उसका विश्लेषण भी दिया था, निष्कर्ष मे उन्होने कुछ जैन सिद्धांतो की तुलना सांख्य, वेदांत और बौद्धधर्म के सिद्धांतो से की थी तथा जैनधर्म का कालक्रम संम्बन्धी मूल्याकन का प्रयास एक व्यवस्थावाद (तंत्रप्रणाली) (System) के रूप मे किया था। उनके कुछ निष्कर्ष इतने अधिक असाधारण थे कि उन्होंने प्रायः तात्कालिक ध्यान आकर्पित किया और डा. जैकोबी (Jacobi) द्वारा उनकी खोजपूर्ण छानबीन तथा समालोचना की गयी (120) साथ ही जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उनकी समालोचना का उत्तर भंडारकर द्वारा कभी नहीं दिया गया प्रतीत होता है; सम्भवतः उन्हे इसके लिये तत्काल अवसर नही मिल पाया था। इसके आगे, दिगम्बर हस्तलिपियो के स्ट्रासबर्ग संग्रह मे **प्रवचनसार** को स्थान प्राप्त है, और परिणामतः ल्यूमाँ (Leumann) द्वारा अवलोकित हुआ है। (121) पिशेल (Pischel) ने अपने प्राकृतभाषिकाओं का तुलनात्मक व्याकरण मे (122) भण्डारकर द्वारा उद्धृत गाथाओ का व्याकरणीय अवलोकन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस भाषिका को जैन शौरसेनी पदसंज्ञा दी जाये। बाद मे, उसके प्रकाशन (123) के समय से **प्रवचनसार** का स्थान जैनधर्म के महत्त्वपूर्ण ग्रंथो की सूची में अपरिवर्ती रूप से प्राप्त है।(124)।

(ब) प्रवचनसार का मूल पाठ

टीका द्वारा प्रभावित मूलपाठ—

प्रवचनसार की हस्तलिपियो मे अनेक कारणों वश मूलपाठ के साथ एक या अन्य टीकाएं

रहती है। एक लंबे समय से दिगम्बरों में संस्कृत व्याख्या की सहायता के बिना प्राकृतगाथाओं के अध्ययन का अभ्यास उपयोग मे नहीं है। सम्पूर्ण मूलपाठ बिना टीका के समझना बड़ा कठिन है; और अंततः पहले से ऐसी प्रवृत्ति है कि यदि प्रत्यक्ष गुरु उपलब्ध न हो तो **प्रवचनसार** जैसी प्रामाणिक कृति का टीका की सहायता से अध्ययन किया जाना चाहिये। यदि कुछ हस्तलिपियाँ बिना टीका सहित उपलब्ध होती भी हों, तो वे इतनी पुरानी हो चुकी होती हैं। कि उसकी टीकासहित किसी हस्तलिपि से, नकल कर बनाए जाने की प्रत्येक संभावना होती है।

मूलपाठ के दो पाठभेद–

प्रवचनसार– का मूलपाठ दो पाठभेदों (Recensions) मे सुरक्षित है, एक तो अमृतचन्द्र की टीका सहित, तथा दूसरा जयसेन एवं अन्य टीकाकारों द्वारा अंगीकृत । अमृतचंद्र के अनुसार उसमें तीन श्रुतस्कन्धो मे विभाजित 275 गाथाएं हैं।
(125) इन श्रुतस्कन्धो के नाम ज्ञानतत्त्व, ज्ञेयतत्व और चरणतत्त्व है तथा क्रमशः 92,108 और 75 गाथाएं हैं। जयसेन ने भी तीन विभाजन लिये है, उन्हें अधिकार कहा है। टीका लिखते समय उनके समक्ष अमृतचन्द्र की टीका थी जिसका उन्होंने अनुगमन (तीन अधिकार विभाजन रूप मे) किया। किन्तु उनके अनुसार गाथाओं की संख्या 311 है। प्रत्येक अधिकार में क्रमशः 101, 113, और 97 गाथाएं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र का पाठ–भेद प्रत्येक परिच्छेद में लघुतर है और इस बात से जयसेन बिलकुल भिन्न हैं। (126) जयसेन के समक्ष एक निश्चित मूलपाठ (127) है, जिसे उन्होंने अपनाया है। यद्यपि उनके पूर्ववर्ती टीकाकार अमृतचंद्र ने लघुतर पाठ भेद को अपनाया है जिनका जयसेन ने समस्त दार्शनिक विवेचनों में अनुगमन किया है। कन्नड टीकाकार बालचन्द्र ने जयसेन का अनुगमन किया है। प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध मे उनकी टीका की प्रतिलिप का मैने परीक्षण किया है। वह दोषपूर्ण है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रंथ का उनका रूपान्तरण अमृतचन्द्र के रूपान्तरण की अपेक्षा जयसेन के रूपान्तरण से निकटतर है। इस प्रकार अमृतचन्द्र का पाठ भेद लघुतर है तथा स्वयं प्रतिष्ठित है।

मूलपाठीय समालोचना के मानकसिद्धांत और अतिरिक्तगाथाओं का स्वरूप–

वस्तुनिष्ठ मानको को प्रयुक्त करना, बहुत कठिन है। फिर कोई विशेष गाथा स्वयं ग्रंथकार द्वारा मूलपाठ में मूल रूप से समन्वित की गयी है अथवा बाद में जोड़ी गयी हे, यह निर्णीत करना भी बहुत कठिन है; कुन्दकुन्द के ग्रंथो का संकलनीय लक्षण इस मानक सिद्धांत को अमान्य करता है। कि कोई गाथा किसी प्रसंग मे उपयुक्त है अथवा नही। उपलब्ध हस्तलिपियाँ एक या दूसरी टीका सहित हैं, इसलिये वे पहले से ही किसी विशेष टीका के प्रभाव में हैं। साथ ही अंततः यह कि कोई गाथा किसी विशेष प्रसंग मे क्या मान्य की जा सकती है, **प्रवचनसार** जैसी कृतियो के लिये निश्चित रूप से व्यक्ति परक मानक हो सकता है। वह विश्वसनीय साक्ष्य होगा जो किसी विशेष गाथा को शंकास्पद प्रामाणिकता वाली बना देगा, यदि वही गाथा किन्ही दूसरी कृतियों मे अधिक उपयुक्त प्रसंग में प्रकट होती है; किन्तु वह भी निष्कर्षपूर्ण नहीं होगी, क्योंकि अनेक परम्परागत श्लोक स्वतंत्रतापूर्वक वंशानुक्रम में प्राप्त होने की संभावना है। इन परिस्थितियो में सुरक्षित मार्ग यह होगा कि दीर्घतर पाठभेद में इन गाथाओं की विषयवस्तु तथा

सामान्यस्वरूप को सूचित किया जाये और देखा जाये कि मूलपाठ में उनकी स्थिति क्या है?

पुस्तक I

19 *1 यह पूर्व गाथा पर पार्श्व टिप्पणी जैसी है और मूलपाठ को अत्यधिक बाधा नही पहुंचाती है।

52 *2 यह नामस्क्रियात्मक है और उपपरिच्छेद के अंत में आयी है; नमस्क्रियात्मक (वन्दनात्मक) गाथा कुन्दकुन्द की कृतियों मे मध्य में भी पायी जाना असामान्य नहीं है। उदाहरणार्थ देखिये I, 82

68 *3–4 ये दोनो उप–परिच्छेद के अंत में आती है; अर्हत् और सिद्ध के लक्षण बतलाये गये हैं और सिद्ध को नमस्कार किया गया है।

79 *5–6 देव का लक्षण बतलाते हुये प्रकरण को निरन्तर रखा गया है, दूसरी गाथा वन्दनात्मक है।

82 *7 पिछली गाथा की वन्दना को निरन्तर रखा गया है।

92 *8–9 अंतिम तथा आंशिक मंगलाचरणात्मक गाथाएं।

पुस्तक II

*1 प्रारम्भिक मङ्गल जो प्रायः अपरिहार्य है।

43 *2 जब ग्रंथकार ने पिछली गाथा में **णत्थि पदेसत्ति कालस्स** कहा है तो आगे स्पष्टीकरण की अवश्यकता प्रतीत होती है, और उसे इस गाथा द्वारा पूर्ण किया गया है।

53 *3 पिछली गाथा मे उल्लिखित चार (जीव) प्राणो के अगले भेदों को यह गाथा बतलाती है; इस गाथा का अभाव मूलपाठ को बाधित नहीं करेगा।

95 *4 इस गाथा का पिछली गाथा से कोई दूरस्थ संबंध है; कुछ सीमा तक वह मूलपाठ को बाधित करती है; वह प्रभाचन्द्र की टीका मे समन्वित नहीं है; और अंततः वह गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, 163 मे भी आयी है।

पुस्तकIII

17 *1–2 पिछली गाथा का बिन्दु उदाहरण सहित विस्तृत किया गया है; प्रतीत होता है कि वे प्रसंग के बिलकुल उपयुक्त है।

20 *3–5 **परिग्रह** से दूर रहने का महत्त्व समझाया गया है, इन गाथाओं में वस्त्रों, तूंबा पात्र का उपयोग करने के विरुद्ध तर्क दिये गये है।

24*6–16 शरीर की ओर ध्यान न देने सम्बन्धी विवेचन, स्त्रीमुक्ति के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, और आर्यिका के साधुलिङ्ग का वर्णन किया गया है।

26 *17 यह गाथा बतलाती है कि किस प्रकार मुनि प्रमादशील हो जाता है; मेरे विचार से यह मूलपाठ को कुछ सीमा तक बाधित करती है।

29 *18–20 मुनि के निर्दोष आहार के स्वरूप का विवेचन किया गया है, मांस के दोष प्रस्तुत किये गये हैं।

39 *21 उक्त प्रसंग में विवेचित उसी विचार को आगे विशदरूप से समझाया गया है।

68 *22 कुछ अतिरिक्त स्पष्टीकरण; प्रसंग बाधित नहीं होता है यदि इसे अलग भी कर दियो

जाये; यह **पञ्चास्तिकाय** 137 मे आयी है जहाँ वह अधिक उपयुक्त है।

अतिरिक्त गाथाओं का वर्गीकरण एवं छानबीन–

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि ये गाथाएं तीन सुविधाजनक शीर्षकों में वर्गीकृत की जा सकती है–प्रथम तो वे गाथाएं जिनमे वन्दना और मंगलाचरण है, नामतः I,*2, *4, *6, *7, *8-9; II, *1, *5; दूसरे वे गाथाएं जिनमे स्पष्टीकरण और विशद विवरण है, नामतः I, *1, *3, *5, II *2, *3, III, *1-2, *18-20, *21, *22; और अंत मे वे गाथाएं जिनमे अतिरिक्त सूचना दी गयी है, नामतः, II, *4; III*3-5, *6-16,*17। प्रथम दो समूहों (वर्गीकरणो) मे कुछ गाथाएं उदासीन लक्षण वाली है अर्थात् यदि वे अलग भी कर दी जायें तो उनका अभाव प्रतीत नहीं होगा, और यदि वे रखी भी जायें तो भी वे **प्रवचनसार** के सम्पूर्ण रूप की विषयवस्तु मे कोई सारभूतता (महत्त्व) नहीं जोड़ेगी। अत. वह अंतिम समूह है जिसमे छानवीन की आवश्यकता है। तृतीय समूह (वर्ग) मे प्रयोज्य मुख्य मानक यह है कि क्या इन गाथाओ द्वारा अतिरिक्त सूचना दी गयी है अथवा वह कुन्दकुन्द की अन्य कृतियों की विषयवस्तु से असंगति है। यदि कोई असंगति है तो गाथाओं को शंकास्पद प्रामाणिकता रूप मे देखा जायेगा; और यदि कुन्दकुन्द की अन्य कृतियो मे ऐसी ही विषयवस्तु पायी जाती है तो वे स्वीकार योग्य व्यवहृत होंगी, क्योकि परम्परागत लक्षणवाली कृतियो मे किसी विचार की पुनरावृत्ति असामान्य नही है। II *4, की स्थिति विषेशकर उस विशेष प्रसंग मे शंकास्पद है। III, *3-5 मे वस्त्रो के उपयोग का प्रतिवाद 28 मूलगुणो मे से एक का विस्तार मात्र है +III,4,8-9 आदि), और यह विषय उनके ग्रंथो चारित्तपाहुड (20 आदि), सुत्तपाहुड(17 आदि)बोधपाहुड (51आदि) तथा अन्य ग्रंथो में विस्तार से विवेचित किया गया है। अतः यह प्रकरण कुन्दकुन्द के विवेचनो से बिलकुल तालमेल रखता है; कि स्त्रियाँ मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकती है। जैसा IIIमे प्रस्तुत किया गया है।*6–16 ऐसा प्रकरण है जो श्वेताम्बरों के दृष्टिकोण के विरोध मे दिगम्बर दृष्टिकोण प्ररूपित करता है। यह केवल यहाँ ही नही दिया गया है, वरन् सुत्तपाहुड (22 आदि) मे भी दिया गया है कि कुन्दकुन्द प्रायः उसी तालमेल मे अपने दृष्टिकोणो का कथन करते हैं। आगे, यह मान भी लिया जाये कि वे बिना नामोल्लेख किये श्वेताम्बरो की कटु आलोचना कर रहे है इसमे बिलकुल भी कालनिर्धारण त्रुटि नही है, क्योंकि जैसा पूर्व में देखा जा चुका है कि कुन्दकुन्द जैन संघभेद के पश्चात् हुए। III,*17, की विषयवस्तु में कोई विशेषता नही है, यद्यपि गाथा मूलपाठ को बाधित करती है। अतः निष्कर्ष रूप मे, मुझे नहीं लगता कि इन अतिरिक्त गाथाओ की कुन्दकुन्द द्वारा उनकी ग्रंथकारिता, संकलक अथवा संरचयिता के रूप मे, उनके विरोध मे कोई सशक्त स्थिति है! अपवादरूप मे एक या दो गाथाएं है जिनकी स्थिति उस प्रसंग में मुझे शंकास्पद जंची है।

अमृतचन्द्र के पाठभेद पर समालोचनात्मक प्रकाश–

अब तात्कालिक प्रश्न जो हमारे समक्ष उपस्थित है वह यह है कि अमृतचन्द्र ने इन गाथाओ को अपनी टीका मे समन्वित क्यों नहीं किया? मूलपाठीय तद्रूपता और शाब्दिक अनुवाद उनकी टीका के लक्ष्य नही हैं। उनकी टीका **भाष्य** जैसी है जहाँ वे **प्रवचनसार** की विषयवस्तु का

मात्र प्रतिपादन अतिरिक्त पुट के साथ और व्यवस्थित ढंग से देना चाहते हैं। यदि उनका अभिप्राय यही है तो उन उदासीन गाथाओ की प्रविष्टि करने की चिंता नहीं करेंगे जो **प्रवचनसार** की विषयवस्तु मे सारभूत रूप से अंशदान नहीं देतीं। कुछ सीमा तक यह कारण प्रथम दो समूहो (वर्गों) में समन्वित गाथाओ को उनके द्वारा छोडने के विषय में समझा जा सकता है। फिर भी यह चाहा जा सकता है कि उन्हे II,*1, 43 *2,; III, 17*1-2, 29*18-20 आदि गाथाओ को प्रतिधारित (सुरक्षित) रखना चाहिये था।

अनेक पूर्ववर्ती प्राकृत गाथाओं का अमृतचन्द्र द्वारा अपनी कृतियो मे अनुगमन किया गया है। कुछ गाथाएं, जो उनके द्वारा **प्रवचनसार** पाठभेद मे समन्वित नहीं की गयीं तथापि उन्हे पहले से ही ज्ञात थी, जैसा कि उनकी अन्य कृतियो मे आये संस्कृत श्लोको से निम्नलिखित तुलना से स्पष्ट है–

1. प्रवचनसार I, 43 *2 :

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झिय कालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं।।

मिलान करिए, तत्त्वार्थसार (128)III,4:

बिना कालेन शेषाणि द्रव्याणि जिन –पुङ्गवैः
पञ्चास्तिकायाः कथिताः प्रदेशानां बहुत्वतः।।

2. प्रवचनसार III , 17 * 1-2 :

मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्प–पमाणदो दिट्ठो ।

मिलान करिए, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (129) III, 12 :

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।

3. प्रवचनसार III, 29 * 18-9 :

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
संतत्तिम् उववादो तज्जादीणं णिगोदाणं।।
जो पक्कंम् अपक्कं वा पेसीं मंसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंड जीवाणं अणेग — कोडीणं।।

मिलान करिए , पुरुषार्थ द्धियुपाय 67—&

आमास्वपि पक्वास्वपि बिपच्यमानासु मांस–पेशीषु।
सातत्येनोत्पादस् तज्जातीनां निगोतानाम्।।
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशित– पेशीम्।
स निहन्ति सतत–निचितं पिण्डं बहु– जीवकोटीनाम् ।।

आगे की कुछ गाथाएं अत्यन्त प्राचीन हैं। जिनकी अमृतचन्द्र ने प्रविष्टि नहीं की है, उदाहरणार्थ ; III 17 * 1-2

उच्चालियह्मि पाए इरिया–समिदस्स णिग्गमट्ठाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मारेज्ज तं जोगम् आसेज्ज ।।1।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहो च्चिय अज्झप्प– पमाणदो दिट्ठो ।।2।।

पूज्यपाद ने उन्हें, पिछली गाथा, नामतः प्रवचनसार की III, 17 के साथ अपनी

सर्वार्थसिद्धि (vii,13) में, उद्धृत किया है। अकलंक ने भी उन्हे अपने **राजवार्तिक** (131) (ग्रंथ) में उद्धृत किया है। साथ ही, उन्हें धवला टीका (132) में कोई दो दर्जन गाथाओं के मध्य में उद्धृत किया गया है जिनमें से मात्र कुछ गाथाएं **प्रवचनसार** में प्राप्त हैं। हरिभद्र ने भी उन्हें **दसवेयालियसुत्त** (133) की अपनी टीका में उद्धृत किया है, अन्तर इतना है कि उनके उद्धरणों में महाराष्ट्री झलक है, और यह कि अंतिम पंक्ति भिन्न है। इन श्लोकों में परम्परागत रूप है, और उन्हें साहित्य के उस क्षेत्र तक खोजा जा सकता है जो कभी दिगम्बरों और श्वेताम्बरों की सामान्य सम्पत्ति रूप थी। (134) कोई कारण नहीं दिखता कि अमृतचंद्र ने इन श्लोकों को छोड़ दिया होगा, जिनमें से कुछ को उन्होंने अपनी रचनाओं में रूपान्तरित (अनुवादित) किया है और जिनमें से कुछ पर्याप्त प्राचीन हैं तथा दोनों सम्प्रदायों के लिए प्रामाणिक हैं, और यह उनका आशय या अभिप्राय रहा है ऐसा बतलाना उचित नहीं होगा, जबकि हमारे पास इतने अपर्याप्त साक्ष्य है।

इसके पश्चात् तृतीय समूह की कुछ गाथाएं शेष रहतीं हैं, नामतः III, 20 * 3-5, 24 * 6-16. इन गाथाओं की विषयवस्तु श्वेताम्बरो के विरोध में है, जो मुनि के लिए भिक्षा—पात्र को मान्यता देते है और स्त्री को उसी जन्म (भव) में मुक्ति की मान्यता स्वीकार करते हैं। सुझाव के रूप मे मेरा अनुमान है कि अमृतचंद्र इतने महान् आध्यात्मिक (पुरुष) थे कि वे सम्प्रदायवादी खण्डनमण्डन में प्रविष्ट नहीं हो सकते थे (135) और सम्भवतः वे अपनी टीका को कुन्दकुन्द के उदात्त कथनो को सुस्पष्ट और तीव्र सम्प्रदायवादी कटु आलोचना से परे रखकर (निरसितकर) समस्त सम्प्रदायों के लिए मान्य (ग्राह्य) बनाना चाहते थे।

(स) प्रवचनसार का सारांश (136)

भाग (पुस्तक) I

ग्रंथकार वर्द्धमान को, अवशिष्ट तीर्थंकरो को, सिद्धो को और महामुनियों को एक साथ तथा पृथक्—पृथक् रूप से और अंत में मानुषक्षेत्र के वर्तमान तीर्थकरो को नमस्कार करते हुए वन्दना करते है। उसके पश्चात् वे अपना प्रयोजन घोषित करते है कि वे उनके विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान आश्रम को प्राप्त हो साम्यभाव को प्राप्त होते है। (जिससे निर्वाण संपत्ति प्राप्ति हो) (1—6)।

द्रव्य जिस काल मे जिस रूप परिणमन करता है उस काल में वह उस रूप हो जाता है; अतः धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म हो जाता है (8), और धर्म रूप आत्मा का परिणाम शम या साम्यभाव कहलाता है (समानार्थी है) (7)। पर्याय के बिना अर्थ नहीं होता और अर्थ के बिना पर्याय नही रहता है। द्रव्य, गुण और पर्याय में स्थित रहने वाला अर्थ ही अस्तित्व गुण से युक्त होता है (10); अतः जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभ रूप परिणमन करता है, उस समय शुभ या अशुभ रूप हो जाता है और जिस समय शुद्ध रूप परिणमन करता है उस समय शुभाशुभ से रहित (शुद्ध रूप परिणाम का सद्भाव) हो जाता है (9)। शुद्धोपयोग (137) से जीव निर्वाण, अनन्त—अतीन्द्रिय— सुख को प्राप्त होता है। शुभोपयोग से स्वर्ग और अशुभोपयोग से निरन्तर दुष्ट मानव, तिर्यंच और नारक भवों में भ्रमण को प्राप्त होता है (11—13)। जिसने पदार्थों और उनके श्रुत को भलीभांति जान लिया है, जो संयम और तप सहित है, जिसका राग नष्ट हो चुका है और जो सुख—दुःख में समता परिणाम रखता है ऐसा श्रमण शुद्धोपयोगधारी कहा गया है (14)।

इस शुद्धोपयोग से जीव चार घातिया कर्मो से मुक्त होकर केवली एवं स्वयंपने को प्राप्त

होता है, तथा इसीलिए स्वयंभू कहलाने लगता है (15–16)। जो जीव स्वयंभू पद को प्राप्त हुआ है उसी का उत्पाद, विनाश रहित है और विनाश, उत्पादरहित है। इतना होने पर भी उसके स्थिति, उत्पाद और नाश का समवाय रहता है (17–18)। इस अवस्था मे कर्मों से विमुक्त हो जाने के कारण आत्मा अनन्तवीर्य और अतीन्द्रियता का धारी हो जाता है, इस प्रकार शुद्धोपयोग के परिणामस्वरूप केवल ज्ञान और (अतीन्द्रिय) सुख प्राप्त कर लेता है (19)।

i) . केवलज्ञानी (अतीन्द्रियपने के कारण) शरीरगत सुख और दु:ख से परे है (20)। केवलज्ञानी को समस्त द्रव्य (और उनकी पर्यायें सदा) प्रत्यक्ष रहती हैं जो उसके ऐंद्रियिक अवग्रहादिक क्रियाओ से रहित होती है (21–22)। इस प्रकार आत्मा ज्ञान के बराबर और ज्ञान ज्ञेय के बराबर कहा गया है, जिसके मत मे आत्मा ज्ञान प्रमाण नहीं प्रतिष्ठित है उसके मत में वह आत्मा निश्चय ही ज्ञान से हीन अथवा अधिक होगा। आत्मा ज्ञान से हीन होने पर अचेतन होगा और ज्ञान से अधिक होने पर ज्ञानातिरिक्त पदार्थ को कैसे जानेगा? (23–25)। ज्ञान समस्त ज्ञेय पदार्थों मे ज्ञानमय होने से सर्वज्ञ सर्वव्यापक है और ज्ञेय पदार्थ संपन्न सर्वलोक में तद्‌गत है। ज्ञान मात्र आत्मा का स्वभाव है और सर्वज्ञ जीव के लिए समस्त पदार्थ ज्ञेय स्वरूप हैं, मानों वे ज्ञेय ज्ञानी आत्मा मे प्रविष्ट न होते हुए भी पृथक् रूप रहते हुए ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध सहित हैं (26–29)। जिस प्रकार दूध मे डुबाया हुआ इंद्रनीलमणि दूध को अपनी कांति से अभिभूत कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान भी पदार्थों को अभिभूत कर (ज्ञान रूप बनाकर उन्हे) प्रकाशित कर देता है, सभी पदार्थ ज्ञान की सर्वव्यापकता से उसमे झलक जाते हैं, इस (देखने–जानने रूप) क्रिया मे केवली न तो कुछ छोड़ते है नहीं कुछ ग्रहण करते हैं (30–32)।

जो जानता है वह ज्ञान है, आत्मा ज्ञान के द्वारा ज्ञायक नहीं है किन्तु वह स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमन करता है। जब ज्ञायक रूप में जीव सम्पूर्ण रूप से केवलज्ञान को प्राप्त होता है तब प्रसिद्ध जीव व पुद्गलादिक द्रव्य (जातियो) की वे समस्त अतीत. वर्तमान एवं अनागत पर्यायें उस ज्ञान में प्रतिभासित होती है (35–37)। केवलज्ञान की दिव्यता इसी में है कि वह अजात (अनुत्पन्न) और प्रलयित (विनष्ट) पर्याय को प्रत्यक्षवत् स्पष्ट जानता है, जो इन्द्रियो से अप्रत्यक्ष और परोक्ष, रूप ज्ञान से (इस प्रकार) नहीं जाने जा सकते हैं (38–41)। इस प्रकार जानने की क्रिया प्रतिक्रियाकारी–कर्मों के नाश से स्वाभाविक एवं अपरिहार्य रूप प्रकट हो जाती है, और चूंकि केवली (अरहंत) के मोहरागद्वेषादि का उदय न होने से समस्त क्रियाएं इच्छा के अभाव मे होती है जिससे वे उनके बन्ध का कारण नहीं होतीं (42–46, 52)।

केवली (जिनेन्द्र) का ज्ञान अतीतादि तीन कालो से सदा विषम, लोकालोक में सर्वत्र विद्यमान, नाना जाति के समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है। एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं और द्रव्यो के समूह भी अनन्त हैं; उन्हें क्रमवर्ती रूप से जानना असम्भव है; अत: मात्र एक द्रव्य को पर्यायों सहित जानने के लिए यह आवश्यक है कि तीनों काल और तीनों लोकों के पदार्थों को युगपत् जाने, साथ ही रागद्वेष से परे रहे (49–52)। यह केवलज्ञान जो अतीन्द्रिय है वह अमूर्तिक द्रव्यो के परिणामों को देख सकता है, और इसलिए वह उत्कृष्ट है। जीव जब इंद्रियों के द्वारा ज्ञान का उपयोग करता है, तो उसे इन्द्रियजन्य (क्षायोपशमिक) ज्ञान होता है उससे उसे केवल मूर्तिक पदार्थों का ज्ञान होता है और कभी वही भी नहीं होता है। वह इंद्रियजन्य ज्ञान युगपत् नहीं हो

सकता है, प्रतिपक्ष से सहित है और पराधीन होने से कादाचित्क है, आवश्यकीय एवं स्वाभाविक रूप से जीव का नहीं है, अतः जो उनके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान जीव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, अतः जो उनके द्वा इस प्रकार वह मात्र केवलज्ञान है जिससे आत्मा प्रत्यक्ष रूप से पदार्थों को बिना इंद्रियों की सहायता के जानता है, अतः वह प्रत्यक्ष ज्ञान है (53–58)।

ii) जो स्वयं उत्पन्न हुआ है, परिपूर्ण है, अनन्त पदार्थो मे विस्तृत है, (निर्मल है), अवग्रहादि क्रम से रहित है ऐसा ज्ञान ही निश्चय सुख है जो 'केवल' इस नाम वाला ज्ञान है वह सुख है (और वही सुख सबके जानने रूप परिणाम है) उस केवलज्ञान के खेद नहीं कहा गया है क्योंकि घातिया कर्म अभाव (क्षय) को प्राप्त हुए हैं। प्रत्येक इष्ट उसमे प्राप्त हो जाता है, और उसी केवलज्ञान का श्रद्धान समस्त भव्यजीव करते है। सहजोत्पन्न इन्द्रियों से पीड़ित विभिन्न भवों में भ्रमणशील जीव उस इंद्रिय जन्य दुःख को न सहते हुए रमणीक विषयो मे क्रीड़ा करते है किन्तु यह इंद्रिय–विषयो मे क्रीड़ा (प्रीति/आनद) स्वयं दुःख ही है। आत्मा ही स्वयं सुख रूप होता है और शारीरिक सुख बिलकुल भी सुख नहीं है। जब आत्मा ही स्वयं सुख रूप है तो इंद्रियो से आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा व्यर्थ है। वह मुक्त जीव ही है जिसे ज्ञान और सुख दोनों प्राप्त होते है। (जो पराधीन नहीं है) जैसे सूर्य प्रकाश एवं उष्णता दोनों से सम्पन्न रहता है (59–68)।

जो आत्मा देव–यति–गुरु की पूजा मे, दान मे, (गुणव्रत/महाव्रत रूप) उत्तम शीलों मे और उपवासादि शुभोपयोग मे लीन रहता है वह तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक इन्द्रियजन्य विविधसुखों को प्राप्त करता है। देवो के भी स्वभाव–जन्य सुख नहीं है वे शरीर की वेदना से पीड़ित होकर रमणीय विषयो मे रमण करते है। इन शुभोपयोगात्मक भोगो से शरीरी अवस्था ही की वृद्धि होती है। इनसे समस्तजीवो की विषयतृष्णा बढ़ती जाती है और उनसे कभी तृप्ति नहीं होती है। जो सुख इंदियो से प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधा सहित है, बीच मे नष्ट हो जाने वाला है, बंध का कारण है और संकट उत्पन्न करने वाला (विषम) है अतः उसे पूर्ण रूपेण त्याग देना चाहिए। इसकी पूर्णरूपेण अनुभूति करना चाहिए और विभिन्न पदार्थो के प्रति रागद्वेष का त्याग कर देना चाहिए। (इसप्रकार) शुद्धोपयोग को परिष्कृत करना चाहिए, जिससे शरीरजन्य दु.ख (का अनुभव न होकर) वे नष्ट हो जायें (69–78)। मोह से शुद्ध आत्मा को पाने मे बड़ी बाधा है, जो अरहंत को पूर्णरूपेण, समस्त स्वरूप से जानता है, वह अपनी आत्मा के स्वरूप को जान लेता है और उसका मोह (शीघ्र) नष्ट हो जाता है। सभी अरहन्त मोह राग और द्वेष से मुक्त होकर शुद्ध आत्मोपयोग द्वारा कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए है, और उन्होने उसी प्रकार का उपदेश दिया है। (79–82)।

द्रव्य गुण और पर्याय मे विपरीत अभिनिवेश को प्राप्त हुआ जीव का जो भाव है वह मोह है, जिससे आच्छादित हुआ जीव राग और द्वेष से परिणत होता हुआ विविध प्रकार का बन्ध करता है जिन्हें (सम्यक्प्रकार) नष्ट कर देना चाहिए। मोह के लिंग इस प्रकार है–पदार्थों का अन्यथा ज्ञान, तिर्यंचों और मनुष्यो पर क्रूरता (करुणा का अभाव), और इन्द्रियों के विषयो मे आसक्ति। प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा (जिनेन्द्रप्रणीत) श्रुत को जानने वाले पुरुष का यह मोह नष्ट किया जा सकता है, जिस श्रुतज्ञान मे द्रव्यगुण, और उनकी पर्यायों का पदार्थ रूप ज्ञान है। तत्पश्चात् निर्वाण (दुःखो से मुक्ति) प्राप्त होता है। जो पुरुष निश्चय से ज्ञानमय आत्मा को

स्वकीय द्रव्यत्व से और शरीरादि पर–पदार्थ को परकीय द्रव्यत्व से अभिसम्बद्ध करता है वह मोह का क्षय करता है। जो इस प्रकार बोध को प्राप्त है वह वास्तव में श्रमण है, और उसे धर्म कहा जाता है, क्योंकि वह दर्शनमोह से विमुक्त है, आगम में कुशल है और वीतरागचारित्र में प्रतिष्ठित (सावधान) है (83–92)।

भाग (पुस्तक) II

ज्ञान की वस्तु द्रव्यों से निष्पन्न है, द्रव्य अपने स्वभाव से अस्तित्व गुण वाले हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय में स्थित रहने वाला अर्थ ही अस्तित्व गुण से युक्त रहता है। अपना स्वभाव बिना छोड़े, वे द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप सत् लक्षण वाले है (I, 3-5),यद्यपि अस्तित्व गुण में प्रतिष्ठित है, फिर भी द्रव्य युगपात ध्रौव्य उत्पाद और व्यय रूप परिणमन करते हैं (7–8)। द्रव्य मे परिणाम होते है, अतः उन सभी के लिए द्रव्य आधार रूप है जिनका वहाँ सद्भाव है (9–10)। एक पर्याय उत्पन्न होती है और दूसरी व्यय होती है किन्तु द्रव्य वही रहता है, द्रव्य एक गुण छोड़कर अन्य गुण विकसित करता है। अतः दोनो रूप पर्यायो और गुणो से पूर्ण द्रव्य, गुण और पर्याय लक्षण की अपेक्षा से अन्यत्व को लिए हुए है, तथापि वे अलग नहीं होते, क्योकि उनके प्रविभक्त प्रदेश नही होते है . अतः वे द्रव्य के सिवाय अन्यत्र नहीं होते (14–8)। द्रव्य– दृष्टि या पर्यायदृष्टि से देखने के अनुसार द्रव्य स्वभाव मे क्रमशः सत् और असत् इन दो भावों से संयुक्त उत्पाद सदा प्राप्त होता है।

द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से वह द्रव्य व द्रव्य की समस्त पर्यायें अन्य नहीं हैं और पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से अन्य है, क्योंकि उस समय वे उसी पर्याय रूप हो जाती हैं। (नय विवक्षा से एक ही द्रव्य मे दो परस्पर विरोधी भाव सिद्ध हो जाते हैं (19–22)। द्रव्य किसी एक पर्याय से अस्तिरूप है, किसी एक पर्याय से नास्ति रूप है किसी एक पर्याय से अवक्तव्य है, किसी एक पर्याय से अस्तिनास्ति रूप है अथवा किन्हीं अन्य पर्यायों से अन्यथा कहा गया है (23)। विविध अध्यवसाय एवं क्रियाएं कर्म की ओर ले जाती है, जो फल देते हैं। नाम कर्म, अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव को अभिभूत कर जीव को मनुष्य, देवादि (तिर्यंच, नारकी) कर देता है; किन्तु जीवद्रव्य वही निष्क्रिय शुद्ध स्वभावी व्यक्तित्व वाला इन कर्मो द्वारा उद्भूत पर्यायों (प्रपञ्चों) से परवर्ती है। जिसमे प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है ऐसे लोक में द्रव्यदृष्टि से ना तो कोई (जीव) उत्पन्न होता है ना ही कोई नष्ट होता है। इस प्रकार इस संसारी जीवन का अस्तित्व अन्य–अन्य अवस्था रूप परिणत है, जिसके द्वारा जीव द्रव्य भ्रमण कर रहा है (20–1, 24–8)। यह जीव अनादिबद्ध कर्मो से मलिन होता हुआ कर्म संयुक्त परिणाम को प्राप्त होता है। उस समय संवेदनशीलता (आत्मचेतना) रूप परिणमन तीन प्रकार से होता है– ज्ञान, कर्म तथा कर्मफल, जो सुख या दुःखपूर्ण होती है। इन परिणामों का आत्मा स्वयं कर्ता तो नहीं है किन्तु साधारणतः कहा जाता है कि ज्ञान, कर्म और फल ये तीनों आत्मा हैं। आत्मा, जो स्वयं का कर्ता है कर्म और फल स्वयं शुद्ध रूप में अनुभव करता है, जब कषायादि का उदय नही होता है।

द्रव्य के दो भेद है– जीव और अजीव। इसमें से जीव चेतनामय और उपयोगमय है। पुद्गल द्रव्य को आदि लेकर पाँच प्रकार का जीव चेतना से रहित है। सूक्ष्म परमाणु से लेकर महास्कन्ध लोक पर्यन्त पुद्गल के (रूप, रस, गंध और वर्ण ये चार) ऐंद्रिय गुण होते हैं, धर्मद्रव्य का गमन–

हेतुत्व गुण, अधर्म द्रव्य का स्थिति हेतुत्व गुण, आकाशद्रव्य का अवगाह गुण तथा कालद्रव्य का वर्तना गुण होता है। इनमे केवल पुद्गल मूर्तिक है, और शेष अमूर्तिक है अर्थात् उन द्रव्यों का इन्द्रियों द्वारा साक्षात् ज्ञान नहीं होता है। ये सभी द्रव्य लोक में व्याप्त हैं और उनमें संयुक्त रूप से अथवा व्यक्ति रूप से उत्पाद ध्रौव्य और व्यय रूप परिणमन होता रहता है, जब कि अलोक में मात्र आकाश है (35–42)। काल को आकाशप्रदेश रहित कहा गया है जबकि अन्य द्रव्यों के असंख्य आकाश प्रदेश कहे गये हैं और इसीलिए वे अस्तिकाय कहलाते है (काल एक प्रदेशी कहा जाता है, ऐसे असंख्य काल हैं)। परमाणु के भी कोई आकाश–प्रदेश नही कहे गये है। (अर्थात् अप्रदेशी या एक प्रदेश को व्याप्त करने वाला कहा गया है) किंतु उससे आकाश–प्रदेश की इकाई का माप होता है, और एक आकाश–प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश तक मन्द गति से जाने मे परमाणु को जितना काल लगता है उसे समय कहते हैं। आकाश का एक प्रदेश अन्य सब द्रव्यो के प्रदेशों को अवकाश देने मे समर्थ है। ये सभी सूक्ष्म इकाईयाँ (प्रदेश) उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय त्रयी से रहित नहीं हैं (43, 45–52)।

यह लोक अवस्थित है, नित्य है, और प्रदेशो सहित पदार्थो से परिपूर्ण है यह ज्ञेय है और इसका जानने वाला जीव इन्द्रिय, बल, आयु और श्वोच्छ्वास नामक चार प्राणो से संयुक्त है जो पौद्गलिक द्रव्यो से संचित हैं। मोहादि पौद्गलिक कर्मो से बंधा हुआ यह जीव कर्मो के फल को भोगता हुआ नवीन कर्मो का आस्रव करता है। कर्मो से लिप्त होने से वह राग–द्वेष करने के कारण नया बंध करता है। नाम कर्मादिरूप (पुद्गल) के साथ संबंध होने पर वह जीव नर–नारकादि रूपगतियो मे जन्म लेता है जहाँ (संस्थान, संहनन आदि के भेद से पर्यायें विविध प्रकार हुआ करती है) वस्तुओं का निश्चयात्मक ज्ञान जीव को मोह रागद्वेष से (को प्राप्त नहीं हो सकता है) सुरक्षित रखता है। (53–62)।

आत्मा उपयोग स्वरूप है, ज्ञान और दर्शन उपयोग कहे गये है और आत्मा का वह उपयोग शुभ तथा अशुभ होता है। शुभोपयोग का लक्षण धर्मादि-कार्यों में समर्पण भावना तथा जीवो पर दया भाव होना है जो पुण्य का कारण है। अशुभोपयोग का लक्षण इंद्रियो के विषय और कषाय में लीन होना, जीवों के प्रति क्रूरता होना है जो पाप का कारण है। दोनों के अभाव मे शुद्धोपयोग होता है जो कर्मबंध के अधीन नहीं है (जिससे कर्मबंध नही होता है)। शुभोपयोग और अशुभोपयोग से मुक्त होकर जीव को ज्ञानस्वरूपी तथा अन्य परवस्तुओ से आत्यन्तिक रूप से भिन्न (विभक्त) आत्मा का ध्यान करना चाहिए (63–70)।

परमाणुओं की पारस्परिक बन्ध प्रक्रिया स्वयं होती है। परमाणु की स्निग्ध और रूक्ष रूप पर्यायें जो चाहे सम या विषम अंश रूप हों, परस्पर मे शृंखला रूप परिणमित हो जाती है। जब अंतर दो अंशों का होता है, जहाँ जघन्य अंश का अपवाद रहता है; जीव इस प्रकिया के लिए उत्तरदायी नहीं है (73)। किन्तु यह लोक सर्वत्र सूक्ष्म,स्थूल, अप्रायोग्य–कर्मवर्गणारूप होने की योग्यता से रहित तथा प्रायोग्य– कर्मवर्गणा रूप होने की योग्यता से सहित पुद्गल कार्यों से ठसाठस भरा है, जो जीव की रागद्वेषादि रूप परिणति को प्राप्तकर कर्म रूप होकर आत्मा में आस्रवित हो जाते हैं (77)। चार (? पांच) प्रकार के शरीर पौद्गलिक होते हैं, किन्तु आत्मा में इंद्रिय–ग्राह्य गुण नहीं है, वह मात्र उपयोग रूप है, वह अमूर्मिक है, और उसका कोई आकार

नहीं है जिसे बताया जा सके (79–80)। यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी वह मूर्तिक पदार्थो को देखता और जानता है, इसी प्रकार बंध का विषय है (82)। जो (उपयोग स्वभाववाला) जीव (विविध प्रकार के इष्ट–अनिष्ट विषयों को पाकर) मोहित होता है, राग करता है, अथवाद्वेष करता है तो कर्मो से बंध जाता है (84)। आत्मा के (लोकाकाश के तुल्य असंख्यात) प्रदेश होते हैं जिनमें कर्म वर्गणाएं प्रवेश करती है। वे वहाँ बंध को प्राप्त होती हैं, स्थिति को प्राप्त होती हैं और फिर चली जाती है। जब जीव मोहके उदय से (विकार को) प्राप्त होता है तब कर्म बंध होता है अन्यथा नहीं होता है (86–7) । आत्मा शरीरादि रूप संबंधी सभी अवस्थाओं से पूर्णतः भिन्न है (90 आदि) । अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा निश्चय से स्वभाव का ही– स्वकीय चैतन्य परिणाम का ही कर्ता है, पुद्गल द्रव्य रूप द्रव्यकर्म तथा शरीरादि समस्त भावो का कर्त्ता नहीं है। जब उसका निज भाव कषायों से लिप्त होता है तो कर्मों का ग्रहण होता है; निश्चयतः यही बंध का सिद्धान्त है, व्यवहार नय से इसे अन्य प्रकार से कहा जा सकता है (88–97)। आत्मा का वास्तविक ध्यान तभी सम्भव है जब मोह ममता रूप सभी बौद्धिक परिणतियाँ पूर्णतः छूट जावें। विभिन्न वस्तुएं, जीव तथा अजीव, आत्मा के अविनाशी साथी नहीं है। जो मात्र उपयोग रूप है (केवलज्ञान– दर्शन स्वरूप शुद्ध आत्मा ही अविनाशी है)। जो सब प्रकार की पीड़ाओं से रहित हैं, सर्वाङ्ग परिपूर्ण आत्मजन्य अनन्तसुख तथा अनन्तज्ञान से युक्त हैं और स्वयं इन्द्रियरहित होकर इंद्रियगम्य नहीं है– इंद्रिय ज्ञान के अविषय है ऐसे महामुनिवर परमेष्ठी (केवली) अनाकुलता रूप उत्कृष्ट सुख का ध्यान करते है (98–108)।

भाग (पुस्तक) III जैन श्रमण के लिङ्ग दो प्रकार के है: अन्तरङ्गलिङ्ग और बाह्यलिङ्ग। जो मूर्च्छा पर–पदार्थो मे ममता परिणाम और आरम्भ से रहित है, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित है, पर की अपेक्षा से दूर है एवं मोक्ष का कारण है वह अन्तरङ्गलिंग भावलिङ्ग है। जो सद्योजात बालक के समान (निर्विकार, निर्ग्रन्थ) रूप धारण करने से उत्पन्न है जिसमें शिर तथा दाढ़ी–मूंछ के बाल उखाड़ दिये जाते है, जो शुद्ध है, हिंसादि पापों से रहित है और शरीर की सभाल सजावट से रहित है वह बाह्यलिंग है। आर्यिकाओ (श्रमणियों) के लिये स्वाभाविक और जन्मजात अक्षमताओ के कारण बाह्यलिङ्ग वस्त्रो आदि सहित किंचित भिन्न प्रकार का है और उन्हे आर्यिका अथवा समणी कहा जाता है (5–7, 24* 6–16)।

मुनि दीक्षा के द्वारा इन लिङ्गो को धारण करने के लिए पूर्ण निर्मोह दशा पूर्वापेक्षित है। जो दुःखों से मुक्ति चाहता है, उसे सिद्धों को, तीर्थकर अरहन्तो, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु रूप मुनियो को बारंवार प्रणाम कर मुनि पद को प्राप्त करना चाहिए। इस मुनिपद हेतु, सर्वप्रथम उसे बन्धु वर्ग से पूछकर, गुरु, स्त्री तथा पुत्रो से छुटकारा प्राप्तकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य (नामक आचारों) को प्राप्त होना चाहिए। फिर उसे महान् और योग्य आचार्य के पास पहुँचकर, आदर्श रूप से निर्मोही होकर उन आचार्य से मुनि दीक्षा देने (अंगीकार करने) की प्रार्थना करना चाहिए। उसे (निर्विकल्प सामायिक चारित्र के भेदरूप) 28 मूलगुण धारण करना चाहिए और यदि वह इनमें प्रमाद करता है तो वह छेदोपस्थापक होता है। यदि मूलगुणों में सावधानी रखते हुए भी कोई दोष आ जाये तो उसे जिनमत में व्यवहार क्रिया मे चतुर किसी अन्य मुनि के पास जाकर आलोचना करना चाहिए और उनके द्वारा बतलाए हुए प्रायश्चित्त का ५८–

आचरण करना चाहिए। उसे सदैव मूलगुणों के पालन में दोष न आ पाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए। प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति से जीवों की हिंसा होती है। जो मुनि यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता है उसे जीवों की हिंसा कही गयी है, चाहे जीव वास्तव में मारे जायें अथवा न मारे जायें (1–4, 10, 8–9, 11–12, 30, 16–18)।

उसका ध्येय पूर्ण निर्मोह होना चाहिए। उसे आहार या निराहार (उपवास) में, गुहा आदि निवास स्थान में, अथवा विहार कार्य में, शरीररूप परिग्रह में, अथवा साथ रहने वाले मुनियो में अथवा विकथा मे ममत्वपूर्वक संबंध की इच्छा नहीं करना चाहिए। मोह का अर्थ बंध होता है, और एक परमाणु प्रमाण मात्र भी ममता भाव रहने पर मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त होने में बाधा होती है। मित्र और शत्रु समूह तथा इष्टानिष्ट वस्तुएं उसके लिए एक समान होती है। बाह्य पदार्थो में मोह रागद्वेष का पूर्ण अभाव का अर्थ कर्मो का क्षय है (13–5, 19, 39, 41–4)।

वह (मुनि) किंचित् मात्र परिग्रह रख सकता है जो पाप का कारण ना हो और उसके मूलगुणो को पालन करने हेतु आवश्यक हो। (जिनमार्ग मे) यथाजात रूप (निर्ग्रन्थ मुद्रा), गुरुओं के वचन, उनका विनय और शास्त्राध्ययन ये उपकरण कहे गये है। अन्य उपकरणो का उपयोग, उसके निर्मोह के कारण, उसे तथा उसके चारित्र पालने में निश्चित रूप से बाधक हो सकते है। उसे शरीर से भी मोह नहीं होना चाहिए जो परिग्रहरूप ही होता है, और उसे अपनी शक्ति को न छुपाकर तप से युक्त करना चाहिए (21–3, 20*3–5, 24–5, 28)। मुनि को निरन्तर आगम के अध्ययन मे लगे रहना चाहिए जिससे उसे संशय– विपर्ययादि रहित सम्यग्ज्ञान तथा एकाग्रता प्राप्त हो सके। आगम मुनि के नेत्र है जो स्वपर पदार्थो के स्वभाव से प्रबोधित करते है। यह आगम का अध्ययन उसे आत्मानुशासन एवं आत्मसंयम हेतु तत्पर कर देता है, और उसकी महिमा और भी बढ़ जायेगी जब पूर्णतः निर्मोह को प्राप्त होगा (32–6, 39)। मुनि का आहार एवं विहार युक्त होता है; वह दिन मे एक बार भोजन ग्रहण करता है जो अपूर्ण उदर होता है, जो जैसा मिल जाता है वैसा ही ग्रहण किया जाता है, जो भिक्षावृत्ति से प्राप्त होता है और जिसमे रस की अपेक्षा नहीं रहती है। वह पूर्णतः मांस व मद्य से दूर रहता है जिसमे जीवों की हिंसा होती है। जब मुनि ऐसा इतना थोड़ा दोष रहित आहार ग्रहण करते है तो वे मानों निराहार जैसे ही है (26, 29, 29*18–20, 27)।

यदि मुक्ति प्राप्त करना है तो आगम ज्ञान सहित सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चरित्र (आत्मसंयम) आवश्यक है। साधु को पांच समितियों सहित, तीन गुप्तियो से युक्त, इंद्रियों को रोकने वाला, कषायों को जीतने वाला तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अनुशासन पूर्ण (संयत) होना चाहिए। निर्विकार निर्ग्रन्थ रूप के धारी महान् गुरु के आगमन पर उसे उठकर खड़े होना चाहिए तथा उनके योग्य आदरविनयादि करना चाहिए। योग्य गुणाधिक साथी मुनि सेवावंदनादि के योग्य हैं। यदि मुनि गुणाधिक योग्य मुनि को मान्यता न दे और अपने से अधिक योग्य मुनि से आदर विनयादि की अपेक्षा करे तो वह पदावनत हो जाता है (श्रमणाभासी हो जाता है)। उसे निम्नयोग्यता वाले मुनियो और लौकिक जनों से संसर्ग न कर, दूर रहना चाहिए तथा गुणों की अपेक्षा अपने समान या अपने से अधिक योग्यता वाले मुनियों के साथ रहने का प्रयास करना चाहिए (37, 40,47, 61–7, 70)।

मुनियों को या तो शुभोपयोग सहित अथवा शुद्धोपयोग सहित कहा गया है। शुद्धोपयोग कर्मास्रव से रहित होता है। शुभोपयोग चर्या अरहन्तादि मे भक्ति, परमागम से युक्त महामुनियो मे वत्सलता, सिद्धान्त को दर्शन ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का संग्रह करने, उनका पोषण करने, चतुर्विध मुनि समूह का (विराधनारहित) उपकार करने, बिना किसी से कुछ लाभ की आशा के परोपकार करने तथा रुग्ण सह-मुनि की वैयावृत्यादि करने मे निहित है। जब किसी रुग्ण मुनि की वैयावृत्यादि रूप सहायता करना हो तो वह लौकिक जनो से उसके निमित्त वार्तालाप कर सकता है। शुभोपयोग मे व्यावहारिक अनुशासनात्मक (विराधनारहित) चर्या रूप औपचारिकताएं वर्जित नहीं है। (45, 47—56)। शुद्धोपयोगी मुनि जन समस्त तत्त्वों को यथार्थ रूप से जान चुके होते है। बाह्य तथा अन्तरंग परिग्रह के मोह का त्याग कर चुके होते है तथा इंद्रियो के (विषयो के) सुखो मे लीन नहीं होते है (73)। मुनि को सांसारिक व्यापारो—धन्धो मे किंचित् भी रुचि नहीं लेना चाहिए। उसे अपने सम्यक्चारित्र को यथाविधि पालन करने हेतु निर्दोष आहार, विहार, देश, काल, परिश्रम, सहनशक्ति और शारीरिक दशा का भलीभांति विचार कर लेना चाहिए। गुणहीन मुनियो की भक्ति करने मे कल्याणकारी परिणाम नही मिलता है। मुनि जो भ्रष्टचारित्रवान् से दूर रहते है, जिन्होने यथार्थता का निश्चय कर लिया है, और जो शांत है तथा मुनिधर्म मे पूर्णता प्राप्त कर चुके है वे शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करेंगे; तब वे ही सिद्ध स्वरूपी हो जायेगे (31, 57—60, 72)।

प्रवचनसार पर समालोचनात्मक समीक्षा—

प्रवचनसार का तीन भागो मे विभाजन का श्रेय स्वयं कुंदकुंद को दिया जाना चाहिए, क्योकि प्रत्येक भाग के प्रारंभ मे महत्वपूर्ण मङ्गलाचरण श्लोक है और प्रत्येक भाग की विषय वस्तु व्यवस्थित रूप से गढ़ी गयी, जो स्वयं मे पर्याप्त रूप है किन्तु शेष दो भागो से भी सर्वथा असम्बद्ध नही है।

विषयवस्तु की वृहद् रूपरेखाओ के पृथक् दृष्टिकोण से यह ज्ञात होता है कि कुंदकुंद ने नव शिष्य (नवशिक्षु) को महत्वपूर्ण शिक्षाएं दी है जिसने अभी मुनि दीक्षा ग्रहण की हो और जो संघ के अनुशासन मे प्रवेश करना चाहता हो। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह अबाधित आध्यात्मिक भाव का पालन करे, अशुभोपयोग को पूर्णतः त्याग दे और शुभोपयोग को अधिक महत्व न देता हुआ शुद्धोपयोग की प्रवृत्ति रखे, जो तत्काल व्यक्तिगत आत्मा को सर्वव्यापी (लोकव्यापी) स्तर पर ऊंचा उठा दे, जो कर्मों से पूर्णतः विमुक्त हो, अनन्त शक्ति वाला हो तथा ज्ञान और सुख से भरा हो। वह आत्मिक विकास की चरमसीमा है जहाँ कर्ता— कर्म सम्बन्ध दिखाई नहीं देता है, जहाँ व्यक्ति अपना व्यक्तित्व प्रतिधारित करता है और जहाँ आत्मा केवलज्ञान युक्त होकर समस्त पदार्थो और उनकी पर्यायों को आकाश और काल की सीमाओं से रहित देख सकता है। उस अवस्था मे अलौकिक ज्ञान और सुख अनन्त काल तक अनुभव में आता रहता है। यही नवशिक्षु मुनि का आध्यात्मिक लक्ष्य होता है। इसे पूर्णतः समझने और अनुभूत सिद्ध करने हेतु यह आवश्यक है कि नवशिष्य को ज्ञेय पदार्थो, उनकी पर्यायों और गुणों के उतार चढ़ाव, आत्मा द्वारा स्वकर्मो को ढालने के दायित्व का प्रमाण, कर्मों के कर्ता और कारण और

ध्यान, आनन्दातिरेक की प्रकृति, जो आत्मा को कर्मो मे लिप्त होने से बचाये, का स्पष्ट परिप्रेक्ष्य ज्ञात होना चाहिए। जब मुमुक्षु यथार्थत. सज्जित हो जाता है तब वह संघ में प्रवेश करता है, मूलगुणो का पालन करता है, पूर्णतः निर्मोही और कषायरहित रहता है। आगम (श्रुतज्ञान) के प्रति समर्पित रहता है, कठोर मुनिचर्या (अनुशासन) का पालन करता है, शुद्धोपयोग युक्त रहता है, आस्रव को रोकता है और कर्म सत्त्व को नष्ट कर देता है, तथा इस प्रकार धीरे धीरे स्वयं सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

इस ग्रंथ मे उपर्युक्त विषयवस्तु की व्याख्या मात्र करने हेतु कुछ और प्रकरण समन्वित है। प्रतिपादन विधिपूर्वक किया गया है, और पाठक को क्रम—क्रम से एक प्रकरण से दूसरे प्रकरण तक ले जाया जाता है। दो या तीन स्थानो मे पुनरावृत्ति (138) मिलती है जो सम्भवत. कुछ परम्परागत गाथाओ के समन्वित हो जाने कारण हो सकती है। यहाँ ग्रन्थकार मात्र, सैद्धान्तिक नही है, कभी—कभी वह तार्किक की भी भूमिका निभाते है वे कुछ आक्षेपो की प्रत्याशा करते है, स्वयं कुछ प्रश्न उठाते है और उनके उत्तर देने का प्रयत्न करते है (139) इस प्रकार प्रवचनसार स्वयं मे एक शास्त्रीय ग्रथ के अतिरिक्त मुनि दीक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार नवशिक्षु हेतु एक व्यावहारिक नियम पुस्तिका का सयुक्त रूप ले लेता है। यद्यपि कभी—कभी विचारो की पुनरावृत्ति हो जाती है, फिर भी शैली की शब्दाडबरपूर्णता नही रहती है। स्याद्वाद के कथन के समान गद्याशो पर विचार करते हुए अथवा जीव की परिभाषादि पर विचार करते हुए कोई (140) भी यह अनुभव करता है कि उनके वक्तत्वो मे से अनेक वस्तुतः सूत्र है जो संक्षिप्त रूप मे किन्तु महत्व सहित अर्थगर्भित है। उनके विवेचनों मे सरलता है। सम्पूर्ण ग्रंथ मे परिपक्व मस्तिष्क के उत्कृष्ट बोध की पुट है। ऐसी शैली की सरलता और अनुरोध का सीधापन ऐसे व्यक्ति से संभव है जिसने प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभूति के अमृत का स्वाद लिया हो।

(द) प्रवचनसार का दार्शनिक पक्ष

1. सैद्धांतिक पृष्ठभूमि अथवा जैनतत्वमीमांसा–

पदार्थ द्रव्य रूप है, द्रव्य, गुणस्वरूप कहे गये है तथा उन द्रव्य गुणो से पर्याय उत्पन्न होती है। (II,1)। गुणो तथा पर्यायो मे युगपत् उत्पाद और व्यय होता है, जब कि उनके आधारभूत, नामत. द्रव्य, ध्रौव्य से युक्त अस्तित्व (सत्) लक्षण वाला होता है। (II, 5, 7, 37 आदि)। द्रव्यो के दो प्रकार होते है.– चेतना सहित मात्र जीव होते है तथा अचेतन द्रव्य अजीव कहलाते है, जिनमे पुद्गल द्रव्य, गति मे सहकारी धर्म द्रव्य, ठहरने मे सहकारी अधर्म द्रव्य, आकाश और काल समन्वित है। उनके लक्षण इस प्रकार है जीव या आत्मा संवेदनशीलता सहित होता है और उसमे चेतना की अभिव्यक्ति होती है; पुद्गलद्रव्य अचेतन होता है और उसमें वर्ण, रस, गंध एवं स्पर्श परमाणु रूप सूक्ष्म दशा मे भी होता है; गति में सहकारी धर्मद्रव्य होता है (गतिहेतुत्व); अधर्म द्रव्य स्थिर दशा को रखने मे सहकारी होता है (स्थितिहेतुत्व) आकाश अवकाश (अवगाह) प्रदान करता है; तथा काल वर्तना की निरंतरता लक्षण सहित होता है पुद्गल को छोड़कर सभी

अमूर्तिक होते है, अर्थात् उनमे इंद्रियो के गुण नही होते है। और वे इंद्रिय ग्राह्य नहीं होते है (II41,–2,)। काल को छोडकर मभी द्रव्य (असंख्यात) प्रदेशी होते है, जबकि काल एक प्रदेशी मात्र होता है अर्थात् मात्र एक प्रदेश को अवगाहित करता है। (ऐसे काल के असंख्यात द्रव्य होते है), अतः काल को अस्तिकाय नहीं कहते है (II 4,3)। जीव अनेक है– मुक्त (सिद्ध) और संसारी। यदि वे संसारी है, तो कर्मानुमार वे चार गतियो मे पाये जाते हैं। तथा उनके विभिन्न (चार से दश तक) प्राण होते हैं पुद्गल परमाणु स्कन्ध के समूहो से निष्पन्न होता है तथा अनेक प्रकार का होता है। अविभागी परमाणु केवल एक आकाश प्रदेश को अवगाहित करने से प्रदेश की इकाई निर्धारित करता है। सम्पूर्ण लोक पौद्गलिक सूक्ष्म एवं स्थूल परमाणु स्कन्धादि से ठसाठस भरा है। जो जीवात्मा द्वारा कर्म रूप मे ग्राह्य अथवा अग्राह्यय रूप होते हैं। धर्म और अधर्म द्रव्यो द्वारा सम्पूर्ण लोक व्याप्त है, ये दोनों समस्त लोक में व्याप्त होकर (फैलकर) रहते है आकाश दो प्रकार का है– लोकाकाश अथवा उतना आकाश का भाग जिसमे त्रिकालवर्ती शेष पांचो द्रव्य नित्य अवस्थित है, दूसरा अलोकाकाश, लोकाकाश के परे है जहां आकाश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है और जो अनन्त दूरियो तक विस्तृत है। आकाश की अंतिम (चरम) इकाई आकाशप्रदेश या प्रदेश कहलाती है, जो समस्त द्रव्यो के प्रदेशों को अवकाश देने मे समर्थ है। काल जो वर्तना लक्षण वाला है, (आकाश के केवल एक प्रदेश मे अवगाह के कारण) आकाश मे विस्तार रहित होता है, काल की चरम इकाई को समय कहते है जो काल का उतना परिमाण या प्रमाण होता है जितने मे कोई (मंदगतिवान्) परमाणु प्रदेशान्तर करता (एक प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश तक जाता है)। जहां आकाश–प्रदेश नहीं होते है उसे शून्य कहते हैं, जो सत् या अस्तित्व से विलग होता है II,35–52,60,76–77)।

जैन और सांख्य तत्त्वमीमांसा पर समालोचनात्मक व्याख्या–

जैन धर्म न्याय– वैशेपिक अभिप्राय अथवा निर्गमन मे उत्पत्ति को स्वीकार नही करता है, चाहे वह वैदान्तिक अभिप्राय मे वास्तविक हो अथवा आभासी। उसके लिये लोक अस्तित्वपूर्ण और वास्तविक है। चूंकि उसकी सृष्टि बढ़ई या लुहार की सादृश्य किसी के भी द्वारा नहीं हुई है, लोकालोक (खगोल) के संरचक (अवयव) जो जैनधर्म द्वारा वर्णित है, इस प्रकार है कि वे पारस्परिक (अन्योन्य) क्रियाओ से विविध घटनाओ को समझाने मे समर्थ है। तत्त्वमीमांसा का प्रारम्भ वास्तविक द्वैतवाद अथवा अनेकत्व (अनेकांतवाद) से होता है। लोक की महासत्ता दो प्रकार के द्रव्यो से संरचित होती है जीव और अजीव, जो दार्शनिक अभिधारणाएं न होकर आत्मा और पुद्गल रूप वास्तविकता होती है, जो अनेकान्तात्मक है, संरचना रूप से अनादिनिधन है और जो निज स्वभाव से न तो विनाश को प्राप्त होते है और न ही उसमें कोई पारस्परिक परिवर्तन ही होता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, मन आदि, जैसे पदार्थ जो न्याय–वैशेपिक द्वारा वर्णित किये गये हैं वे जैनधर्म के अनुसार मात्र पुद्गल के रूप हैं। जहाँ तक आदिम (प्रारम्भ) का संबंध है, जैनधर्म और सांख्य की स्थिति एक समान है, एक तो जीव और अजीव का पक्ष और प्रतिपक्ष मान्य करता है तो दूसरा पुरुष और प्रकृति का, इस प्रकार दोनों द्वैतवादी अथवा अनेकत्ववादी भी आत्माओं के अनेकत्व के दृष्टिकोण से हो जाते है, जो अपने व्यक्तित्व को सारभूत रूप से प्रतिधारित करते

किन्तु इन दो मतों का तात्कालिक विकास रुचिकर है। सांख्य का द्वैतवाद अतरल है, जैसा डा. बेलवलकर (Belvalkar) ने उसे उचित ही कहा है 'मुझे–स्पर्श–न करो' द्वैतवाद। आदर्शवाद के अभिप्राय से यह द्वैतवाद सांख्यो के द्वारा प्रायः तार्किक (नैयायिक) भ्रांति (हेत्वाभास) रूप में संधारित किया गया है। जब कि (उसी संदर्भ में) जैनधर्म उसी द्वैतवाद से प्रारम्भ होता है, किन्तु एक स्पष्ट सिद्धांत के साथ कि आत्मा का पुद्गल के साथ संबंध अनादिकालीन है। इस सिद्धांत से जैनधर्म को संसार समझाना इस रूप मे सरल हो गया है कि संसार के (दुःखों के) प्रतिकार (उपचार) के लिये धर्म की आवश्यता थी। इससे भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म कैसे एक समाज व्यवस्थापक धर्म बन गया, जिसमे सभी आवश्यक पौराणिक शास्त्रादि, उपांग एवं एक दार्शनिक पृष्ठभूमि समन्वित हो गयी। जब कि सांख्य अंत तक मात्र प्रज्ञासाध्य अनुसरणवाद बना रहा। जैनधर्म की सशक्त वास्तविक तान सामान्य ज्ञान का तथा वस्तुनिष्ठता की ओर विश्लेषिक पहुँच का परिणाम है। धर्म और अधर्म द्रव्य की परिभाषा का दायित्व निभाते हैं, क्योकि वे उदासीन रूप गमन हेतुत्व तथा स्थितिहेतुत्व रूप अस्तित्व मे रहते है। (141) अन्यत्र कहीं भी इस अर्थ मे (धर्म, अधर्म) दो शब्दों का उपयोग नहीं हुआ है ।साथ ही एक प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि इस अर्थ के साथ इन शब्दो के उपयोग की स्वतंत्रता क्यों और कैसे जैनधर्म ने ले ली है। सांख्य की यह कल्पना कि धर्म ऊपर की ओर ले जाता है तथा अधर्म नीचे की ओर (142) ऐसा नीति–धर्म सबंधी विचार है जो गीता एवं अन्य ग्रंथो मे बिलकुल सामान्य रूप मे पाया जाता है। 'जैनधर्म मे वे अमूर्तिक तथा सर्वांग–सम्पूर्ण द्रव्य है' । डा. जैकोबी ने इसे जैनधर्म की प्राचीनता का प्रभेदक चिह्न बतलाया है। (143) अवकाश देना आकाश का लक्षण है, जब वह अन्य द्रव्यो को अवगाहित करता है तो वह सापेक्ष हो सकता है। जैनधर्म के अनुसार शून्य आकाश भी सभव है, (144) तथा उसे अलोकाकाश कहते है जो अपने भौतिक लोक से परे अनन्त विस्तार वाला है। जैनधर्म और न्याय–वैशेषिक आकाश को सर्व–व्यापी और नित्य की मान्यता देते है, किन्तु जैन यह स्वीकार नहीं करते कि ध्वनि आकाश का गुण है। जैसा वैशेषिक मानते है, जैनधर्म मे काल को एक और सर्वव्यापी नही माना गया है, जैनधर्म मे काल की रचना अणुरूप जैसी है। (145) पुद्गल आकाश और काल की चरम इकाइयो का समायोजन वास्तव मे पुरुचिकर है। न्याय–वैशेषिक प्रणालियो मे अणु और समय ज्ञात है किन्तु कहीं भी आकाश की इकाई के रूप मे प्रदेश की मुझे जानकारी नहीं मिली है। यह कि द्रव्य मे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य त्रयात्मकता होती है एक विशिष्ट रूप से सामान्यज्ञान की दृष्टि से निकला निष्कर्ष है जो ऐसे स्पष्ट और दृष्ट उदाहरणो से निगमित किया जा सकता है। कि चूडी को पिघलाने के और ढालने के पश्चात् अंगूठी अस्तित्व मे आ जाती है; फिर भी स्वर्ण स्थायी द्रव्य बना रहता । इस सामान्य–ज्ञान की दृष्टि को वेदान्त और बौद्धधर्म के अतिदार्शनिक आदर्शवाद के प्रकाश में अध्ययन करना होगा। वेदान्त के अनुसार मिट्टी मात्र ही वास्तविक है, व्यक्तिगत नाम और रूप मात्र माया है, और बौद्धधर्म के अनुसार परिवर्तनशील गुणो के पार्श्व मे नित्य जैसा कुछ नहीं है, परिवर्तनशील गुण मात्र ही हमें ग्रहण होते है। सामान्य ज्ञान की दृष्टि भारत के उसी पूर्वी भाग मे प्रसारित हुई दृष्टिगत होती है जहाँ याज्ञवल्क्य ने जनक को आत्मा के सिद्धान्त का प्रकाश दिया था। वास्तविक प्रारम्भ ने किसी भी जैन दार्शनिक को दार्शनिक अतियों को ग्रहण करना स्वीकार नही किया।

2. द्रव्य, गुण और पर्याय—

द्रव्य, गुण और उनके पर्याय, अर्थ नाम से कहे गया हैं। (I, 87)। ज्ञेय पदार्थो मे आत्मा, अनात्मा तथा उन दोनों के संयोगी परिणाम स्वरूप समन्वित है (I,36)। जो अपने स्वभाव को न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से संबद्ध रहता है, गुणवान् है और पर्यायों सहित है उसे द्रव्य कहते हैं (I, 87, II, 3,6,13)। स्वभाव में अवस्थित रहने वाला सत् द्रव्य कहलाता है और गुण–पर्याय रूप अर्थो में उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य से सम्बन्ध रखने वाला द्रव्य का परिणमन उसका स्वभाव है (II,7)। उत्पाद और व्यय युगपत् और परस्परावलम्बित होते हैं। (उत्पाद व्यय से रहित नहीं, व्यय उत्पाद से रहित नहीं होता) और उत्पाद व्यय दोनों ही ध्रौव्य रूप पदार्थ (द्रव्य) के बिना नहीं होते है (II,8)। त्रयात्मक उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में रहते हैं और पर्याय ही– त्रिकालवर्ती अनेक पर्यायों का समूह ही द्रव्य है, अतः (निश्चय है कि) उत्पादादि सब द्रव्य ही हैं (उससे पृथक् नहीं है) (II,9)। समस्त पदार्थ समूह का किसी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद, किसी पर्याय की अपेक्षा विनाश होता है और किसी पर्याय की अपेक्षा वह सद्भूत (ध्रौव्य रूप) होता है (I, 18)। द्रव्य की अन्य पर्याय उत्पन्न होती है और अन्य पर्याय नष्ट होती है, फिर भी द्रव्य ध्रुव रहता है– (अर्थात् द्रव्य न नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है) (II,11)। जिसमे प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है ऐसे (जीव) लोक मे (द्रव्य दृष्टि से) न कोई (जीव) उत्पन्न होता है न कोई नष्ट होता है, (द्रव्यदृष्टि से) जो उत्पाद है वही व्यय है (–दोनों एक रूप है परन्तु पर्यायदृष्टि से उत्पाद और व्यय नाना रूप, अलग–अलग हैं) (II,27)। (पुद्गल और जीव) स्वरूप (लोक के) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणाम से (एक समयवर्ती अर्थ पर्याय से, संघात से, भेद से) होते है, और जिन चिन्ह्नों से (जीव – अजीव) द्रव्य जाना जाता है वे (द्रव्य–भाव से विशिष्ट अथवा अविशिष्ट मूर्तिक और अमूर्तिक) गुण जानना चाहिए (II, 37-8)। स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से निश्चित (जीवादि) पदार्थ की अन्य पदार्थ (पुद्गल) के संयोग से उत्पन्न हुई जो दशा विशेष है वह पर्याय है (II,60)। द्रव्य, गुण और पर्याय सत् हैं (II,13)। जहाँ तक इन तीनों के बीच का सम्बन्ध है, वे (प्रदेशों के जुदे–जुदे होने से) पृथक्त्व रूप तथा (अन्य पदार्थ के अन्य रूप नही होने से) अन्यत्व रूप हैं– जबकि सत्ता और द्रव्य परस्पर मे अन्यरूप नहीं होते, गुण और गुणी के रूप में जुदे जुदे ही रहते है (II,14-8)। उदाहरणार्थ– जीव द्रव्य है; चेतना (दर्शनज्ञानोपयोग) रूप उसकी पर्याय का प्रकट होना उसका गुण है; और उसकी पर्यायें नारक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव गति रूप होती हैं जो नामकर्मो के निमित्त पूर्वक होती है, अथवा सिद्ध दशा रूप मे भी जीव का परिणाम होता है। (146) इन सभी पर्यायों की पृष्ठभूमिका निभाते हुए जीव वस्तुतः वही तथा उसी नित्य रूप (ध्रौव्यरूप) रहता है (II,20,21,25-7)। द्रव्य अपने द्रव्यत्व की विवक्षा से (द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा से) एक है, किन्तु (पर्यायार्थिक नय से) उसी समय में (गुणों के) भिन्न–भिन्न पर्यायरूप होने से अनेक रूप (अन्य) हो जाता है। (और उन ही समस्त पर्यायों का समूह उसी समय में द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से अन्य न होकर एक द्रव्य रूप है) (II,23),

उक्त तीनों (द्रव्य, गुण, पर्याय) की स्पष्ट व्याख्या–

जैन धर्मानुसार द्रव्य अविभागी अवयव होते है जो स्वयं अस्तित्वरूप होते हुए लोक को अस्तित्व रूप लक्षण दे देते है। द्रव्य पौद्गलिक हो सकता है तथा आत्मा रूप भी। इस प्रकार प्राथमिक रूप से, उनके जीव तथा अजीव रूप दृष्टिकोण से वे द्रव्य दो प्रकार के है और अंततः वे द्रव्य छ. प्रकार के हो सकते है। ये द्रव्य, चाहे उनके दो प्रकारो से देखे जाये अथवा चाहे छः प्रकारो से देखे जाएं, वे किसी एक द्रव्य रूप मे अपहृत नहीं किये जा सकते है जैसा कि वेदान्ती ब्रह्म की दृष्टि लेकर करते है। विषय निष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ अस्तित्व का विश्लेषण करते हुए द्रव्यों तक पहुँच होती है (द्रव्यो की मान्यता होती है)। द्रव्य अपरिवर्तनीय नही है, किन्तु उनके स्वाभाविक गुणो और पर्यायो मे लगातार परिवर्तन होता रहता है। द्रव्य में गुणों और पर्यायों का अभाव हो या उसे गुणो और पर्यायो से वंचित कर दिया जाय, तो वह मात्र एक कल्पना होगी, साधारणत. शून्य होगा, और यह जैनधर्म मे स्वीकार नही है। न्याय मत, फिर भी, स्वीकार करता है कि द्रव्य, अपने उत्पाद के क्षण मे, गुणो से रहित होते है जो केवल बाद मे ही उनसे आन्तरिक (प्रगाढ़) रूप से सम्बन्ध को प्राप्त होते है। (147) जितने भी गुण अथवा पर्याय है वे सब द्रव्य के आश्रय ही रहते है। द्रव्य का ज्ञेयत्व उसके गुणो और पर्यायो पर आधारित है, क्योकि वे उसके निश्चायक है। इन तीन के मध्य जो सम्बन्ध है वह अपृथक्त्व का है क्योकि वे उसी अवगाहित आकाश मे रहते है। वह सम्बन्ध अन्यत्व का (भी) है। गुणो और पर्यायो की स्थूलरूप से अपृथक् और पृथक् घटनाओ से तुलना कर सकते है। गुण मुख्यत. द्रव्य का विभेदक अर्थ रूप है, जबकि पर्याय आभासी दशा या अवस्था अर्थ रूप प्रकट होती है जो व्यक्तिगत विभेदन के लिए एक लक्षण (चिह्न) का कार्य करती है। गुणो और पर्यायो का आश्रय द्रव्य है: ये तीनो मिलकर सत्‌रूप वस्तु बनती है। सत् मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है। द्रव्य की ध्रौव्य आश्रयभूत शिला पर गुणो और पर्यायो का उत्पाद, एव व्यय रूप निर्दश होता है। वह ध्रौव्य ही है जो परिवर्तन करता है, बिना ध्रौव्यता के परिवर्तन का कोई अर्थ नही है। गुणो और पर्यायो मे चाहे जितना परिवर्तन होता है किन्तु उससे जीव कभी अजीव इत्यादि नही हो सकता है।

गुण और पर्याय मे भेद– गुणो और पर्यायो मे पारस्परिक भेद के [illegible] और आगे छान–बीन की आवश्यकता है। वैशेषिक प्रणाली (मत) मे बिलकुल [illegible] गुणो का वर्णन है, पर्याय का बोध विशिष्ट रूप से जैन है, यदापि पश्चात्वर्ती न्याय ग्रंथो मे उसे उसके लौकिक अर्थ (अभिप्राय) मे देखा गया है। (148) पूर्ववर्ती जैन ग्रंथो मे, जैसे कुन्दकुन्द के ग्रंथो मे, गुणो का अभिप्राय (धारणा) बिल्कुल सरल है। दृष्टांतों (उदाहरणो) से व्यापक बनाने के लिए, गुणो को किसी सत्‌रूप वस्तु के सारभूत विभेदक रूप लेते है। किन्तु अनेक पश्चात्वर्ती ग्रंथो मे इस सिद्धात को और भी अधिक परिष्कृत किया गया, जो सम्भवतः वैशेषिक प्रणाली के व्यवहार के पश्चात् का होगा। भारतीय हेत्वनुमान में दृष्टान्त (उदाहरण) की उपस्थिति को विचारण विधि के लिए जितना कल्याणकारी माना गया है उतना ही हानिकारक भी। यदि दृष्टान्त ने विचार को व्यावहारिक जीवन से संवाद तथा कदम रखने हेतु संबल दिया है, तो उसने समान रूप से अमूर्त विचारो को बाधा पहुँचाई है, जो व्यावहारिक जीवन के दृष्टान्तों से परे है, और परिणाम

स्वरूप दृष्टि मे थोड़े से दृष्टांतो से एक सिद्धन्त विकसित हो जाता है। और जैसे–जैसे नये दृष्टांत सामने आते हैं वैसे–वैसे विस्तार बढ़ता जाता है। यदि दृष्टि में ऐसी विधि हो तो कुन्दकुन्द द्वारा निर्दिष्ट गुण और पर्याय के भेद को हम ठीक ठीक समझ सकते हैं। जीवद्रव्य का विशेष गुण संवेदनशीलता अथवा चेतना का सद्भाव है: जबकि उसकी पर्यायें देवपन, मनुष्यपन आदि हैं। पुद्गल का विशेष गुण रूपित्व है, और उसकी अनेक पर्यायें लकड़ी आदि रूप है, जब इन मूल पर्यायो (प्राथमिक पर्यायों) की परवर्ती (उप) पर्याये होती है, तो गुण की स्थिति (दशा) कुछ (किंचित्) भिन्न हो जाती हैं; और हमे सामान्य और विशेष गुणो जैसा कुछ भेद करना पड़ता है। जब हम बेंच, टेबिल आदि जैसी लकड़ी की अगली पर्यायो को लेते है, तो हम पुद्गल के गुण से संतुष्ट नही होते है, वरन् हम लकड़ी के गुण या गुणो को सूत्रीकृत करना चाहते है, अथवा लकड़ी का ऐसा विभेदक लक्षण बतलाना चाहते है जो हमें लकड़ी को अन्य जड़ वस्तुओ से पृथक् पहचान करा सके। यह विधि आगे–आगे चलती चली जाती है। आगे जाने पर जैसे–जैसे हम पुद्गल से आगे जाते है, किसी विशिष्ट वस्तु के विभेदक संरचक गुणो की संख्या बढ़ती जाती है। इस प्रकार गुण और पर्याय के विभेदन हेतु कुन्दकुन्द के लिए पर्याप्त न्याय संगति है।

सिद्धसेन के आक्षेपों का कथन— कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण को उमास्वाति ने पूर्णत: अपने **तत्त्वार्थसूत्र**(V, 29, 30, 38, 41 इत्यादि) मे स्वीकार किया है, और उनका ग्रंथ दिगम्बरो और श्वेताम्बरो की उभयनिष्ठ सम्पत्ति होने से, यह दृष्टिकोण सर्वाधिक लोकप्रिय है। किन्तु सिद्धसेन ने, जो वादिगजकेसरी रहे हैं और जिन्होने तर्कपद्धति से संगत जो कुछ पाया उसका कथन किया है चाहे श्रुत उनका समर्थन करता हो अथवा नही, एक विभिन्न वस्तुस्थिति ली है। (150) वे उनके सिद्धान्त प्रतिपादन पर आक्षेप करते है जो मानते है कि वर्ण, रस, गंध और स्पर्श को स्वतंत्र बोध गम्य (ज्ञेय) गुण मानते है जो (दव्वाणुगया) अर्थात् द्रव्याश्रित है। उनका कथन है कि गुण और पर्याय एकार्थी है जो समान बोध दर्शाते है क्योकि भगवान् महावीर ने केवल दो नयो का वर्णन किया है, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, तथा **गुणार्थिक** जैसा कोई तीसरा नय नही है जिसकी आवश्यकता पर्याय के गुण से भिन्न होने पर होती, क्योकि भगवान् ने गौतम तथा अन्य को **वण्णपज्जवेहिं** आदि रूप उपदेश दिया, और क्योंकि जो भी गुण तथा पर्याय के लक्षण (परिभाषाएं) है समानार्थी है, इत्यादि, इत्यादि। यह आक्षेप, जो न्याय–वैशेषिक के व्यक्त रूप से विरुद्ध निर्दिष्ट है, दो नयो का अगला निर्देश करता हुआ, कुन्दकुन्द तथा उमास्वाति जैसे ग्रंथकारो को भी समन्वित करता है, क्योकि वे केवल दो नयो को स्वीकार करते हुए भी गुणो को पर्यायों से भिन्न मानते है।

कुंदकुंद के सिद्धांत प्रतिपादन का कथन तथा सिद्धसेन के आक्षेपों का समाधान— मुझे पूर्णरूप से जानकारी है कि सीमांकन रेखा फिसलने वाला आधार होती है जो विशेषत जैन और वैशेषिक सिद्धान्त प्रतिपादन के मध्य संभ्रम होने के कारण है। किन्तु जहाँ तक कुन्दकुन्द और उमास्वाति द्वारा हुए सिद्धात प्रतिपादन पर विचार करना हो तो उपर्युक्त दशा के अनुसार उनके साथ पर्याप्त न्यायसंगति है। मेरे विचार से सिद्धसेन ने न्याय–वैशेषिक और कुंदकुंद के सिद्धान्त प्रतिपादन के मध्य संभ्रम उत्पन्न किया है। संस्कृत भाषा मे गुण शब्द (151) कोरे चैक की भांति है और उसके अर्थ के विभिन्न छायाचित्रण की छानबीन करने मे सावधान होना चाहिए; यद्यपि

वही शब्द सभी व्यावहारिक आभासो के लिये उपयोग मे लाया गया हो। सांख्य गुण, उदाहरणार्थ, मात्र लक्षण नहीं है वरन् कोई वास्तविक है (152)। कुन्दकुन्द के अनुसार गुण किसी पदार्थ या द्रव्य का आवश्यकीय विभेदक होता है, और गुण रहित द्रव्य अस्तित्वहीन हो जाता है; गुण और द्रव्य के बीच यही सम्बन्ध है जो सर्वांगसमता–में–विभेदन रूप है। न्यायमत के अनुसार, तथापि, अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण मे पदार्थ गुण रहित होता है, और द्वितीय क्षण मात्र मे वह तन्मयरूप से उनसे संयुक्त हो जाता है। दूसरे रूप से शब्द आदि जैसे अनेक न्याय –वैशेषिक गुण जैनधर्म के अनुसार गुण ही नहीं होते है वरन् केवल पुद्गल के रूप होते हैं। (153) अंततः, वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत (मान्य) वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के परमाणुओं के लाक्षणिक अंतर जैनधर्म के अनुसार संभव नहीं है। इस प्रकार गुण के संबंध में जैन और न्याय वैशेषिक विचारों में संभ्रम नहीं होना चाहिए। पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि कुन्दकुन्द ने किस प्रकार स्पष्ट रूप से कथन किया है कि गुण पर्याय से भिन्न है, कि गुणो और पर्यायों की भिन्नता को उदाहरण के द्वारा भी दिखलाया जा सकता है–एक स्वर्ण पात्र और एक मृतिका पात्र लिया जाये, तो पार्यय समान है किन्तु स्वर्ण तथा मृत्तिका के गुण समान नही हैं और दूसरी तरह से एक स्वर्ण मुद्रिका तथा स्वर्ण चूड़िका ली जाये तो स्वर्ण के आधार पर गुण समान है, किन्तु पर्यायें भिन्न है। इस प्रकार यदि पर्यायें और गुण पृथक् होते है, तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के अतिरिक्त गुणार्थिक नय क्यो नही होता है? वास्तव मे सिद्धसेन द्वारा उठाया गया यह प्रश्न मनोरंजक एवं तर्कसंगत है तथा उसके समाधान की आवश्यकता है। पर्याय बाह्य अधिरोपण है, वह बहुविध प्रकारो की हो सकती है; वही पर्याय भिन्न द्रव्य के आधारो पर संभव हो सकती है; वही द्रव्य विभिन्न समयो मे विभिन्न पर्यायो से युक्त हो सकता है; और पर्याय आवश्यकीय रूप से द्रव्य के यथातथ्य स्वभाव मे समवायित (अंतर्निहित) नहीं है। द्रव्य तथा पर्याय के बीच मात्र यह सम्बन्ध है कि द्रव्य की कल्पना किसी एक या अन्य पर्याय के बिना नहीं की जा सकती है। पर्याप्य की मान्यता द्रव्य और गुणो के परिवर्तनशील पक्ष के लिए हैं। उसके कथन की आवश्यकता तब होती है जब किसी द्रव्य के सम्बन्ध मे कोई कथन किया जाता है, और इसीलिए पर्यायार्थिकनय की आवश्यकता होती है। इससे पृथक्, द्रव्यार्थिकनय होता है जिसमें किसी वस्तु के परिवर्तनशील पक्ष की ओर ध्यान न देकर उसके स्थायी पक्ष (ध्रौव्य पक्ष) की ओर, नामतः गुणों सहित द्रव्य की ओर ध्यान दिया जाता है। गुण को द्रव्य के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नही देखा (अनुभव किया) जा सकता है, और द्रव्य की गुण रहित कल्पना नहीं की जा सकती है। अतः दोनो एक दूसरे के बिना असंभाव्य हैं। गुणों के द्रव्य में अन्तर्निहित होने से तथा सहकालीन होने से गुणार्थिक नय जैसे तीसरे नय की आवश्यकता नहीं है। उसकी आवश्यकता तभी होती, यदि नैयायिकों की भांति जैन किंचित् समय के लिए भी द्रव्य की गुणों रहित संभवता को मान्यता देते। आगे आगमिक निर्देश **वण्ण–पज्जवेहिं** और **गंध–पज्जवेहिं** को इसप्रकार समझाया जा सकता है। निःसंदेह वर्ण, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल के गुण हैं। वे अन्तर्निहित होने तथा पुद्गल के अपरिहार्य लक्षण होने से परमाणु की अवस्था तक भी निरंतर पाये जाते हैं। जैसा पहले देखा जा चुका है, गुणों की भी अपनी पर्यायें होती हैं, गुण के रूप मे वर्ण की पांच पर्यायें हैं, जैसे–कृष्ण, नील, पीत, श्वेत, एवं लाल; 155 अतः वाक्यांश **वण्ण पज्जवेहिं** का अर्थ, 'वर्ण की पर्यायों द्वारा' होता है और कोई भी

अभिप्रेतार्थ बिलकुल नहीं होता कि वर्ण एक पर्याय है। यदि उसे कर्णधारय समास लिया जाये, तो बहुवचन अपनी शक्ति खो देता है क्योकि गुण के रूप में वर्ण केवल एक होता है और इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर आगम 156 मे भी हमे गद्यांश मिलते हैं जहाँ गुण और पर्याय को पृथक् माना गया है (157)।

3. आत्मा और जड़ अथवा जीव एवं पुद्गल का स्वभाव—

वास्तविक रूप से जीव सचेतन (चेतनामय) है और उपयोग रूप (उपयोगमय) अभिव्यक्त है। (II, 35), अनादिकाल से वह पहले से ही कर्ममल से कलंकित (रंगा) है (II 29), चेतना का विकास तीन प्रकार है। ज्ञानसम्बन्धी चेतना जो वस्तुत्व के ज्ञान भाव रूप परिणमन है, कर्मसम्बन्धी चेतना जीव द्वारा किये गये कार्य जो शुभ अशुभ अनेक विध पुद्गल कर्म के निमित्त से भावकर्म रूप परिणमन करता है, कर्मफल, चेतना वह है जो जीव अपने—अपने कर्मबन्ध के अनुरूप जो सुख—दुःख रूप फलो का अनुभव करता है। (II, 31,32, आदि)। इसी प्रकार आत्मा उपयोग स्वरूप है, वह ज्ञान और दर्शनरूप है। (II, 63) और तीन भाव रूप से परिणमन करता है—शुभ, अशुभ और शुद्ध (I, 9)। शुभ और अशुभ भाव रूप परिणमन संसारी दशा का सूचक है, जब जीव मुक्त हो जाता है, तो शुद्ध भाव रूप परिणमन करता है। (I, 46)। शुद्ध दशा मे जीव इंद्रियो के गुणो (रस, रूप, गंध, वर्ण, स्पर्श) से रहित, (शब्द रहित) अव्यक्त इंद्रियो से अग्राह्य, सर्व आकारो से रहित और चेतना के समस्त गुणो सहित होता है (II,80) किन्तु, यहां कर्म पुद्गल के संयोग से उसे मूर्त्त शरीर प्राप्त हुआ है। (I, 55, II, 25)। नामकर्म नामक कर्म, अपने स्वभाव से जीव के स्वभाव को अभिभूत करता है और चारो गतियों अथवा भवों—भवो मे भ्रमण रूप कार्य का कारण हो रहा है। (II,25- 6)। जब काषायिक दशा विकसित होती है तो जीव अमूर्त होते हुए भी मूर्त कर्मो द्वारा बद्ध हो जाता है, ठीक ऐसे ही जैसे यद्यपि आत्मा वर्णादि रहित है, तिस पर भी वर्णादि को देखने में समर्थ है (II,81,82) । वस्तुतः आत्मा कर्मो का प्रत्यक्ष रूप से कर्त्ता नहीं है किन्तु वह मात्र अपने भावो का कर्ता है, जो पूर्व से ही कषायादिको से लिप्त होने के कारण कर्मो को ग्रहण कर लेता है(II, 91,92,98)।

पुद्गल मूर्त है और सूक्ष्म परमाणु से लेकर महास्कन्ध पृथ्वी तक उसमें इंद्रियग्राह्य (रूप, रस, गंध, स्पर्श) गुण विद्यमान रहते है (II, 40)। यह लोक सर्वत्र पुद्गल कार्यों से ठसाठस भरा हुआ है (II,76), और उसमे बंधादिरूप परिणमन परमाणुओ मे अंतर्निहित स्निग्धत्व एवं रूक्षत्व गुणो के कारण होता रहता है (II, 71आदि)। कर्म रूप होने योग्य पुद्गल वर्गणाएं, जीव के रागद्वेषादि भावो से युक्त होने पर कर्मों के रूप में परिणमित हो जाती है (II,77); आगे वे आत्मा मे प्रविष्ट हो जाती है और वहीं स्थित हो जीव को बंधन में डालती हैं (II,86)। इस प्रकार काषायिक दशाओं (भावो) से बंध होता है (II, 87-8), (निश्चयनय से) जीव वस्तुतः अपनी मुक्त दशा की दृष्टि से शुद्ध है, किन्तु इस संसार में, पूर्व से ही यह जीव कर्मो से लिप्त हो रहा है जिसके परिणाम स्वरूप वह शारीरिक दशा में आगे भी कर्मो से लिप्त होता रहता है जिससे उसके पुद्गल पिंड रूप शरीर, मन और वचन होते रहते हैं (II,69-70)। वे द्रव्यकर्म रूप परिणत हुए पुद्गलस्कन्ध (अन्य पर्याय का सम्बन्ध पाकर) फिर भी जीव के शरीर रूप रचना करते हैं जो आत्मा के भवभ्रमण संबंधी उपकरणों का कार्य करते हैं; ऐसे पाँच प्रकार के शरीर होते हैं—

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर (II, 78-9)। चार प्राण–इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास जो (संसारी) शरीरधारी जीव के लक्षण है सभी पौद्गलिक है और कर्मो द्वारा रचे गये हैं (II, 55-6 आदि) इसी प्रकार द्रव्येन्द्रियाँ भी पुद्गल रचित है तथा संसार मे जीव चाहे वह त्रस पर्याय में हो या स्थावर पर्याय में, उन्हें रखता है (I 57, II, 90)।

आत्मा के स्वभाव पर तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक विचार– मैत्रायणीय जैसे उपनिषद ग्रन्थों मे सृष्टि विधि का प्रारम्भ प्रजापति से प्रारम्भ होता है जो विभिन्न जीवों मे जीवन प्राणादिरूप मे प्रवेश करते हैं और प्रकट रूप से अच्छे और बुरे कर्मो जैसी प्रत्येक वस्तु के कर्त्ता बनते हैं किन्तु वास्तव में उनसे अप्रभावित रहते है। किन्तु आगे हमे बतलाया जाता है कि वास्तविक कर्त्ता कोई अन्य आत्मा है जिसे भूतात्मन् कहा जाता है जो प्रकृति के प्रभाव से बहुविध प्रकार का बन जाता है। (158) यहां प्रथम स्थिति पूर्णतः ईश्वरवादी (आस्तिकवादी) है। द्वितीयस्थिति संभवतः सांख्य प्रभाव के अधीन प्रथम (स्थिति) का रूपान्तरण है। द्वितीय स्थिति जैन विचार के निकटतर आ जाती है, यद्यपि जैन ऐसी किसी एक आत्मा को मान्यता नही देते जो बहुविध (नानारूप) हो जाने की क्षमता रखती है। जैन और मीमांसक इस धारणा से सहमत हैं कि आत्मा चैतन्य से संरचित है (चेतना पूर्ण है) और यह कि पृथक् आत्माओ की राशि है। सुख और दुःख का अनुभव होता है क्योकि जैनधर्म के अनुसार कर्मों के संयोग है, वहीं मीमांसक साधारणतः कहते हैं कि वे आत्म–पदार्थ के परिवर्तन हैं। मीमांसाक के अनुसार आत्मा मुक्त दशा में दर्शन के अस्तित्व मे रहती है, किन्तु जैनधर्म की मान्यता है कि मुक्त जीवात्मा (सिद्धजीव) दर्शन, ज्ञान और सुख रूप होती है। यह कारणो मे से एक कारण हो सकता है कि मीमांसा और जैन धर्म मुक्त जीव के लिए सर्वज्ञता की संभाव्यता पर भिन्न मान्यता रखते है। सांख्य के पुरुष की जैन आत्मा से तुलना की जा सकती है, अतर यह है कि जैन धर्म का आत्मा मात्र एक दृष्टा असीमित आदि नहीं है, किन्तु वह पूर्व से ही कर्मो से बद्ध है और एक दिन वह (यदि भव्य हो तो) मुक्त हो जायेगा। सांख्य मे आदर्शवाद की झलक है। (159) जैनधर्म यथार्थवादी है, और वह आत्मा को एक ऐसा द्रव्य मानता है जो चेतना सहित है, जहाँ वह पुद्गल से इस बात मे भिन्न है कि पुद्गल चेतना रहित होता है. कालादि सहित ये दो जीव और पुद्गल वस्तुपरक अस्तित्व सृष्टि (सत्ता) को संरचित करते है। जैन आत्मा स्थायी व्यक्तित्व है और उसे बौद्ध विज्ञानो से पृथक् पहचानना होगा, जो प्रकट और अप्रकट होता रहता है, एक–समुदाय संवादी– समुदाय को उत्पन्न करता है। **ब्रह्मजाल सुत्त** मे बौद्ध दृष्टिकोण से पृथक् विविध अभिमतो का वर्णन किया गया है और उसका वर्गीकरण विषयवार है, न कि व्यवस्थावार। जीव और पुद्गल की जैन धारणाएं सस्सतवाद (160) से एक बड़ी सीमा तक सहमति रखती है। यह रुचि पूर्ण रूप से उल्लेखनीय है कि वह (सस्सतवाद) जिसे श्रमणो और ब्राह्मणो द्वारा रचित माना जाता है, और जो बौद्ध के क्षणिकवाद की दृष्टि मे ठीक नहीं है। जैनधर्म अनेकान्तवादी है और आत्माएं अनेक, बल्कि अनन्त है, और वे अपना व्यक्तित्व मुक्त दशा होने के पश्चात् भी रखती है, जो अद्वैत वेदान्त से पृथक् पहचान है; जहाँ अंततः आत्मा एक है और नित्य है, और सत्ता (अस्तित्व) के अन्य सभी रूप वास्तविक नहीं है वरन् उसी की छाया (अंश) मात्र है। रामानुज के सतुलित कारणात्मक एकत्ववाद मे, फिर भी,

आत्माओ में व्यक्तिशः वास्तविकता होती है। न्याय दर्शन से विलग, जैनधर्म में आत्मा सर्व–व्यापी नही होती वरन् जिस शरीर में रहती है उतने ही प्रमाण होती है। जैन धर्म में ऐसी कोई धारणा मान्य नहीं है, जैसे व्यक्तिशः आत्माएं किसी परमात्मा, ब्रह्मा या ईश्वर मे समय–समय पर जा मिलती है।

पुद्गल के स्वभाव पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक विचार– जैनधर्म के अनुसार पुद्गल आत्मा के विपरीत है; वह जड़ है और आत्मा की अपेक्षा इंद्रियग्राह्य है– जहां आत्मा इंद्रियग्राह्य नहीं है। पुद्गल मूर्त, स्थूल एवं इंद्रियगम्य है, यह पूर्णतः वास्तविक स्थिति है, और अति सुखपूर्वक आधुनिक आदर्शमय धारणाओं से वैषम्य में है कि पुद्गल ही मात्र पथ है जिसमें मूलतः मानसिक लोक हमारी परिमित बुद्धि को दिखाई देता है। आत्मा एवं पुद्गल दोनों वास्तविक हैं अथवा अन्य शब्दो मे अनुभव न कर्ता एवं अनुभूत वस्तु (कर्म) वास्तविक और प्रामाणिक है। अनादिकाल से जीव संसार में पूर्व से ही पुद्गल कर्मो से लिप्त है। यह ग्रंथी (या संयोग) हमें सांख्य के पुरुष एवं प्रकृति के बीच औपचारिक संबंध की याद दिलाती है। जैन धर्म मे पुद्गल स्थूल, सामान्य एवं वास्तविक है जबकि सांख्य प्रकृति, यद्यपि स्थूल एवं सूक्ष्म रूप से विकसित होती है, का सामान्य अर्थ अविकसित आद्य जड़ पद के लिए मान्य है और वह एक आदर्शवादी धारणा है। प्रकृति विकास की शैया है, जबकि जैन पुद्गल एक सामान्य पदार्थ है। जिसमें बहु विध प्रकार पर्यायें (परिणमन या परिवर्तन) सहज रूप से अनुगमन करती है। प्रत्येक आत्मा अपने द्वारा किये गये कर्म के लिए उत्तरदायी है। कहा जाता है कि सांख्य उतनी प्रकृतियां मानते थे जितने पुरुष होते है। यह पूर्व की सांख्य स्थिति उस दर्शन को और भी अधिक वास्तविक बना देती है और जैन धारणाओ के निकटतर ला देती है। जड़ के लिए जैन शब्द पुद्गल (161) है जिसका बौद्ध धर्म में अर्थ व्यक्ति, चरित्र, सत् (being), और आत्मा लिया जाता है। अपने अर्थ (162) से हटकर यह शब्द जैन आस्रव (163) जैसे शब्दो के साथ बौद्ध धर्म में पश्चात् वर्ती आयात रूप में प्रकट हुआ प्रतीत होता है। वात्सीपुत्रीय भी जैसे नाम से ज्ञात कुछ बौद्ध भ्रांतो ने जैसा शान्त रक्षित ने कहा है, पुद्गल को आत्मा के समान कहा है।(164) यह कि शरीर, मन और वचन सभी पौद्गलिक है, सांख्य दृष्टिकोण का संवादी है जिसके अनुसार वे सभी प्रकृति से विकसित होते हैं। चार प्रकार के अहंकार (165) वैकारिक, तैजस, भूतादि, और कर्मात्मन् हमे जैनधर्म के चार प्रकार के शरीरो: आहारक, वैक्रियिक, तैजसिक और कार्मण की याद दिलाते है। ये दोनों सूचियाँ इतनी समीप सहमति मे है कि यह एक संयोग (घटना) मात्र नहीं हो सकती। संसार के घटना चक्र को समझाने मे, जैनधर्म मे पौद्गलिक कर्म वही भूमिका निभाता है जैसा वेदान्त दर्शन में माया अथवा अविद्या। कर्म सूक्ष्म पुद्गल रूप होता है जो आत्मा मे तब आस्रवित होता है जब आत्मा रागद्वेष (मोह) के अधीन (योग के कारण) ग्राहक बनता है। पुद्गल की जैन धारणा का एक पक्ष कर्म सिद्धान्त अपने आप में एक जटिल एवं परिष्कृत विषय है, फिर भी मैं यहाँ से आगे बढ़ते हुए कहूँगा कि किसी भी भारतीय दर्शन 166 में मुझे इस कर्म सिद्धान्त की यथार्थ समानताएं बिल्कुल भी नही ज्ञात हुई हैं।

4. तीन उपयोगों का सिद्धान्त –

आत्मा उपयोग स्वरूप है, ज्ञान और दर्शन उपयोग कहे गये हैं। आत्मा के उपयोग का परिणमन तीन रूप से होता है– अशुभ, शुभ और शुद्ध। (I, 9, II 63)। अशुभ उपयोग के परिणमन वाला जीव विषय और कषाय से व्याप्त होता है, वह मिथ्या शास्त्रों को सुनता है, आर्त–रौद्र रूप ध्यान मे लीन रहते हुए खोटे कार्य करता है, दुष्ट होता है और उन्मार्ग में तत्पर रहता है। (II, 66)। अशुभ उपयोग पापकर्मों के आस्रव का कारण होता है (II, 64, III छभ)। अशुभोपयोग रूप परिणमन करने से जीव खोटा मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होकर हजारों दुःखों से दुःखी होता हुआ दीर्घ काल तक (संसार में) भ्रमण करता है (I, 12)। जीव का शुभोपयोग इस प्रकार के लक्षण वाला होता है कि वह देव– यति– गुरु की पूजा में, दयापूर्ण दान में, (गुणव्रत–महाव्रत रूप) उत्तम शीलों में, उपवासादि शुभ कार्यों में लीन रहता है (I, 69) और वह समस्त जीवों पर दयाभाव सहित होता है (II, 65)शुभोपयोगी जीव के पुण्यकर्मों का आस्राव होते है(II, 65, III, 45)। शुभोपयोग होने पर जीव को स्वर्गसुख प्राप्त होता है, शुभोपयोग सहित होतु हुए यदि वह तिर्यंच, मनुष्य या देव होता है तो (उतने समय तक) उसे इन्द्रियजन्य विविध सुखप्राप्त होते हैं (I,11,70)। सराग चारित्र (शुभोपयोग) दशा में अपने से पूज्य मुनियों की वन्दनादि करता है, दर्शन और ज्ञान का उपदेश देता है, शिष्यो का संग्रह करता है और अपने साथी साधुओं को, किसी भी जीव को हानि (बाधा) पहुँचाए बिना सहायता करता है (III,47-8)उन शुभ अशुभ उपयोगों के संसर्ग के अभाव में किन्हीं भी कर्मों का आस्रव नहीं होता है, शुद्धोपयोगी आस्रव से रहित होते हैं (II,64,III, 45)। इससे (शुद्धोपयोग से) समस्त दुःखो का क्षय हो जाता है (II, 89)। इस उपयोग सहित जीव धर्म के अनुभव का विकास करता है जो अरहन्त–सिद्ध भगवान् के अतिशयरूप आत्मा से उत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनन्त और अनन्तरित कैवल्य सुख प्राप्त करता है। (I, 13-14)। शुद्धोपयोग में शरीरजन्य दुःख नहीं होते हैं और जीव पदार्थ के यर्थाथ स्वरूप को जानकर द्रव्यों मे राग–द्वेष–मोह भाव को प्राप्त नहीं होता है, और वह साम्यभाव सम्पन्न हो जाता है (I,7,78)।

सांख्य के तीन गुणों से तुलना– शुद्धोपयोग की दशा पुनर्जन्म के चक्र में नहीं खोजी जाना चाहिए, क्योंकि वह दशा मुक्तात्माओ की होती है जिनमें शुभोपयोग और अशुभोपयोग दशाओं का पूर्णतः अभाव होता है और जिनसे इस लोक में पुण्यशाली और पापी जीवों की पहचान होती है। इस सिद्धान्त का समाज–नैतिक पक्ष इतना स्पष्ट होता है कि कोई भी उसकी तुलना सांख्य मत के तीन गुणों के सिद्धान्त से करने के लिए उद्यत हो जाता है। यह चिरसम्मत एवं लोकप्रिय दोनों पक्षों से समाज–नैतिक असमानताओं को समझाने के लिए उपयोग में लाये गये हैं। (167) सम्भवतः भंडारकर ने इसी समानता (सादृशता) का निर्देश किया। (168) यह सादृशता अत्यन्त प्रभावक है, कि असमान विवरण की उपेक्षा नही की जाना चाहिए। तीन गुण प्रकृति के अवयव हैं, पुरुष के नहीं हैं जो आत्मा है, जो स्वयं को भूल से उनका कर्त्ता अपने को मान बैठा है; कभी कभी उन्हें ऐसी मर्यादाएं (प्रतिबंध) मान लिया जाता है जिनके द्वारा परमात्मा एक व्यक्तिगत आत्मा बन जाता है। (169) यह आकर्षक (मोहक) सांख्य पारिभाषिक शब्दावलि ने पञ्चदशी

जैसे बाद के वेदान्त का प्रतिनिधित्व करने वाले ग्रंथों को प्रभावित किया जहाँ प्रकृति ब्रह्म के त्रिगुण कल्प की भूमिका निभाती है। ये गुण (क्रमशः) भलाई, उदासीनता और बुराई के संवादी तीन प्रकार (त्रिविध) कर्म रूप होते हैं। (170) उपयोगों और गुणों में वहां तक सादृशता है जहाँ तक उनके नैतिक प्रभावों का सम्बन्ध है। गुणों की सांख्य दृष्टि से भिन्न, जैनधर्म के अनुसार उपयोग आत्मा अथवा जीवों के होते हैं। शुद्धोपयोग की यद्यपि सत्त्व से तुलना हो सकती है, तथापि वह कोई सुनिश्चित आध्यात्मिक वस्तु नहीं है किन्तु शेष दो उपयोगों का अभाव (उन्मुक्ति) मात्र है; वहाँ सांख्यमत में गुणों को प्रकृति के अवयव बतलाया गया है, जो पुनः गुणों की साम्यावस्था (समतोल) का प्रतिनिधित्व करते है। किन्तु जैनधर्म में जीव के उपयोगों का आविर्भाव पुद्गल कर्म के संयोग से होना बतलाया गया है।

5. केवलज्ञान का सिद्धांत—

वस्तुतः कथन करने पर आत्मा ज्ञाता है और (चेतनामय उपयोगमय) ज्ञान स्वभाव वाला है (II,35,I,28आदि)। ज्ञान आत्मा है, और ज्ञान आत्मा को छोड़कर कहीं नहीं हो सकता है, आत्मा और ज्ञान समान (बराबर) है न तो हीन न तो अधिक (I,23); यदि आत्मा ज्ञान से हीन है तो वह ज्ञान चेतन के साथ तादाम्य न होने से अचेतन हो जावेगा और उस दशा में पदार्थ को जान नही सकेगा (कार्यकारी न होगा)। यदि आत्मा ज्ञान से अधिक है वह ज्ञानातिरिक्त आत्मा ज्ञान के बिना (पदार्थ को) नहीं जान सकेगा (I, 24-5)। किसी अभिप्राय से आत्मा को आत्मा से अधिक लिया जा सकता है (I,29), क्योकि उसके अन्य गुण भी होते है जैसे सुख, वीर्यादि। ज्ञान स्वरूप होने की दृष्टि से आत्मा स्वयं को जान सकता है, पर पदार्थ वस्तुओं को जान सकता है तथा दोनों के संयोग से प्राप्त को भी जान सकता है (I, 36) किन्तु आत्मा की यह सारभूत ज्ञानशक्ति का घात हो जाता है क्योकि वह पुद्गल कर्म के लम्बें संसर्ग में— (ज्ञानावरणी आदि के रूप मे संयोग वश) रही है, और उसे इंद्रियों की प्राप्ति हुई है (I, 55, II, 53)। इंद्रियाँ पौद्गलिक होती हैं, इसलिए आत्मा का यथार्थ स्वभाव उनके ज्ञान क्षेत्र के बाहर होता है। जो कुछ भी इंद्रियों से ग्रहण होता है वह परोक्ष है, क्योंकि आत्मा ज्ञान की वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण नहीं कर रहा है, वही प्रत्यक्ष विज्ञान (पच्चक्खं विण्णाणं) होगा जबकि आत्मा स्वयं ही सभी को इंद्रियो की बिना सहायता के ग्रहण करेगा (I, 56-58)। इंद्रियजन्य ज्ञान क्रमशः (अजुगवं) और परोक्ष (परोक्खं) होता है क्योकि उसकी चार अवस्थाएं (क्रम) होती है: अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा (I,40)।

शुद्धोपयोग के द्वारा जब यह आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोह कर्मो से विमुक्त हो जाता है, वह स्वयंभू हो जाता है और केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है (I,15-6)। यह केवलज्ञान अतीन्द्रिय होता है, उसमें आत्मा द्वारा बिना इंद्रियों की सहायता के प्रत्यक्ष रूप में वस्तुत्व का ज्ञान होता है, अवग्रहादिरूप क्रमिक ऐंद्रियिक अवस्थाएं नही होती। किन्तु ग्रहण अक्रम एवं युगपत् होता है; मानो वह समस्त इंद्रियों के गुणों से समृद्ध है; और केवलज्ञान के लिए कोई भी पदार्थ परोक्ष नहीं है। (I,20-2)। केवली समस्त लोक को जानता और देखता है, विविधता और विषमता को लिए, हुए; भूत, भविष्य एवं वर्तमान के समस्त पदार्थों को बिना ज्ञेय

पदार्थों या पर्यायों मे प्रवेश करते हुए जानता है उसीतरह जिसप्रकार रूपी पदार्थ चक्षुओं मे प्रविष्ट नही होते और चक्षु रूपी पदार्थ मे प्रविष्ट नही होते (I-27,47)। केवलज्ञान उसी प्रकार पदार्थ को अभिभूत कर लेता है, जिस प्रकार दूध में डुबाया हुआ नीलमणि उस सम्पूर्ण दूध को अभिभूत कर अपनी कांति फैलाकर रहता है; केवलज्ञान स्वस्थ होते हुए समस्त पदार्थों को जानता है और इसलिए केवली को सर्वव्यापक कहा जाता है, और समस्त पदार्थ उसके ज्ञान में स्वयं स्थित (प्रतिबिम्बित) रहते है (I,28-31,35)। केवली यद्यपि समस्त (प्रत्येक) पदार्थों को सर्वांगपूर्ण रूप से देखते जानते है तथापि पर पदार्थ (बाह्य वस्तुत्व) उन्हें किसी प्रकार प्रभावित नही करते है (I, 32)। यह केवलज्ञान के विशेष स्वभाव का माहात्म्य है कि समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायो वाले समस्त प्रकार के पदार्थ ज्ञान मे वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायों की भांति विद्यमान रहते है (I, 37- 39)। केवलज्ञान अतीन्द्रिय प्रकार का ज्ञान होने से सभी पदार्थों को जानता है चाहे वह प्रदेशो सहित हो या रहित हो, मूर्त रूप सहित हो या रहित हो, तथा वे सभी पर्यायें जानता है जो अनुत्पन्न तथा विनष्ट है (I, 41)। उसे क्षायिक ज्ञान भी कहते है, क्योकि यह ज्ञान कर्मों के क्षय से हुआ है और नवीन कर्मो से रहित है (I,42,52) केवलज्ञान ही एक यथार्थ नाम वाला ज्ञान है, क्योकि वह युगपत् तथा अक्रम (आकस्मिक) है; किसी एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती है, और द्रव्य अनन्त प्रकार के है, अत: एक को जानना समस्त को जानना होता है और समस्त को जानना एक को जानना होता है, यदि वे एक के पश्चात् दूसरे को (क्रमश:) जानते तो (सम्पूर्ण द्रव्यो को) सर्वांगरूप से नही जाना जायेगा; इस प्रकार केवलज्ञान ही ऐसा मात्र ज्ञान है जो वस्तुत्व (समस्त पदार्थो एवं उनकी समस्त पर्यायो) को यथांथित. ग्रहण करता है (I, 48-51)।

केवल ज्ञान की उत्पत्ति आवश्यकीय रूप से सम्पूर्ण या निश्चय सुख सहित होती है (I,59,19)। इसमे दु.ख का लेशमात्र भी नही होता है, क्योकि समस्त घातिया कर्मों का अभाव हो चुका है (I,60)। जिस प्रकार सूर्य मे प्रकाश और उष्णता है, उसी प्रकार सिद्ध, मुक्तजीव, में केवलज्ञान और सुख होता है (I, 68)। यह सुख प्रत्येक वस्तु से स्वतंत्र होता है, और इसीलिए नित्य (अनन्त) होता है, वह (स्वयमेव) भौतिक न होकर आध्यात्मिक होता है (I,65)। उसे इंद्रिय जन्य भोगोपभोगो से पूर्णत. अलग मानना चाहिए जो सभी संसारी जीवों को विषय क्रीड़ा में लुब्ध कर लेते है; इंद्रियजन्य भोगोपभोग छिपे हुए दु.ख स्वरूप है क्योकि वे अन्य परतंत्रता से उत्पन्न होते है (पराधीन हैं), क्षणभगुर है, बीच मे नष्ट होने वाले हैं, बंध के कारण है और विषम संकटमय है (I,63-4,76)।

सर्वज्ञता (केवलज्ञान) पर प्रासंगिक प्रकाश– केवलज्ञान के इस सिद्धांत तक पहुँच और उसका मूल्यांकन आधिभौतिक (पराभौतिक), मनोवैज्ञानिक, और धर्म–गुह्य दृष्टिकोणों से करना होगा, तथा उसे जैन दर्शन के अन्य सह सम्बन्धित नियमो के प्रकाश मे समझना होगा जीव या आत्मा सारभूत रूप से ज्ञाता है और न्याय दर्शन (मत) से विलग अनन्तज्ञान स्वरूपी है, जहाँ (न्यायमत मे) ज्ञान यद्यपि नित्य आत्मा मे होता है, किन्तु स्वयं नित्य न होकर किसी अन्य कार्य की भांति विलुप्त हो जाता है (171); पुनर्जन्म दशा में यह क्षमता कर्मो के द्वारा अपंग हो जाती है, इसलिए शुद्ध दशा मे आत्मा को केवलज्ञानी होना चाहिए; और इसे मानवीय अनुभूति की

प्रक्रिया में रहने वाले काल एवं स्थान विषयक सीमाओं से परे कार्य करना होता है। आगे वस्तुत्व एक महान् विषमता है जिसमें विविध प्रकार की विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें होती है। ज्ञान की ऐसी जटिल वस्तु ज्ञान की परोक्ष विधि से सम्पूर्ण (सर्वांग) रूप से यथार्थतः ग्राह्य नही है। अतः यदि इस जटिल वस्तुत्व को संपूर्ण रूप से और तात्कालिक रूप से ग्रहण करना हो, तो आत्मा को उसे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय बनाना चाहिए; यह केवल केवलज्ञान मे ही संभव है, जबकि आत्मा समस्त बाधाओं से पूर्णतः स्वतंत्र हो। इंद्रियां, अंततः कर्मों के परिणाम स्वरूप आत्मा के पौद्गलिक अनुबंधन रूप है; अतः जैनधर्म के अनुसार इंद्रियों के द्वारा ग्राह्य ज्ञान, उस वैशेषिक मत के ज्ञान के समान नहीं है जो प्रत्यक्ष कहा गया है और इंद्रियों तथा ज्ञान की वस्तुओं के मध्य संसर्ग रूप समझाया गया है, अप्रत्यक्ष या परोक्ष है, क्योंकि वस्तुएं प्रत्यक्ष रूप से और सीधे आत्मा या जीव द्वारा नहीं जानी जाती है। इस प्रकार इंद्रियां प्रयोगाश्रयी ज्ञान की साधन हैं। जो काल और आकाश की सीमाओ से प्रतिबंधित हैं, जो पर्यावरण संबंधी बोधात्मक भूलों मय हो सकता है और जो जानने की प्रक्रिया मे क्रमिक होता है। विश्वसनीय ज्ञान मान्यार्थ रूप प्रामाणिक तभी संभव हो सकता है जब जीव बिना इंद्रियो की सहायता के वस्तुत्व को प्रत्यक्ष रूप से जाने; और वही दशा सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की है। सर्वज्ञता की
संभाव्यता को आगमनात्मक सिद्ध किया जा सकता है : इस लोक मे विभिन्न मात्रा वाली बुद्धि और ज्ञान वाले मनुष्य पाये जाते हैं; जो किसी एक की समझ के बाह्य है उसे बहुत सरलता से अन्य के द्वारा समझा जा सकता है; कुछ मनुष्य की इंद्रियां अधिक जागृत और तीव्र होती है जो सामान्यत. संभव है, इन सभी का यह तात्पर्य है कि ज्ञानावरणीय कर्म के आनुपातिक उपशम और क्षय के अनुसार ज्ञान की विभिन्न मात्रा की विद्यमानता की संभाव्यता होती है। तब मुक्त जीव की उस दशा में, जहॉ सभी कर्मों का पूर्णतः नाश कर दिया गया है, उसे आत्मा का वास्तविक स्वभाव रूप अनन्त ज्ञान की अवस्था रूप स्वीकार करना होगा। जीव के धर्म–गुह्य अनुभव मे जब कर्म बंध से मुक्ति होती है तो वही स्वयं परमात्मा हो जाता है; वह केवलज्ञान की दशा है जो केवल सुख (अनन्तसुख) के समान है जिसके इस लोक में कोई समान्तर (प्रतिम) नही है। मुक्ति रूपी उसी कवच की ही दोनों पार्श्व ज्ञान और सुख है, नहीं वे तत्सम है। जो कुछ वेदान्त नकारात्मक रूप मे प्रस्तुत करता है जैनधर्म उसे सकारात्मक रूप मे प्रस्तुत करता है। वेदान्त अविद्या को दुःख के साथ जोड़ता है वहाँ जैनधर्म सर्वज्ञता को अनन्त सुख के साथ जोड़ता है, वेदान्त अविद्या को नष्ट करने के लिये परमात्मा मे लीन होने के लिये कहता है वहॉ जैनधर्म स्वयं व्यक्ति को परमात्मा होने के लिये कहता है जहॉ प्रत्येक अपना अलग व्यक्तित्व सर्वज्ञता और अनन्तसुख रखते हुये होते है जब कि वह कर्म से विमुक्त हो जाता है। सर्वज्ञता समस्त सिद्ध (मुक्त) जीवो मे होती है।

वरुण का कैवल्य (सर्वज्ञता)– जैनदर्शन के इस सिद्धांत की विशिष्ट पृष्ठभूमि को छोड़कर, सर्वज्ञता की धारणा मानवीय मस्तिष्क का एक वैध दावा है। वैदिक देवता वरुण मेघ भी सर्वज्ञता की कुछ व्याप्ति सयोजित की गयी है। ऊपर नील गगन का सर्वव्यापी रूप वरुण का स्वाभाविक आधार है; गगन का प्रतिष्ठित प्रकाशवान् सूर्य उसका नेत्र है जो स्वर्ण पख वाला दूत है; जो खुले मैदानो पर अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे। विशेषकर ऐसे घुमक्कड़

(यायावर) आर्यों को आकाश प्रत्येक स्थान से दिखाई देता था, और इसलिए वरुण सभी को देखते हुए प्रतीत होते है; और वे मानवों द्वारा उनके नियमों को तोड़ते हुए सरलता पूर्वक पता लगा लेते है। गगन का प्रतिबिम्ब महासमुद्र में झलकता है, अतः वरुण को समुद्र में जाना कहा जाता है। (172) वरुण का यह सर्वव्यापी चरित्र उनमें सर्वज्ञता की कुछ व्याप्ति ले आता है, अतः उन्हे आकाश मे चिड़ियो की उड़ान का तथा समुद्र में जहाजों के पथ का साक्ष्य कहा जाता है। यह भौतिक सर्वव्यापकता है जो नैतिक अभिप्राय से है, और कोई आधिभौतिक या मनोवैज्ञानिक प्रयोजन सूचित नही करता है; यही कारण है कि संभवतः यह विचार बाद के साहित्य में निरन्तर देखने में नहीं आया है।

सर्वज्ञता के विषय में उपनिषद् का मत उपनिषद् दर्शन में सर्वज्ञता की संकल्पना की ब्रह्म की धारणा के अधीन खोजा जाता है। ऋग्वेद से लेकर उपनिषदों के अंतिम उपनिषदों के अंतिम स्तर तक, भारतीय–आर्यों के साहित्य की गति प्रगति में, ब्रह्म शब्द, नपुंसक और पुल्लिंग दोनों, अर्थ के विभिन्न परिवर्तन रूपो से होकर निकला है। किसी समय यह शब्द प्रार्थना (स्तुति) अभिप्राय रखता था, और बाद मे प्रार्थनाओं (स्तुतियों) और अन्य पवित्र कार्यों में प्रच्छन्न शक्ति का महत्त्व रखता था। और भी आगे समस्त सत्ता के आधार रूप असीमित शक्ति के रूप मे ब्रह्म एक सरल चरण था, किन्तु चरम बिन्दु पर सांश्लेषिक रूप से विचार करने पर, ब्रह्म के मानव रूप एव परासत्ता सबंधी दोनो लक्षण हैं। (173) प्रारम्भ मे उस (ब्रह्म) की पहचान विभिन्न तत्त्वो से की जाती है, और बाद मे उसे (ब्रह्म को) सुख और प्रकाश तथा अंततोगत्वा यथार्थ के यथार्थ रूप मे माना जाता है। जैसा ह्यूम (Hume) ने बतलाया है, ब्रह्म ब्रह्माणु का आधार अथवा लोकआधार है, उन सभी घटनाओ का जो मात्र ब्रह्म के विभिन्न पहलू (पक्ष) हैं। ब्रह्म सभी कुछ है, वही व्याप्ति है, वही तादात्म्य है; उसके सिवाय कुछ भी यथार्थ नहीं है। 'गोचर यथार्थ का एक अंश है, किन्तु मात्र वह यथार्थ की संपूर्णता का एक टुकड़ा है। (174) उपनिषदीय दार्शनिकों की यह खोजपूर्ण अन्तर्दृष्टि उन्हे एक विशिष्ट जागृति–आधार तक ले आयी है: जो कुछ भी आत्मा (Subject) के चारो ओर है, गोचर लोक जो आत्मा (जीव) सहित है, माया रूपी है और जो कुछ भी मानवीय है, ब्रह्म, अज्ञेय है, और वह वास्तव में अभिव्यक्ति से परे है। जब सीमित व्यक्ति, स्वयं को ब्रह्माण्डीय (खगोलीय) आत्मा, नामतः ब्रह्म के साथ एक रूप अनुभूत करता है, यह जानता है, वह वास्तव मे हर वस्तु को जान लेता है। केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता, उपनिषदो के अनुसार, अविद्या, सृष्टि की माया का पूर्ण नकारात्मक अर्थ लिये है, जो एकत्व की आधारभूत यथार्थता (के रहस्य) को पूर्णतः ग्रहण करने से प्राप्य है। यह सर्वज्ञता ऐसा ब्रह्मज्ञान है जिसे प्राप्त करने हेतु इंद्रियाँ, विचार और निर्देश बिलकुल भी साधनरूप नहीं हैं, वह तुरीयावस्था की परम आनंद की दशा है। किसी परिमित अभिप्राय से वेदान्ती ब्रह्म का कोई भी प्रशंसनीय व्यक्तित्व नहीं है; वह सर्वालिंगनशील और सर्वव्यापी व्यक्तित्व है, अथवा और भी अच्छे प्रकार से ऐसा सर्वसत्तावान् का आधारभूत ब्रह्माण्डीय सिद्धान्त रूप में बुद्धिमान है और सुख पूर्ण है; एकत्ववादी के लिए वह अप्रतिम है जो अद्वितीय है; शंकर के लिए उसके सिवाय जो कुछ भी गोचर है वह मात्र अविद्या की कल्पना है। इस वेदान्ती अवधारणा में जों पूर्णतः आदर्शात्मक है, वस्तुत्व ज्ञाता के बाहर नही है; जबकि जैन सर्वज्ञता के लिए, एक प्रकट बाह्य वस्तुत्व है जो काल

और आकाश के अनन्त विस्तार में विस्तृत है जिसे सर्वज्ञ को सहज में दृष्टिगोचर होना होती है जैसे नेत्र के लिए दृष्टि की वस्तु। आत्माओं की अनेकता की धारणा के कारण जैनधर्म में, सर्वज्ञता और अनन्तसुख की दशा मे भी आत्मा का व्यक्तित्व अक्षुण्ण रहता है, जबकि वेदान्ती ब्रह्म ही सब कुछ होता है जिसमें व्यक्तिगत आत्माओं के लिए कोई भी उद्देश्य नहीं रहता है। वेदान्ती ब्रह्म जो अद्वितीय है, मात्र एक ही सर्वज्ञ है, जब कि जैनधर्म में अनेक आत्माएं सर्वज्ञो के रूप में परिणमन करती हैं। जो बिना किसी संघर्ष के पारस्परिक रूप से अन्तः प्रविष्ट हो सकती है। इन सभी में, जैनधर्म की यर्थाथवादी तान बिलकुल स्पष्ट है।

बौद्धधर्मानुसार सर्वज्ञता– बौद्धधर्म मे बुद्ध के लिए सर्वज्ञता का दावा किया गया है, और शान्तरक्षित मानते है कि बुद्ध की सर्वज्ञता न्यायपूर्ण है और वह इस कारण कि बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त शुद्ध एवं वैद्य है, कारण कि बुद्ध दुःख के आवरण से मुक्त थे, और इसलिए कि उन्होने परासत्य के आवरक पृष्ठ को नष्ट कर दिया था। शूद्र के प्रति भी बुद्ध की असीमित दया उनकी सर्वज्ञता का एक अभिलक्षण है। मनुष्य साधारणतः सामान्य को जानते हैं, जबकि बुद्ध समस्त विशेष विवरण को जानते है। जब बुद्ध उन्हे देखते है उनके मलिन संस्पर्श से अभिरंजित नहीं होते है; वे उन्हे अंरजित मन से देखते हैं। उनका मस्तिष्क अतिसामान्य उत्कृष्टता पूर्ण है, अतः वे प्रत्येक वस्तु को स्पष्ट रूप से देखते है। जहाँ तक व्यक्तिपरक वैशिष्ट्य का संबंध है जैनधर्म और बौद्धधर्म सर्वज्ञता की व्याख्या मे सहमत है, और उनके आदरयुक्त गुरुओ की सर्वज्ञता का दावा किया जाता है। 'महावीर के लिए, फिर भी, सर्वज्ञता का जैनो का दावा कि वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और केवलज्ञान-दर्शनधारी थे; कि चाहे वे गमन करते हुए हों, खड्गासन मे हो, ज्ञान और दर्शन सदैव विद्यमान थें' इस तथ्य का बौद्धो द्वारा उपहास किया गया है। बौद्धो का सर्वज्ञता का दावा किंचित् अलग लक्षण वाला है: बुद्ध अतीत जन्मों को जहाँ तक वे चाहते है स्मरण कर सकते है, वे जीवों के अपने कर्मानुसार मृत्यु और जन्म को देख सकते है; और आसव के नाश के परिणाम स्वरूप उन्हे इस जीवन में एक मुक्त मस्तिष्क और ज्ञान प्राप्त हुआ है। महायान बौद्धधर्म मे, विशेषकर शून्यवाद और विज्ञानवाद मे, सर्वज्ञता के सभी जैन निहित अर्थो को नहीं पढ़ा जा सकता है, क्योकि दोनो यथार्थवादी जैनधर्म के विरुद्ध आदर्शवादी है। जैनधर्म मे आत्मा एकमात्र ज्ञाता होने के कारण सर्वज्ञता पर अपना न्यायपूर्ण सारभूत दावा कर सकता है, जबकि बौद्धधर्म मे चेतना की क्षणिकधारा कभी भी जैन आत्मा का सारभूत प्रतिस्थापक नहीं हो सकता है। सर्वज्ञ तीर्थकर के चारो ओर (अनन्त) त्रिकाल एवं अनन्त आकाश मे विस्तृत अनेकानेक पर्यायों सहित (स्वयं को समन्वित कर) विषय वस्तु–ज्ञान रहता है. किन्तु विज्ञानवाद के अनुसार चेतना की शृंखला के सिवाय इस लोक में कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विज्ञानवाद, यदि मैं उस समान कहूँ, उपनिषदीय एकत्ववाद जैसा रूप में आता है; और सर्वज्ञता मात्र स्व–ज्ञान के समान हो जाता है, क्योंकि विज्ञान के परे कुछ भी अस्तित्व नहीं रखता है। और बुद्ध का सर्वज्ञ के रूप में दावा किया गया है, क्योंकि उससे उनके वचनों को (176) अमोघता प्राप्त हो जाती है।

सर्वज्ञता पर कुमारिलका आक्षेप– कुमारिला ने सर्वज्ञता के सिद्धान्त की प्रतिकूल समीक्षा की है; अतः पूर्वमीमांसा का दृष्टिकोण दृष्टव्य है; और उसका उस मत के कुछ विशेष अभिमतों

(नियमो) के प्रसंग मे अध्ययन करना होगा। पूर्वमीमांसा मे वैदिक व्यादेश सर्वोच्च रूप से प्रामाणिक माने गये है, बलिदान का अनुष्ठान करना सर्वोच्च कर्त्तव्य है जो जब सम्पन्न किया जाता है तब वह कोई अपूर्व ब्रह्माण्डीय शक्ति, 'कार्यो के दशा के पश्चात् प्राप्त शक्ति' उत्पन्न करता है, जो बलिदान का अनुष्ठान करने वाले के लिए समस्त फलों को देती है। ये नियम किसी को भी सर्वज्ञता का दावा करने की अनुमति नहीं दे सकते है, कारण सरल है कि यदि कोई भी वैदिक सीमा के बाहर सर्वज्ञ हो, तो उसके शब्द अमोघ रूप से माने जायेगे और वैदिक प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लग जायेगे। कुमारिल कहते हैं कि मानव केवल वस्तुओ का सामान्य पक्ष देख मकता है, और इसलिए यह विश्वास करना सम्भव नहीं है कि समस्त स्थानो मे समस्त कालो की समम्त वस्तुएं देख सके। सर्वज्ञ को एक मलिन जीव होना पड़ेगा, क्योंकि, देखने के कार्य की आवश्यकतानुसार, उसे ऐसी अनेक मलिक वस्तुओ के संसर्ग मे आना होगा। देखने और जानने की क्षमता की एक सीमा होती है, और उसे उस (सीमा) से परे खींचा नहीं जा सकता है; अत. कोई भी ऐसी वस्तुए नहीं देख सकता है जो अतीन्द्रिय हो। पांच प्रमाणो में से कोई भी किसी भी की मर्वज्ञता को न्यायसंगत सिद्ध नही कर सकता है। सर्वज्ञ कहे जाने वाले आपस मे परस्पर महमत नही होते है, उनके शब्द वेदो के विरुद्ध है जिनकी प्रामाणिकता निर्विवाद है, और ना कोई भी सर्वज्ञ किसी को कभी मिला है. अतः सर्वज्ञता एक असंभाव्यता है। (177) सर्व–ज्ञान जो ब्रह्म मे आरोपित है उसका अर्थ मात्र आत्मज्ञान है। कुमारिल का यह आक्षेप दुहरे रूप मे प्रतिबंधित है: प्रथम, उनके हाथ उनके ही मत के उपर्युक्त अभिमतो (नियमो) से बंध जाते है, और दूसरे उन्होंने इद्रियजन्य ज्ञान को सर्वज्ञता से विभेदित नही किया है; वे सर्वज्ञता पर आक्षेप करते है मानो वह तीव्र किया गया और वृद्धिंगत किया गया इंद्रिय–बोध हो। कुन्दकुन्द ने हमे स्पष्ट रूप से बतलाया है कि सर्वज्ञता मे इंद्रियो की कोई भी भूमिका नहीं रहती है; वह आत्मा ही है जो स्वभाव से ज्ञाता होने मे तथा साररूप से ज्ञान गुण से निष्पन्न होने से जटिल यथार्थता के सम्मुख आता है और उसे तत्काल और युगपत् रूप से उसके सम्पूर्ण रूप मे अपने बिना किसी प्रयास के तथा अपने आत्मिक विभव के बिना प्रभावित हुए जानता है।

अन्यत्र सर्वज्ञता तथा सर्वज्ञ सुख– न्याय दर्शन का (सृष्टि) कर्ता ईश्वर सर्वज्ञ है, क्योंकि कर्त्ता को अपने कर्मों को उनके कारणो सहित जानना चाहिए, और ज्ञान की वस्तु होने से लोक को किमी के द्वारा अवश्य ज्ञात होना चाहिए। इस सकल्पना के आंशिक रूप तथा सादृशताएं न्याय दर्शन के अलौकिक–प्रत्यक्ष मे और समाधि अप्रज्ञात ध्यान मे तथा योगदर्शन की कुछ ध्यानात्मक उपलब्धियो मे खोजा जाना चाहिए। कुन्दकुन्द द्वारा सर्वज्ञता के एक दूसरे पक्ष को (भी) महत्त्व दिया गया है कि वह अनन्त सुख वाली आत्मा की एक दशा है। वस्तुतः सारभूतरूप से वह आध्यात्मिक सुख है, इंद्रियो का वहां कोई कार्यक्षेत्र नही है, क्योकि उनका सुख अथवा आनन्द स्वतंत्र नहीं है कारण कि वह दो तत्त्वो के सयोग पर आश्रित है। यदि वह एक बार अनुभव मे आ गया तो उसका कोई अंत नहीं है। वह केवल विविध बाधक कर्मों के नाश होने के पश्चात् प्राप्य है। इस दशा मे ज्ञान और सुख तत्सम होते है, क्योकि दोनो आत्मा से तत्सम है। यह दशा अर्हत् और सिद्ध मे सम्भव है। धार्मिक मुमुक्षुओ द्वारा उसकी महत्त्वाकांक्षा की जाती है। इस दशा की सुख पूर्वक, जहाँ तक कि निर्दिष्ट व्यक्ति का सबंध है, सांख्य और वेदान्त (178) की जीवन

—मुक्तावस्था से तुलना की जा सकती है जिसमे आत्मा ब्रह्म हो जाता है किन्तु तब तक प्रतीक्षा करता है जब तक कि मर्त्य (नश्वर) शरीर की यात्रा पूरी नही होती, और उपाधियाँ उपशान्त नहीं हो जाती है। इस दशा मे कोई कष्ट, कोई भली या बुरी क्रियाएं (179) (कर्म) नहीं होते है। जहाँ तक उसका सुखपूर्ण पक्ष का संबंध है, वह उपनिषद की तुरीयावस्था के समान है जहाँ स्व—चेतक सुख प्राप्त किया गया है। (180) इस ब्रह्मानन्द की दशा को **तैत्तरीयोपनिषद** मे प्रतिपादित किया गया है जहाँ सुख के प्रमाण को अनुभवजन्य मानक द्वारा मापने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ हमे ब्रह्म और आत्मा का पूर्ण तादात्म्य प्राप्त होता है, और अंत मे एक चिरसम्मत (शास्त्रीय) गद्यांश है जिसमे ब्रह्म से एकाकार हुए मुमुक्षु की परमानंददायक प्रतिध्वनि अभिलेखबद्ध है। सर्वज्ञता का यह पक्ष, वस्तुत., धार्मिक रहस्यवाद के क्षेत्र का आंशिक रूप से अतिक्रमण करता है।

राधाकृष्णन् की धार्मिक अनुभूति से सर्वज्ञता की तुलना— यह सर्वज्ञता और सर्वसुख सम्पन्नता का आध्यात्मिक जीवन राधाकृष्णन द्वारा अभिधानित धार्मिक अनुभूति के (181) अधिकाशत. ठीक समान है। वह आत्म— अनुभवातीतता की सकारात्मक आध्यात्मिक दशा है; वहाँ व्यक्ति अपने सम्पूर्ण अस्तित्वपूर्वक अपनी प्रतिभाओ और शक्तियो की सम्पूर्णता पूर्वक क्रिया करता है, वह अचेतन विकृति का परिणाम न होकर आध्यात्मिक अतिचेतनता का परिणाम है; वहाँ सम्पूर्ण से सम्पूर्ण का अनुचार है; और वहाँ विचार और यथार्थता संयुक्त हो जाती है तथा विषय और वस्तु का जननात्मक विलय परिणाम स्वरूप प्राप्त होता है। यह धार्मिक अनुभूति आनन्द एवं शान्ति पूर्ण होती है। परन्तु यहाँ विभिन्नता का एक बिन्दु है. राधाकृष्णन् के अनुसार यह धार्मिक अनुभूति एक अस्थायी दशा है और प्रतिदिन की अनुभूति के स्तर पर निरंतर अभ्यास मे नही आती है, जबकि सर्वज्ञता (केवलज्ञान) एक बार प्राप्त हो जाने पर कभी विलग नहीं हो सकता है, क्योकि वह सम्पूर्ण आत्मा का सारभूत आविर्भाव (पर्याय) है। जैसा जोड (Joad) ने लिखा है, ''मानव का आत्मा प्यूपा के समान है जो पुदगल के कोकून में परिपक्व होता है जिसमे से वह एक दिन फोड़कर निकलेगा और शुद्धयथार्थता के सूर्य के सम्मुख अपने पंखो को फैलाएगा'' (182)। यह प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव एक आत्मप्रत्यानुभूत दृष्टि है और इसलिए धर्म के आधार रूप मान्य है; ठीक यही कारण है कि जैन और बौद्ध अवतारो के सर्वज्ञ होने का दावा किया जाता है।

सर्वज्ञता की आवश्यकता और (उसका) प्रमाण— विभिन्न मतावलम्बियों के बीच सर्वज्ञता का यह सिद्धान्त संघर्ष की जड़ (लड़ाई का कारण) रहा है, समस्या दुहरी है: प्रथम तो यह कि क्या सर्वज्ञता मानवीय रूप से संभव है, और दूसरा यह, कि क्या अमुक अमुक व्यक्ति सर्वज्ञ है। वे भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ (मत) जो वेद को आत्म—प्रत्यानुभूत रूप से प्रामाणिक मानतीं है, उन्होने प्रथम भाग को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया है और दूसरे भाग आंशिक रूप से। जैनधर्म और बोद्धधर्म जो वेद को कभी भी प्रामाणित नहीं मानते है, संभवतः जातीय एवं भौगोलिक कारणो से, वे प्रथम भाग को मान्य करते है किन्तु द्वितीय बिन्दु पर उनके आपस में मतभेद है, वह स्वाभाविक भी है। उन्होने अपने अपने अवतारो की सर्वज्ञता को सिद्ध करने मे कड़ा संघर्ष किया है। क्योंकि उस पर उनकी प्रणालियों (मतो) का याथातथ्य-जीवन एवं मृत्यु-निर्भर हैं; वह

सर्वज्ञता ही थी जो उनके अवतारों को अमोघत्व प्रदान कर सकती थी और अतः इन अवतारों के वचन (ध्वनि) द्वारा संरचित उनके ग्रन्थो को स्वयमेव अमोघत्व प्रदान कर सकती थी। इस प्रकरण को लेकर श्रेष्ठ–प्रामाणिक साहित्य रचा गया। कुन्दकुन्द के लिए सर्वज्ञता निश्चित मत (dogma) है, एक धार्मिक विरासत है और उनके द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त का एक सारभूत अंश है; उन्होने उसे तर्क संगति द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया है, संभवतः उनके दिनों में उसकी आवश्यक नही थी। इस विषय की तर्क–संगत पहुँच के संकेत चिह्न निज्जुत्तियों में दिखाई देते हैं, किन्तु जहाँ तक विद्यमान जैन ग्रंथो का सम्बन्ध है, जैन साहित्य में खंडन–मंडनात्मक तर्क की निश्चित कालावधि समन्तभद्र (लगभग ईस्वी द्वितीय सदी) से प्रारंभ होती है; यह कालावधि जैनियो के द्वारा संस्कृत अंगीकार करने की अवधि से अधिकांशतः सामंजस्य रखती है, जो खंडनमंडनात्मक शैली के लिए अधिक सुविधाजनक थी। उमास्वाति प्रथम जैन ग्रंथकार थे जिन्होने संस्कृत अंगीकृत की; अपने तत्त्वार्थसूत्र में उन्होंने सर्वज्ञता (I, 10, 11, 29) का वर्णन कुंदकुंद का अनुगमन करते हुए किया है, कि वे उसे सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं करते है। जैन ग्रंथकारो का सापेक्ष कालक्रम अपेक्षा करता है कि उमास्वाति संभवतः कुंदकुंद और समन्तभद्र के बीच के काल में हुए हों। समन्तभद्र सर्वज्ञता की संभावना को सिद्ध करने का प्रयास करते है, संभवतः उनकी दृष्टि मे उमास्वाति के सूत्रो पर या तो चार्वाक का अथवा मीमांसा का कोई आक्षेप हो। सर्वज्ञता के संबंध में समन्तभद्र के श्लोको को गहन माना जाता रहा है, अर्थ से भरे माना जाता रहा है; और मध्य युगो के ठीक अंत तक सभी अनुगामी ग्रंथकारों ने समन्तभद्र के अधिकांशतः तर्कों की यथातथ्य पूँजी के आधार पर सर्वज्ञता की संभाव्यता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। यह विषय अत्यधिक उत्साह के साथ शताब्दियों तक ऐसे महानतम तर्कशास्त्रियों द्वारा एक साथ विवेचित किया गया है कि तब तक संस्कृत भाषा का इतना अधिक ऐसा उपयोग नही हुआ था।(183)

6. आण्विक सिद्धान्त –

अचेतन (अजीव) द्रव्यो (II, 35)के समूह में पुद्गलद्रव्य एक नित्य स्थायी है। वह अनेक प्रकार का है, मूर्त है और इंद्रिय ग्राह्य है; सूक्ष्म परमाणु से लेकर महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गल में रूप, रस, गंध और स्पर्श (ये चार गुण) विद्यमान रहते है (II, 39 आदि)। पुद्गल द्रव्य या तो परमाणु रूप में अथवा स्कन्ध रूप में रहते है; ये स्कन्ध परमाणुओ से निष्पन्न बंध रूप होते है। परमाणु प्रदेश नहीं होते हैं अर्थात् उसका कोई विस्तार आकाश मे नही होता है (मात्र एक प्रदेश रूप होता है); वह आकाश–माप (क्षेत्र–प्रमाण) की इकाई होता है, और उसे इंद्रियों द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता है। परमाणु रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण वाले होने से स्कन्धो की रचना करते है। किसी परमाणु के रूक्षत्व और स्निग्धत्व गुणों के अंश (प्रत्येक समय अगुरुलघुगुण के कारण) एक से लेकर एक एक अंश की वृद्धि होते होते अनन्तपने तक पहुँच जाता हैं परमाणु अपने रूक्षत्व एवं स्निग्धत्व अंशों के कारण स्कन्धो की रचना करते है, अतः परमाणु चाहे रूक्ष या स्निग्ध हों, चाहे विषम या सम गुणाशों वाले हों, स्कन्धों की रचना दो अंशों का अन्तर होने पर करते हैं जबकि जघन्य गुणांश अपवाद रूप रहता है। समझाने के लिए और उदाहरण के लिए एक स्निग्धत्व गुणांश या रूक्षत्व गुणांश वाला परमाणु चार स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणांश वाले परमाणु से बंध जाता है; और तीन

गुणांश वाला पांच गुणांश वाले से बंध जाता है। इस प्रकार विभिन्न स्कन्धीय रचनाएं संभव हो जाती है (II, 71-5)।

कुन्दकुन्द की दृष्टि का कथन— कुन्दकुन्द अपने परमाणुओ को सिद्ध नहीं करते हैं वरन् मात्र उनका वर्णन करते है, कारण विलकुल स्पष्ट है कि वे केवली (सर्वज्ञ) द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का मात्र कथन कर रहे हैं; और वे परम्परानुमार किसी भी उपपत्ति से परे है। पुद्गल या तो स्थूल स्कंधो रूप में अथवा सूक्ष्म—परमाणुओ रूप मे विद्यमान रहता है; स्कन्ध इंद्रिय ग्राह्य तथ्य है, जबकि परमाणु, जो ऐसी दशा में होता है कि उसके परे उसके विखंडन की कोई संभावना नहीं होती है, सामान्य इंद्रिय ग्राह्यता पहचान से परे होता है: मात्र अतिसामान्य ग्राह्यता उसे देख सकती है। जैसा कि कुन्दकुन्द की अन्य रचनाओ से हमें ज्ञात होता है, परमाणु पुद्गल की अंतिम अविभागी इकाई है। वह नित्य है, शब्दरहित है, एक प्रदेशी है और स्पर्श, रस, गंध तथा रूप (वर्ण) सहित है। वह चार धातुओ का कारण है और उसे परिणाम द्वारा लक्षित करते है। (परिणाम—गुणो) (184)। प्रत्येक परमाणु के मात्र एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्श होते है। (185) परमाणु के इस वर्णन के साथ, जैसा कि उमास्वाति एवं अन्यों द्वारा भी आंशिक रूप से किया है, परमाणु के अस्तित्व की उपपत्ति देने का प्रयत्न करना सम्भव है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि परमाणु एक ऐसी आदर्श अभिधारणा (Postulate) नहीं है जैसी कि प्रदेश (ज्यामितीय—बिन्दु) की। वह सारभूत रूप से पुद्गल है जिसमे पुद्गल के लक्षण होते है। जैन परमाणुओ और वैशेषिक अणुओ मे यह मूलभूत अन्तर रहता है: जैन परमाणु सभी एक प्रकार के होते है, किन्तु वैशेषिक परमाणु चार तत्त्व—पृथ्वी, जल, तेज और वायु के संवादी चार प्रकार के होते है। न्याय—वैशेषिक ग्रथो मे ऐसे प्रयत्न दिखाई देते है कि तृतीयक परमाणु से तुलना किये गये सूर्यकिरण मे धूलिकण जैसी दृश्यमान वस्तु को संकल्पित किया गया है किन्तु जैन ग्रंथो मे वे सुस्पष्ट रूप से विद्यमान नहीं है। जैन और वैशेषिक इस तथ्य से सहमत हैं कि परमाणु इंद्रिय ग्रहण से परे है।

आण्विक अंतःसम्बद्धता पर कुन्दकुन्द— परमाणुओ के स्कंध बंध (संयोग) के संबंध मे कुंदकुंद जैन सिद्धांत प्रस्तुत करते है जो अपने आप मे अप्रतिम है। जैसा कि हमने देखा है, परमाणुओ के रस, गंध, वर्ण और स्पर्श होते है। यह स्पर्श ही है, चाहे वह स्निग्ध हो या रूक्ष हो जो परमाणु बंध करवाता है। दो संयोगी पक्षो की संयोज्यता अथवा असंयोज्यता का निर्णय स्निग्धत्व या रूक्षत्व के गुणाशो द्वारा होता है। (186) कोई भी परमाणु चाहे स्निग्ध हो अथवा रूक्ष, अन्य परमाणु से जो चाहे रूक्ष हो अथवा स्निग्ध, स्कंध की रचना करता है जब कि कोई निश्चित प्रतिबन्ध हो : दो संयोग करने वाले पक्षों के बीच रूक्षत्व या स्निग्धत्व गुणांशो की विषम एवं सम श्रेणियो के मध्य दो गुणांशो का अंतर अवश्य होना चाहिए; किन्तु जिस परमाणु में रूक्षत्व या स्निग्धत्व का मात्र एक गुणांश हो तो वह स्कन्ध के रचना मे भागीदार नहीं हो सकता है। स्कन्ध मे, जिसका गुणांश अधिक (स्तरवाला) है, वह उसे अवशोषित करता है जिसका गुणांश हीन (स्तरवाला) है। इस प्रकार आण्विक स्कन्ध रचना एक ऐसा स्वचालित फलन है जो परमाणुओ के सारभूत स्वभाव से उत्पन्न है। इस आण्विक पारस्परिक—सम्बद्धता पर डा. बी. एन. सील (Seal) की अभ्युक्ति यह है, " एक अपरिपक्व सिद्धांत—रासायनिक संयोग सम्बन्धी यह सिद्धान्त अति

अपरिपक्व है किन्तु असीम रूप से अर्थगर्भित है, और सम्भवतः घर्षण के परिणामस्वरूप स्निग्ध एवं रूक्ष तलो के अवलोकित विद्युन्मयकरण पर आधारित है।'' न्यायवैशेषिक स्थिति भिन्न है, जिसके अनुसार वह ईश्वर, सृष्टिकर्ता की इच्छा पर है, जो परमाणुओ मे गमन उत्पन्न करता है, और इसलिए वे द्वयणुको मे संयुक्त हो जाते है, उनमें से तीन मिलकर त्र्यणुक इत्यादि बनते चले जाते है, जब तक कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु उत्पन्न होते है। यही ईश्वरवादी स्थिति है जो न्याय वैशेषिक आण्विक सिद्धान्त को एक बिलकुल भिन्न मोड़ दे देती है। जैन प्रतिपादन मे बाद के न्याय वैशेषिक विचारो और बाल की खाल निकालने वाले द्वयणुको और त्र्यणुको संबंधी विवेचनो को कोई स्थान नही है।

अन्यत्र अणुवाद– वेदान्तिक सृष्टि विद्या (Cosmology)मे वास्तविक परमाणुओ (atoms) को कोई स्थान नही है, क्योकि उन्हे मान्यता देना ब्रह्म के अद्वैत से संगत नहीं होगा। अणु शब्द उपनिषदो को ज्ञात है, किन्तु वह अनन्तवें लघुअंश (अनन्तवांश रूप लघु) के लिए है और उसका अविभागी पौद्गलिक अंत्यइकाई से कोई तात्पर्य नहीं है। वे मात्र कुछ बौद्ध है जो वैशेषिको की भांति चार प्रकार के तत्त्वो के सवादी नित्य (अविनाशी) परमाणुओ को मान्यता देते है विज्ञानवादी, फिर भी, जब वे पदार्थ की यथार्थता को नकारते है तो यथार्थ परमाणुओ को नही मान सकते है। जैन परमाणु अपनी मूल संकल्पना मे उन परमाणुओ के समान है जिन्हे लिउ किप्पस (Leucippus) और डेमोक्रिटस(Democritus) मान्य करते है कि वह नित्य (अविनाशी) और पुद्गल का अविभागी सूक्ष्म कण है, और यह कि वह इंद्रियग्रहण से पर है, वह समान द्रव्य का बना है, और यह कि वह इंद्रिय ग्रहण से परे है, वह समान दरव्य का बना है, और यह कि तत्त्वो के संवाद रूप वह अणुओ के चार प्रकार के वर्गो वाला नहीं है, किन्तु अम्लपन आदि से सवाद रखने वाले परमाणुओ (atoms) का परिवर्तनशील आकार व रचना जो उन्हे मान्य है वह जैन धारणा मे सभव नही है। परमाणुओ मे संयोजनशीलता जैनधर्म के अनुसार उनके स्निग्धत्व और रूक्षत्व के अंशो के कारण है, किन्तु डेमोक्रिटस के अनुसार जैसा एपीक्युरस (Epicurus)ने समझाया है, परमाणुओ का आद्यगमन कल्पित किया गया था, जो कार्य न्याय–वैशेषिक के अनुसार ईश्वर की इच्छा से सम्पन्न हुआ था। ये समानताएँ और असमानताएं अपने आप मे किसी कालक्रम सम्बन्धी परिणामो तक नही ले जाते है, क्योकि उनमे सुविस्तृत निर्णयापेक्षी विषय उलझे हुए है। (जब) जैन परमाणु सिद्धान्त की रचनात्मक दृष्टि को लेते हैं और उसकी तुलना न्याय वैशेषिक की दृष्टि से करते है, तो जैन दृष्टि विशेष अधिक मौलिक (दिखाई देती) है, और जैसा जैकोबी (Jacobi)की धारणा है कि जैनो ने 'पुद्गल संबन्धी सबसे अधिक मौलिक विचारो से अपनी प्रणाली को साधित किया है।' (188)

7. स्याद्वाद अथवा प्रतिबन्धी विषय प्रकथन का सिद्धान्त–

किसी एक द्रव्य मे अनन्त पर्याये होती है, और द्रव्यों के अनन्त समूह (Classes) होते है: एक

द्रव्य को पूर्ण रूपेण जानने का अर्थ है ज्ञान की वस्तु की सम्पूर्ण सीमा (Range) को जानना, और यह मात्र केवलज्ञान (सर्वज्ञता) मे सम्भव है। इंद्रिय–ग्राह्यता क्रमिक और आंशिक (I, 40, 48-51) होती है। किसी भी द्रव्य मे गुण और पर्यायो होती है यद्यपि द्रव्य वही होता है, वह भिन्न इसलिए लगता है क्योकि वह भिन्न पर्याये में से होकर निकलता है; अत: जब किसी द्रव्य के विषय मे कोई कथन करना हो, पर्यायो के किसी परिणमन की दृष्टि से कथनो या वक्तव्यो की सप्तभंगी होती है। किसी पर्याय या अन्य के अनुसार यह वचन होता है कि द्रव्य है. नहीं है; अवक्तव्य है; है और नहीं है; है और अवक्तव्य है; नहीं है और वक्तव्त है, तथा है, नहीं है और वक्तव्य है (II, 22-3)[द्रव्य किसी एक पर्याय से अस्तिरूप है, किसी एक पर्याय से नास्तिरूप है, किसी एक पर्याय से अवक्तव्य है, किसी एक पर्याय से अस्ति नास्ति रूप है और किन्हीं अन्यपर्यायों से अन्य तीन भङ्ग स्वरूप कहा गया है।)

स्याद्वाद की पृष्ठभूमि पर पार्श्व प्रकाश—यह जैनधर्म की प्रसिद्ध सप्तभंगी अथवा स्याद्वाद है। जिस प्रकार से कुन्दकुन्द ने इस स्याद्वाद का वर्णन किया है, एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सैद्धान्तिक तत्त्व जो जैन दार्शनिको को ऐसी दृष्टिगत रूप से स्व– विरोधी प्रतिबंधित प्रकथनो के सिद्धान्त को प्रतिपादन हेतु मार्गदर्शन देते रहे, वे जैनधर्म मे पहले से ही विद्यमान है। ज्ञान की वस्तु एक वृहद् जटिलता होती है जिसमे द्रव्य, गुण और पर्याये तीनो कालो और अनन्त आकाश मे विस्तृत होती है और युगपत् रूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से सयुक्त होते है। ज्ञान की ऐसी विषय–वस्तु मात्र सर्वज्ञता मे ग्रहण होती है। इन्द्रियां ज्ञान के अप्रत्यक्ष साधन होती है, और जो कुछ भी वे ग्रहण करती है वह वैसी ही आंशिक होता है जैसा सात अंधो ने हाथी का ज्ञान आंशिक रूप से ग्रहण किया था। सामान्य मानव अपनी इंद्रियो की सीमाओ से परे ऊपर नहीं उठ सकता है, अत यथार्थ का उसका अवबोध आंशिक होता है, और वह मात्र किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोण से वैध होता है: इससे जैनो के नयवाद की उत्पत्ति होती है। जब सामान्य मानवीय ज्ञान आंशिक होता है तो जटिल यथार्थता तक पहुँचने के कथन करने की नयी विधि खोजना होती है, और वह स्याद्वाद, प्रतिबन्धित (सापेक्ष) प्रकथनो का सिद्धान्त है। इस प्रकार यह सिद्धान्त ज्ञान की वस्तु की जटिलता मानवीय अवबोध और अभिव्यक्ति की सशक्त जानकारी का प्रत्यक्ष परिणाम है। द्रव्य मे निरन्तर पर्याय परिणमन होता रहता है, और हम हमेशा उसे किसी एक या अन्य पर्याय से परिलक्षित करते है, जो विद्यमान या अविद्यमान होती है। जब हम उसकी विद्यमान पर्याय की ओर देखते है, हमे अतीत और अनागत पर्यायो को पूर्णत: नकारना नहीं चाहिए, यह विशिष्ट स्थिति हमे स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात अवक्तव्यम् तक ले जाती है, जो उनके संयोगी भंग बनाने पर सात प्रकार के सभव कथनो (सप्तभगी) को उत्पन्न करती है। (189) कुन्दकुन्द ने स्पष्ट किया है कि पर्यायो के इस निरन्तर परिणमन (प्रवाह) के कारण स्याद्वाद को अभिधारित (Postulate)किया जाता है।(190)

उच्चतर और निम्नतर ज्ञान में स्याद्वाद– वेदान्त की भावना मे अत्यधिक रंजित छात्रों ने यथार्थता की इस पहुँच को सदैव ज्ञान की अनिश्चितता और अनिर्धारितता की प्रक्रिया (विधि) रूप से देखा है; और एक प्रश्न बहुधा उठाया जाता है कि स्याद्वाद उच्चतर ज्ञान को अथवा निम्नतर ज्ञान को अथवा दोनो को निर्दिष्ट करता है। यदि वह उच्चतर ज्ञान को निर्दिष्ट करता है, तो

जैनधर्म अनिश्चित कथनों का एक दलदल है जो कहीं भी नहीं ले जाता है; यदि वह निम्नतर ज्ञान को निर्दिष्ट करता है, तो जैनधर्म उच्चतर ज्ञान के स्तर पर नहीं पहुँचा है, यदि वह दोनों को निर्दिष्ट करता है तो जैनधर्म, अनिर्धारितता के ऐसे न्याय तर्क (Logic) के साथ अपने अनुगामियों को अपने धार्मिक या आध्यात्मिक नियति की ओर न ले जाकर अधिक भुलावे में डाल देगा। वेदान्त के द्वारा प्रस्तुत हो सकने वाले ये विकल्प, चाहे आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से मान्य या अमान्य किये जाये, अत्यधिक अनिष्टपूर्ण प्रतीत होते है। अतः आवश्यक है कि जैन स्थिति रूप से समझा देना चाहिए। स्मरण रहना चाहिए कि उच्चत्तर ज्ञान और निम्नतर ज्ञान वेदान्त से आयानित है। वेदान्त के अनुसार उच्चत्तर ज्ञान सदैव के लिए ब्रह्म के साथ, उपाधि रहित हो जाने पर आत्मा की तादात्म्यता के भावातीत सत्य की अनुभूति रूप है; जबकि निम्नतर ज्ञान व्यक्तिगत देवता अथवा इसी तरह के अन्य के रूप मे (197) ब्रह्म की अपनी गोचर दशा मे पूजा के ज्ञान वो कहते है। वस्तुतः, जैनधर्म मे इसके संवादी ठीक ठीक कुछ भी नहीं है; किन्तु यदि हम फिर भी समान्तर छाया वाले प्रतिरूप प्राप्त करने का प्रयास करें तो उच्चत्तर ज्ञान मुक्त दशा के ज्ञान के लिए और निम्नतर ज्ञान गोचर लोक के ज्ञान के लिए (संभवत.) मान सकते है। तब इस दशा मे स्याद्वाद को निम्नतर ज्ञान तक सीमित करना होगा; जहाँ व्यक्तिगत ज्ञाता यथार्थता तक पहुँच अपनी इद्रियो के द्वारा और पर्यायो के परिणमन के द्वारा करेगा, जिसके साथ ज्ञान की वस्तु आच्छादित की जाती है। किन्तु उच्चतर ज्ञान जैनधर्म मे संवृत्त नहीं है. सर्वज्ञ तीर्थकर जो प्रत्यक्षतः यथार्थ को अवलोकित करते है और वे उच्चतर ज्ञान की प्रकृति को हम तक संप्रेषित करते है। इस प्रकार जैनधर्म उन विकल्पो से बाहर आ जाता है। जैनधर्म के लिए केवलज्ञानी के वचन अथवा आगम वैसे ही है जैसे वेदान्त के लिए वेद। सभी मतो मे उनके द्वारा मान्य उनके क्रमिक श्रुतो (धार्मिक–ग्रंथो) की वैधता एक धर्म–सिद्धान्त (Dogma) होता है; और उसे अब देर तक हमको नही रोकना चाहिए इसके लिए कि हम स्याद्वाद के अभिप्राय (अभिगम) को समझ सकें और उसकी सत्तामीमांसा की पृष्ठभूमि और ज्ञानमीमांसा (प्रामाण्यमीमांसा) की आवश्यकता की परख कर प्रशसा कर सके।

स्याद्वाद और नयवाद– कोई पदार्थ, या ज्ञान की वस्तु, अनेकान्तात्मक, अर्थात् अनन्त लक्षणो वाली होती है जो विश्लेपित और व्यक्तिगत रूप से ग्रहण की जा सकती है; और यही नयवाद का कार्य है। इस प्रकार नयो द्वारा सम्पूर्णता के एक भाग को प्रकाशित करते है, और सम्पूर्ण के लिए उन्हे मानने की भूल नही करना चाहिए। किसी वस्तु की इस अनन्तात्मक संरचना के कारण अनन्त नय होगे, और इन्हीं को सात, दो, आदि रूप मे विस्तृत विभागो में वर्गीकृत किया जा सकता है। (192) जैसा अकलंक ने पारिभाषित किया है, नय ज्ञाता का एक विशिष्ट अभिप्राय है। (नयो ज्ञातुर् अभिप्रायो)। इन विभिन्न दृष्टिकोणो का संश्लेषण एक व्यावहारिक आवश्यकता है; वहाँ प्रत्येक दृष्टिकोण अपना सापेक्ष महत्त्व सुरक्षित रखने मे समर्थ होना चाहिए; और इसकी संपूर्ति स्याद्वाद द्वारा होती है, ''जिसमे सात अभिव्यक्तिपरक कथन होते हैं, जो इस प्रकार सीमित किये जाते हैं– स्यात् अस्ति द्वारा, स्यात् नास्ति द्वारा अथवा स्यात् अस्तिनास्ति द्वारा (युगपत् या क्रमिक रूप से) किसी पदार्थ (द्रव्य) के इस या उस गुण या लक्षण को स्व की अपेक्षा से, पर की अपेक्षा से अथवा स्व–पर दोनो की अपेक्षा से तथा पर चतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र,

काल, भाव) की अपेक्षा से तथा अन्य उपपत्तियों का बिना विरोध किये (वचनो की अभिव्यक्ति की जाती है)। ऐतिहासिक विचार को एक ओर छोड़ते हुए, मैंने अन्यत्र स्याद्वाद और नयवाद के बीच संबंध का कथन किया है: 'स्याद्वाद नयवाद का एक उपसिद्धान्त है. नयवाद वैश्लेषिक तथा मूलतः धारणात्मक होता है जबकि स्याद्वाद सांश्लेषिक और मुख्यतः मौखिक (शाब्दिक) होता है। नयसिद्धान्त के अभाव मे स्याद्वाद निश्चित रूप से पंगु दिखेगा। स्याद्वाद के बिना नय सिद्धान्त का कोई भी व्यावहारिक मूल्य नही है। अभिकथन की प्रक्रिया की प्रगति में स्याद्वाद व्यक्तिगत नयो की निरपेक्ष (निश्चित) दृष्टियो को नियंत्रित करते हुए संगत बनाता है'। (193)

जैन साहित्य में नयवाद और स्याद्वाद की खोज– यह पूर्व मे ही बतलाया जा चुका है कि नयवाद एवं स्याद्वाद जैन सत्तामीमांसा और ज्ञान के सिद्धांत से पूर्णतः सुसंगत है. किन्तु यह केवल सांश्लेषिक दृष्टि है। इसलिए यह आवश्यक है कि भारतीय साहित्य के प्राचीन जैन एवं सजातीय क्षेत्रो में उनके पूर्ववर्त्ती पार्श्व–कड़ियो की खोज की जाये तथा इन उपसिद्धान्तो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जाये। इस अध्ययन क्रम के लिए स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय साहित्य के परिरक्षण मे ही कुछ निहित कठिनाईयाँ है; और जैन साहित्य इसका अपवाद नहीं है। श्वेताम्बर आगम, यद्यपि जिसके कुछ भाग ईसा पूर्व की तृतीय सदी या इतने कुछ ही प्राचीन कहे जा सकते है, वे आगम ईसा की 5वीं सदी में अंतिम रूप से परिष्कृत किये गये, दिगम्बरो का पूर्व–आगम (Procanon) ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ वर्ष पूर्व की तिथि का कहा जा सकता है, दोनो आगम तथा पूर्व–आगम मे सदैव जोड़ने और छोड़ने के लिए अवकाश छोड़ा गया है; इसके अतिरिक्त बहुत बड़े भाग विस्मृति मे डूब गये; जो मुनियो की स्मृति मे सदैव सुरक्षित रहे आये, तबतक जबतक कि बहुत काल पश्चात्वर्ती टीकाकारो द्वारा उन्हे एक निश्चित रूप दिया गया है। जो कुछ भी ऐसी दशाएँ रही हो, उन्हे लिए हुए नयवाद और स्याद्वाद दोनो के बीजो को प्राचीन (पूर्ववर्ती) साहित्य में खोजा जाता है। श्वेताम्बरो (194) के अर्धमागधी आगम मे किसी दृष्टिकोण के अभिप्राय मे नय शब्द आता है, **प्रज्ञप्ति** में निश्चयनय और व्यवहारनय (195) का उल्लेख है। दिगम्बरो के पूर्व आगमीय साहित्य की ओर मुड़ने पर कुन्दकुन्द एक बार से अधिक बार अपने समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और बारस–अणुवेक्खा मे व्यवहार नय तथा निश्चयनय का निर्देश करते हैं; (196) कभी कभी वे परमार्थनय (शुद्धनय) का निर्देश करते है, मुझे शुद्धनय, प्रसंग तथा अन्य गंद्याशो के प्रकाश मे, निश्चय नय के समान दिखाई देता है (197); सम्भव्यतः वे एक दृष्टि की और संभाव्यता मान्य करते है जो इन दोनो से परे, (पक्षातिक्रांत), (198) है; और अन्त मे उनकी दृष्टि मे दो से अधिक नयों की संभाव्यता है(199)। उमास्वाति पांच अथवा सप्त नयो का उल्लेख करते है(200)। उमास्वाति के पश्चात् समन्तभद्र बहुधा नयों का निर्देश करते है, उनका विवेचन सदैव सांश्लेषिक और अगणनात्मक लक्षणवाला होता है, वे सप्तनयो की गणना नहीं करते है। सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक और ऐसे अनेक जैसे पश्चात् वर्ती ग्रंथकार इन नयो का तत्त्वार्थसूत्र मे दिये गये रूप मे ऐसा विवेचन करते हैं जो कभी कभी उन्ही के मध्य परस्पर मे सूक्ष्म विवरण मे भिन्न होता है। (201) इसके पश्चात् स्याद्वाद की ओर मुड़ने पर, स्याद्वाद शब्द, अथवा सप्तभंगी श्वेताम्बर आगम मे, जहाँ तक मैंने अर्धमागधी कोश का निर्देशन लिया है, खोजा नही जा सका

है; किन्तु फिर भी उस उपसिद्धान्त के बीज वहाँ हैं। **भगवती सूत्र** मे तीन मूल अभिकथनों (202) का उल्लेख है। प्रोफेसर ए. बी. ध्रुव कहते हैं कि **सूत्र कृतांग–निर्युक्ति** मे स्याद्वाद का निर्देश है, कि मै उसे वहाँ नहीं खोज सका हूँ: मेरा विचार है कि वे संभवतः गाथा क्रमांक 118 में क्रियावाद आदि की परिभाषा से भ्रमित हुए है। (203) कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार मे स्याद्वाद का पूर्णांग रूपेण उल्लेख किया है, और पञ्चास्तिकाय में सप्तभंग (204) नाम दिया गया है। तत्त्वार्थसूत्रो में स्याद्वाद का कोई भी सुव्यक्त निर्देश नहीं है; कहा जाता है कि सूत्र **अर्पितानर्पितसिद्धे** (V, 32) मे वह निहित है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द जैसे पश्चात्वर्ती ग्रंथकारो ने अपने ग्रंथो में उसका सम्पूर्ण विवेचन किया है। दार्शनिक विकास की आवश्यकता है कि नयवाद पहले आना चाहिए और स्याद्वाद बाद में; किन्तु यहाँ संकलित निर्देश उसके समान कोई निष्कर्ष निश्चित नहीं करते है; और जैन ग्रंथकार भी कहते है कि वे अनेकान्त के दो पंख है।

अन्यत्र विवेचित स्याद्वाद के प्रतिरूप– अन्य विचारधारा की प्रणालियो मे बहुविध अभिकथनो के सिद्धांत के प्रतिरूप खोज निकालने के प्रयास किये गये है। **सामञ्जफलसुत्त** के अनुसार सञ्जयवेलट्ठीपुत्त के मुख मे उसका अति अज्ञेयवादी अभिवृत्ति का सुस्पष्ट सूचक एक कथन जो वह किया करता था, रखा गया है: 'अत्थि' ति पि नो, 'नत्थि' ति पि नो , 'अत्थि च नत्थि ति पि मे नो, 'नेवत्थि न नत्थि' ति पि मे नो। इसे कुछ के द्वारा स्याद्वाद का पूर्वगामी माना जाता है जो महावीर द्वारा निर्धारित विध्यात्मक रूप है। प्रोफेसर ध्रुव ने अनेकार्थक शब्दो का उपयोग करने वालो (equivocators) की एक अन्य दृष्टि का उल्लेख किया है जो किसी भी वस्तु को न तो अच्छा कहेगे, न बुरा, किन्तु जब
उनसे प्रश्न किया जाये, चाहे इस पर या उस पर, तो वे वाम–टालमटोल (eel-wriggling) करने के लिए अनेकार्थक शब्दो का उपयोग करने हुए कहते है 'मैं उसे इस तरह नही लेता। मै उसे दूसरी तरह नही लेता। किन्तु कोई भी भिन्न मत व्यक्त नहीं करता हूँ। और 'मैं तुम्हारी स्थिति को भी अस्वीकार नही करता हूँ। और मै नहीं कहता हूँ कि वह वही अथवा अन्य नहीं है।' कारण कि वह 'कुछ सन्यासियो और ब्राह्मणो' को आरोपित की जाती है, प्रोफेसर ध्रुव ने निष्कर्ष निकाला है कि स्याद्वाद, जिसका अशुद्धरूप उपर्युक्त है, का प्रारम्भ जैनेतर द्वारा किया गया। मै इसके प्रथम भाग को स्वीकार करता हूँ कि वह स्याद्वाद का विकृत सामानान्तर रूप है, किन्तु द्वितीय भाग कि उसका जैनेतर प्रारम्भ था साक्ष्यो द्वारा प्रामाणित नहीं है। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण शब्द के द्वारा प्रोफेसर ध्रुव इस अनुमान पर पहुँचे हैं, किन्तु अन्य शब्द 'सन्यासी' (एकान्तवासी या वैरागी–वीतरागी) शब्द की उपेक्षा नहीं की जाना चाहिए। वे (recluse) (रेक्ल्यूज) रूप का अनुवाद देते है, और सभी प्रसंभावनाओ में मूल शब्द 'श्रमण' रहा होना चाहिए। मैं श्रमण शब्द पर यहाँ विषयान्तर हो सकता हूँ। वह बहुधा बौद्ध ग्रंथो (206) में आता है। उसका अर्थ वह साधु होता है जो ब्राह्मण न हो; बुद्ध को बहुधा बौद्धेतरो द्वारा श्रमण पुकारा जाता है; वह उन्हें सूचित करता है जो ब्राह्मणों के विरुद्ध है, जो जातिहीन है, और जो वेदो को मान्यता नहीं देते हैं किन्तु उनकी वरिष्ठता (207) पर आक्षेप करते हैं। जैन साहित्य की ओर मुड़ने पर, जैन ग्रन्थों में महावीर को समांगरूप से समणे भगवं महावीरे उल्लेखित किया गया है; प्रवचनसार में सर्वत्र

मुननि के लिए श्रमण शब्द का उपयोग हुआ है, और यह अभिप्राय श्वेताम्बर आगम में बिलकुल सामान्य है; और दक्षिण भारतीय देशी भाषाओ जैसे कन्नड में श्रमण या श्रवण का अर्थ आवश्यकीय रूप से जैन (208) होता है। अतः प्रसंग में 'Recluse'(रेक्ल्यूज) शब्द की विद्यमानता जैनतर (अजैन) मूल के निष्कर्ष को मान्य नहीं करती है। बौद्ध गद्यांश सूचित करता है कि वह जैन सिद्धान्त का विकृत दृष्टिकोण है, उससे कुछ समान रूप लिए हुए रूप को ब्राह्मण साधुओ द्वारा भी अनुमोदित किया गया हो सकता है। ब्रह्मजालमुत्त मे एक ऐसी दृष्टि का विवरण है जिसे अन्तान्तिका कहते है, जो कम से कम नाम से अनेकान्त के अति निकट प्रतीत होती है, और उसके विरोध मे चतुष्कोटिक विधि का प्रतिपादन किया, चतुष्कोटिक. होति, न होति, न च होति च, नऽएव होति न न होति। (209) जैन ग्रंथो मे भी हमे विभिन्न प्रसंगो मे यह चतुर्विध प्रतिपादन विधि प्राप्त होती है, उदाहरणार्थ, कोई कथन सत्य हो सकता है, झूठ हो सकता है, सत्य और झूठ दोनो हो सकता है, अथवा न तो सत्य न झूठ हो सकता है (210)। ये सभी समानान्तर (समकक्ष) एक अभिव्यक्ति की विधि को इंगित मात्र करते है जो मगध मे सम्भवतः महावीर और बुद्ध के भी पूर्व प्रचलित रही होना चाहिए। कुछ विद्वान् मानते है कि उपनिषदो के निम्नलिखित कुछ परस्पर विरोधी कथनों के बीच समावेशन के फलस्वरूप स्याद्वाद निकला है. कि सत् मात्र सत्य था, कि असत् मात्र पूर्ण सत्य था, न तो सत् न असत् सत्य है, वास्तविकता का लक्षण दोनो मे से कोई सा नहीं अथवा दोनो के द्वारा होना चाहिए। यह अभिमत सम्भवत. यह मान लेता है कि सभी उपनिषद ऐसे साहित्य समांग का स्तर है जो कभी भी ऐसे देश के दार्शनिक चितन से प्रभावित नहीं होता है जिसमें वे गढ़े गये। यह भी संभव हो सकता है जो कभी भी ऐसे देश के दार्शनिक चिंतन से प्रभावित नही होता है जिसमे वे गढ़े गये। यह भी संभव हो सकता है कि विभिन्न दार्शनिको द्वारा आवश्यकीय रूप से वैदिक ही नहीं, विविध दृष्टियो ने उपनिषद–चिन्तन को भी प्रभावित किया होना चाहिए।

स्याद्वाद के लिए वेदान्तिक सूत्रपात मान्य नहीं– प्रोफेसर ए.बी. ध्रुव ने सुझाव दिया है कि वेदान्त का अनिर्वचनीयतावाद ने, दूसरे निश्चित चरण के रूप मे, जैनो के स्याद्वाद की ओर मार्गदर्शन किया है। यह निष्कर्ष (निगमन) इस कल्पना पर आधारित है कि स्याद्वाद के जैनेतर सूत्रपात् थे, जैसा कि उन्होने स्वयं प्रस्तावित किया है, कारण कि उसका श्रेय वे 'सन्यासियों [रेक्ल्यूज (श्रमणो)] और ब्राह्मणो' को देते हैं। यह निगमन भ्रांतिमय है, क्योकि जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, 'रेक्ल्यूज (Recluse)'पद श्रमण, का विशिष्ट अर्थ जैन होता है। अनिर्वचनीयता का अर्थ है कि माया एक ऐसा सिद्धांत है कि उसे न तो सत् कहा जा सकता है, न ही असत्, न दोनो, और इसलिए वह अनिर्वचनीय (211) है। माया को सत् या असत् के पदो में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है, संक्षेप मे वह नकारात्मक वर्णन है, यदि मै माया के बारे मे कुछ भी कह सकता हूँ। उसे स्याद्वाद के प्रतिबंधित अभिवचनों (सापेक्ष कथनो) से पृथक् पहचानना चाहिए। यह सत्य है कि स्याद्वाद के अवक्त कथन से वेदान्त की अविर्चनीयता के बीच कुछ सदृशता है, परन्तु आधारभूत धारणा भिन्न है; स्याद्वाद मे सकारात्मकता और नकारात्मकता को समन्वित करने का प्रयास है, जबकि अनिर्वचनीयता दोनो से बच निकलना चाहती है। अनिर्वचनीयतावाद न्यायसंगति रूप से स्याद्वाद के रूप मे विकसित नहीं हो सकता है,

और संभवतः प्रोफेसर ध्रुव भी इसके बारे में अवगत है जबकि वे स्याद्वाद को अगला सुनिश्चित चरण रूप निरूपित करते हैं। अनिर्वचनीयता–वाद का तर्कसंगत विकास, यदि उसे एक प्रणाली या अन्य के मताग्रही बन्धन की अपेक्षा से रहित संकल्पित किया जाये, शुद्ध अज्ञेयवाद हो जायेगा; अथवा मताग्रहों के लिए कुछ रियायतें दी जाएं तो वह थोड़ा बौद्ध धर्म के शून्यवाद या विज्ञानवाद के निकटतर आ जायेगा, जिसके विषय में डा. दासगुप्ता कहते हैं कि वेदान्त में जिसके आंशिक संकेत देखे जा सकते है।

स्याद्वाद और सापेक्षता– अर्द्धशताब्दी पूर्व, डार्विन का विकासवाद हमारे लिए एक इंद्रजाल जैसा था, आज वह इंद्रजाल आइन्स्टाइन का सापेक्षता है। भौतिकशास्त्री और दार्शनिक की अभिधारणाएं (Postulates) सापेक्षता सिद्धान्त के द्वारा आज सभी अस्तव्यस्त हो गये हैं। वह मुख्यतः भौतिकशास्त्रियों का सिद्धान्त है; किन्तु यहाँ हम मात्र उसके दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। सापेक्षा से तुलना करने पर स्याद्वाद अधिक सरल है और कम परिष्कृत है; और कारण बिलकुल स्पष्ट है, मानवीय ज्ञान की सीमाएं अत्यधिक विस्तृत हो गयी हैं और विज्ञान की उपलब्धियाँ अधिक परिणामी (सफल) हो गयी हैं जितनी कि वे कुछ शताब्दियो पूर्व थीं। जीवन के चरण दृष्टिकोण और उसकी समस्याओ के लिए स्याद्वाद और सापेक्षता का अंशदान अधिकाशंतः एकसा लगेगा यदि हम उन दशाओं पर विचार करे जिनके अधीन वे, तथा वह युग जिसमे वे, प्रतिपादित किये जा रहे हैं। स्याद्वादी के लिए सत्ता एक वृहद्‌जटिलता है; मानवीय मस्तिष्क उसे ठीक ठीक रूप मे समझ नहीं सकता है, ना ही मानव वाणी उसे उचित रूप से अभिव्यक्त करती है। इसलिए निरपेक्ष एवं निरपवादी कथनों की सुनवाई की आवश्यकता नहीं है; और सभी कथन सत्य होते हैं जहाँ तक हमारे किसी विशिष्ट दृष्टिकोण का सम्बन्ध है। मानवीय समझ की यह अपर्याप्तता स्याद्वादी को सर्वज्ञता के सिद्धान्त की ओर ले गयी है। सापेक्षतावादी के लिए, अभिव्यक्ति के हमारे सभी पद, जैसे दाहिना और बायाँ, आगे और पीछे, पूर्व और पश्चिम, ऊपर और नीचे, ऊँचा और नीचा, मंहगा और सस्ता, और अनेक अन्य सापेक्ष है; वे सभी अवलोकन कर्ताओं के लिए तथा सभी दशाओ के अधीन समान नहीं हैं; अतः वे निरपेक्ष नहीं है, किन्तु किसी वस्तु के मात्र सापेक्ष हैं। कुछ आदर्शवादी सापेक्षताशास्त्री ने वास्तव मे कहा है कि हम सभी अज्ञान के एक विचित्र संसार मे रहते हैं और कोई रीति परखने के लिए नहीं है। काल, गति (वेग), यहाँ तक कि विद्युतसिद्धान्त की दृष्टि में पुद्गल–सभी सापेक्ष है। सापेक्षतावाद के अन्य परिणाम समान रूप से चौकाने (स्तंभित करने) वाले है। जैसा एडिंग्टन +Eddington) कहते है, 'सापेक्षता सिद्धान्त ने ऐसे महान् नियमो को एक सूत्रीकृत कर दिया है जो अपनी स्थिति से ज्ञान मे एक गौरवशाली स्थान ग्रहण करते हैं, और उस पर भी स्वयं अपने आप मे यह मात्र एक रिक्त कवच (खोल) की भांति है। वास्तविकता हमारी खुद की चेतना में है।'' स्याद्वादी ऐसा व्यक्तिनिष्ठवादी (Subjectivist) नहीं हैं; उसके अनुसार पूर्णज्ञान केवलज्ञानी जीव को होता है जिसके पास प्रयोगात्मक विज्ञानों के लिए कोई स्थान नहीं है। उसके लिए यथार्थता अनुभवकर्ता के बाहर भी अस्तित्व रखती है; किन्तु परिग्राहक काल और समय संबन्धी सीमाओ की अपेक्षा किये बिना हर वस्तु को ग्रहण करने में अति निर्बल है, और इसलिए उसके कथन सापेक्ष रूप से सत्य है, मात्र किसी विशेष प्रसंग को लेकर। पूर्ण–परिपक्व

सापेक्षतावादी से पहचान में भिन्न स्याद्वादी की स्थिति को सर ओलाइवर लाज (Sir Oliver Lodge) के उन्ही के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, " वस्तुगत यथार्थता अस्तित्व में रहती है, किन्तु वह हम ही हैं जो उसकी व्याख्या करते हैं। किसी सामान्य जीव द्वारा लोक का बोधगम्य होना अशक्य है, अतः उसकी अवश्य ही व्याख्या होनी चाहिए; और जिस विधि से हम उसकी व्याख्या करते हैं वह हमारे ऊपर और हमारी क्षमताओं पर आधारित होती है।" स्याद्वादी का धार्मिक मताग्रह एक चरण आगे जाता है और सर्वज्ञ जीव को मान्यता देता है (स्वीकार करता है); किन्तु सर ओलाइवर लाज कहते हैं–"ईश्वर उसे किस प्रकार ग्रहण करता है, अथवा वह चरम यथार्थता मे क्या है, हम नही जानते।" (212)

स्याद्वाद और आधुनिक दर्शन– स्याद्वाद का लक्ष्य सौभाग्य से आधुनिक विचारधारा में दर्शन के क्षेत्र से संवाद रखता है। स्याद्वाद का लक्ष्य व्यक्तिगत दृष्टिकोणों को एक व्यावहारिक रूप में एकीकरण, समन्वय, संगति तथा संश्लेषण करना है; अथवा जैसा प्रोफेसर ध्रुव ने कहा है, "स्याद्वाद में विसंगत स्वर अनुरूप कर दिये जाते है ताकि एक पूर्ण सुसंगति हो जाती है"। मनोविज्ञान, आधिभौतिकी, धर्मविज्ञान, प्रामाण्यवाद (epistemology) आदि जैसी ज्ञान की विभिन्न शाखाओ के विशेषीकरण की प्रगति के साथ किसी समय दर्शन का गंभीर विस्तार और महत्त्व धीर धीरे (क्रमशः) घटता जा रहा है, जिसका यह सुखद परिणाम है कि दर्शन भी समय के साथ एक नया आकार ग्रहण करता जा रहा है; अब उसका लक्ष्य विशिष्ट विज्ञानों जैसी ज्ञान की विविध शाखाओ के निष्कर्षों को रचनात्मक रूप से एकीकरण करना है ताकि ब्रह्माण्ड (लोक) की पहेली बुझाई जा सके। प्रयोगात्मक विज्ञान कुछ मान्यताओं जैसे कारणता का सिद्धांत, आदि को लेकर प्रारम्भ करते हैं, किन्तु दर्शन इन परिकल्पनाओं का परीक्षण अमूर्तरूप से करता है। विशिष्ट विज्ञान "सामान्य लोक के कुछ विशेषरूप से चुने हुए पक्ष" से संबन्ध रखता है, और उसके निष्कर्ष मात्र उसी विशिष्ट पक्ष में प्रयोज्य होते है। कोई भी लक्षण मात्र जो किसी वस्तु में कोई अन्य संबंधों में अथवा अन्य प्रयोजनों के लिए रहते हैं, असम्बद्ध होते हैं। मनोवैज्ञानिक लोगों के लिए वे संकेत (actions) होते है; शरीर–क्रियाविज्ञानशास्त्री के लिए वे सक्षम जीव हैं; रसायनशास्त्री के लिए वे तत्त्वों के विविध वर्गो के रूप हैं; भौतिकशास्त्री के लिये वे गतिशील बल है। ये ही लोग अच्छे पति या अच्छे स्क्वांश रैकिट खिलाड़ी हो सकते हैं, किन्तु उनके पूर्ण व्यक्तित्व के ये पक्ष किसी भी क्षण असम्बद्ध होते है। वे तभी सुसंबद्ध हो सकते हैं जब सांख्यिकी–वैज्ञानिक उनकी प्रकृतियों के इन पक्षों की खोजबीन करता है।" (213) दर्शन इन सभी को उनकी मान्यताओं के परीक्षण द्वारा सुसंगत करता है, और अपने आदर्श पक्ष में वह 'धारणा रूप में अभिव्यक्त मूर्त वर्गीकृत तथ्य' को पाने का लक्ष्य रखता है। जिससे मैंने अभी स्याद्वाद की तुलना की है उसे दर्शन के लक्ष्य के सम्बन्ध में जोड (Joad) कहते हैं, "वस्तुतः दर्शन (214) दार्शनिकों की धारणाओं के निरन्तर एकत्रीकरण और छानबीनकरण मय होता है। धारणाएं जितनी बहुविध होती हैं उतनी ही छानबीन की सामग्री समृद्धतर होती है। किसी को भी अस्वीकृत नहीं करना है, क्योंकि, जहाँ कोई भी सत्य नहीं है वहाँ कोई भी पूर्णतः झूठ नहीं है।" यह भंगिमा सत्य की खोज के लिए गंभीर संघर्ष की स्थिति में निश्चित रूप से सहनशीलता सँवारेगी। सत्य की सापेक्षता का यह अभिप्राय वैज्ञानिक अनुसंधान की विधियों में भी दृष्टिगत है।

पक्ष अथवा नय अंततः पहलू है, चाहे उन्हें कितना ही निःशेष रूप से गिनाया जाये। सत्यज्ञान, जो दर्शन का लक्ष्य है, सम्पूर्ण का ज्ञान है, विश्लेषण की प्रत्येक बीथि को निःशेषित करने के पश्चात् (चरमबिन्दु पर) उदयभूत संश्लेषण है। जैनधर्म में नयवाद का कार्य अधिकांश रूप से वही है: जहाँ तक कि आधारभूत विचार का संबंध है, जो विविध विशिष्ट विज्ञानों के कार्य जैसा है। जिस प्रकार स्याद्वाद विभिन्न नयो को सुसंगत बनाता है, उसी प्रकार आधुनिक दर्शन भिन्न प्रायोगिक विज्ञानों के निष्कर्षों को सुसंगत करने की ओर लक्ष्य करता है। नय केवल विश्लेषण करते हैं– और नियंत्रण हेतु मात्र किसी एक विशिष्ट पक्ष लेते हैं, अतः स्याद्वाद जैसी सांश्लेषित अभिव्यक्ति की प्रक्रिया यथार्थता की प्रकृति को संप्रेषित करने के लिए आवश्यक है। (215)

स्याद्वाद का मूल्यांकन– जैसा प्रौफेसर चक्रवर्ती ने लिखा है, स्याद्वादियो ने चार्वाक के उथले यथार्थवाद से और नयवादियों के हास्यास्पद आदर्शवाद से दूर रह (बच) कर मार्ग अपनाया है। (216)प्रोफेसर ध्रुव ने कहा है, "स्याद्वाद मात्र दार्शनिक चिन्तन की रुचि का सिद्धान्त नही है, अथवा कोई सत्तामीमांसा मात्र विषयक समस्या को हल करने की प्रवृत्ति वाला सिद्धान्त हो, किन्तु उसका उपयोग मनुष्य के मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक जीवन व्यवहार से संबंध रखता है।" (217) उसने दार्शनिक को चिन्तन की सर्वदेशीयता प्रदान की है यह विश्वास दिलाते हुए कि सत्य पर किसी का भी एकाधिपत्य नहीं है जो नामधारी धर्मो की शुल्क (वैतनिक) पद्धति वाली दीवालो से घिरे हो, और धार्मिक मुमुक्षु, जिसमे 'बुद्धिपूर्ण सहनशीलता है' जो ऐसी अहिंसा के बिलकुल समकक्ष है, से भी घिरे हों, जिसे अहिंसा के लिए जैनधर्म विगत दो हजार से अधिक वर्षो मे गौरवपूर्ण ढंग से प्रतिरोध करता रहा है।

8. दिव्यता संबंधी जैन अवधारणा–

कर्मो से लिप्त होने के कारण यह आत्मा जब शुभ और अशुभ भावों में परिणमन करता है उसी समय कर्म रूपी धूलि आत्मा मे प्रवेश करती (आस्रवित होती) है, ये वे ही कर्म है जो आत्मा को बांधते हैं तथा उसे संसार मे परिभ्रमण कराते है। आत्मा के सभी निश्चय (सारभूत) लक्षण आठ प्रकार के (ज्ञानावरणादि) कर्म द्वारा अशक्त हो जाते हैं (II,95)। इस पुनर्जन्म के चक्र मे आत्मा रागद्वेष तथा अन्य काषायिक भावो के अधीन हुआ पुनः कर्मो के बंध को प्राप्त होता है (III,43)। इस ससार से निकलने का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में निहित है (I,6)। पहला (सम्यग्दर्शन) वस्तुस्वभाव अथवा यथार्थ तत्त्वार्थ जैसे वे है उसी रूप श्रद्धान् करने से होता है, उदाहरणार्थ आत्मा निश्चय रूप से शुद्ध है, इत्यादि; दूसरा (सम्यग्ज्ञान) अर्हन्तो से उपदिष्ट अथवा आगमो से प्राप्त वस्तुत्व का समस्त विस्तार समझने मे होता है (I,81-2,III,33आदि) ; तथा अंतिम (सम्यक्चारित्र) मुनि जीवन में मूलगुणों और तप धारण करने के पश्चात् पूर्णसमता (साम्यभाव) ग्रहण करने में होता है जो आस्रव का संवर करता है और बंधे हुए कर्मो को निर्जरित कर देता है।

जब आत्मा चार घातिया कर्मो से विमुक्त हो जाता है, नामतः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, तब वह शुद्धोपयोग (केवलज्ञान) रूप होकर स्वतंत्र हो जाता है (I, 15); शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, और कर्ता, करण, कर्म और फल आत्मा से तादात्म्य रूप हो जाते है (II,35)। शुद्धोपयोग के सामर्थ्य से केवलज्ञान और अनन्त सुख

उत्पन्न होता है; तभी आत्मा को स्वयंभू कहते हैं। वहां आत्मा के अनन्त उत्कृष्ट वीर्य (केवलदर्शन रूप) अनन्त तेज, तथा अतीन्द्रियता प्रकट होते है। (I, 19)। ना तो वहाँ लेशमा दु:ख रह जाता है और ना ही इच्छाओं (काम) के लिए कोई स्थान रह जाता है। आत्मा मात्र स्व रह जाता है, अन्य कुछ भी नहीं, ना ही उसे कुछ अधिक की आवश्यकता रह जाती है (II,68) केवलज्ञानरूप परिणमन करने वाले केवली को समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें तत्का और युगपत् सदा प्रत्यक्ष रूप दृष्ट और ज्ञात होती है। जिनमें काल और आकाश (क्षेत्र) की को सीमाएं नहीं रहती है (I, 21-2, 37)। वह स्वयं है, केवलज्ञान सहित है, कर्मो से निरपेक्ष है केवल ज्ञाता रूप कार्य है जो निश्चय स्वभाव है और स्वभाव से ही निष्पन्न होता है, (जिससे) कर्म से बद्ध नहीं होते है (I,43-4)। अनाकुलतारूप उत्कृष्ट सुख का ध्यान ध्याने के लक्ष्य से उसकी प्राप्ति पूर्ण हुई है। (II,106)। तब वे शेष चार अघातिया कर्मो का नाश कर सिद्ध हुए है जैसे की सूर्य में सम्पूर्ण प्रकाश और प्रताप होता है, वे केवलज्ञान और अनन्त सुख के धारी होते हुए दिव्य (देव) है। (I,68)।

पुनर्जन्म एक तथ्य और मताग्रह— जैनधर्म के अनुसार पुनर्जन्म–चक्र एक तथ्य है और पुनर्जन्म एक निश्चित मत। नही, हम पुनर्जन्म के बिना जैनधर्म के विषय मे विचार ही कर सकते है। पुनर्जन्म का चक्र अनादिकाल से चलता रहा है, और वह तभी रुकता है जब आत्मा मुक्ति प्राप्त करती है। पुनर्जन्म का कारण कर्म होता है जो पुद्गल का सूक्ष्मरूप है, अर्थात् अनादिकाल से, कर्म आत्मा से संबद्ध है। वेदान्तिक माया की भांति कर्म संसार का समाधान करते है। जहाँ तक मुक्ति प्राप्त करने का साधन है वह धार्मिक विस्तृत विवरण जिसमे हम अधिक देर तक नहीं उलझेगे; किन्तु मैं एक बात कहना चाहूँगा कि जैन दार्शनिकों ने प्राणधारियो के तथा विभिन्न कर्म शक्तियो के उपशम और क्षय होने के फल स्वरूप (योग और मोह के फलस्वरूप) विभिन्न गुणस्थानो के अध्ययन के प्रति विशेषाधिक ध्यान समर्पित किया है।

देव (दिव्यता) की संकल्पना समाधानित— दिव्यता (देव) की जैन अभिधारणा अधिकांश रूप मे स्वयं टिकी है: यहाँ जैसे अन्य सिद्धान्तों की भांति जैनधर्म यथार्थ अनेकान्तवाद की ओर प्रवृत है। प्रत्येक आत्मा, जब वह कर्मों से पूर्णतः विमुक्त हो जाती है वह स्वयंभू हो जाती है, (220) और वह देव हो जाता है। जहाँ तक प्रकार का संबंध है, देवत्व जो आध्यात्मिक विकास का एक स्तर है और आध्यात्मिक उपलब्धियो का चरमबिन्दु है, (केवल) एक प्रकार का है, किन्तु प्रत्येक आत्मा, देवत्व प्राप्त करने के पश्चात् भी अपना व्यक्तित्व अक्षुण्ण रखता है। वह स्वतंत्र आत्मा है, उत्कृष्टतर आत्मा है जो संसार स्थित आत्माओ से भिन्न रूप है। धार्मिक पथ के सभी मुमुक्षुओं के लिए जैन देव (भगवान्) एक आदर्श प्रारूप है। देव की अभिधारणा धार्मिक भक्त के समक्ष आशावादी सुदर्शन की एक महान् विचारधारा प्रवाहित करती है। यह बहुधा कहा जाता है कि धर्म का ध्येय मानव में प्रच्छन्न दिव्यता की अनुभूति होता है; इसका अर्थ यह है कि आत्मा न केवल स्वयं को जानता है वरन् स्वयंभू हो जाता है, जो समस्त पुद्गल से प्रतिरक्षित रहता है; स्वयंभू हो जाने पर वह देव (ईश्वर) बन जाता है जिसका स्वभाव उसकी भावना में अंतर्निहित था, किन्तु इस समय तक, कर्मों के द्वारा आच्छादित था; और यह तब पूर्णता की दशा है।

वैदिक देवगण एवं जैन देव की अभिधारणा— वैदिक युग में देवता की अभिधारणा के मूल

रूप प्रकृति के आतंक में और यायावरी आदिम जाति के अपरिष्कृत मस्तिष्क में था, जो ऐसे सरल दृढ़ विश्वास के प्रभाव के आधीन था कि प्राकृतिक घटनाएं और चमत्कार जो घटित होने में इतने नियमित और कभी—कभी इतने भयंकर थे कि वे किसी महामानवीय पृष्ठभूमि वाली कारकता के अधीन होना चाहिए; इस प्रकार वैदिक देवताओं के अस्तित्व का श्रेय किसी प्राकृतिक घटना को जाता है। 'वहाँ वरुण है, क्योंकि वहाँ नीला आकाश है, यहाँ तक कि परावर्तित जलधि में; इस प्रकार वरुण एक सर्वव्यापी देवता हो गये जो मानव के समस्त पापों के एकत्व साक्ष्य हैं, क्योंकि उनमें से सभी आकाश के नीचे किये जाते हैं। बहुविध प्राकृतिक घटनाएं देवताओं की अनेकता की ओर ले जाती हैं जो अपने पार्थिव निर्धारित स्थलों के अनुसार तीन वर्गों में विभाजित किये गये हैं।

हमारे मानव परिवारों की भांति प्रकृति—देवताओं के भी परिवार होते हैं जिसमें अदिति उनकी माता होती है; किन्तु पुजारी को उसकी कठिनाई होती है कि वह किस प्रकार वैदिक देवताओं की इस अव्यवस्थित रूप से उत्पन्न दीर्घा में एक देवता पर ध्यान केन्द्रित करे; और इसलिए एकैक देववाद (Heno theism) की प्रवृत्ति हुई जो विभिन्न देवताओं के व्यक्तिगत नामों को दार्शनिक रूप से तनुकृत करने और आवरण हटाने से विलक्षण रूप से एकतत्त्ववादी ईश्वरवाद में परिणत हो गयी। यह संभवतः ऋत के सिद्धान्त के द्वारा हुआ, जो सर्व—नियंत्रक सिद्धान्त था, कि इन सभी देवताओं के पीछे कोई एक था, और परिणामतः ब्रह्माण्डीय अस्तित्व के पीछे कोई एक था, जिसने बाद में सभी जीवों के एक भगवान् या स्वामी (प्रजापति) की भूमिका निभाई, और जो ब्रह्माण्डीय अस्तित्व के कारणवान् कारण हुए तथा उन सभी के कारण हुए जिस समस्या ने मानवीय विचार शक्ति को उलझने में डाल दिया। यहाँ से उपनिषदों के अव्यक्त ब्रह्म या व्यक्त आत्मा की ओर कदम तक अथवा आर्य—वैदिक धर्मों के पश्चात्वर्ती चरणों में सृष्टि आदि जैसे व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए इन सिद्धान्तों की तान फीकी पड़ने तक कोई लम्बा समय नहीं बीता। इस योजना में कहीं भी जैन देवता की अभिधारणा उचित रूप के अनुरूप नहीं बैठती है: आर्यों के मतों में एकत्ववाद संबंधी प्रवृत्ति अति सशक्त है; और इसीलिए देवता की अभिधारणा वाले जैनधर्म के पूर्ववर्ती, जो प्रारम्भ से अनेकतावादी हैं और जिसमें अनन्त जीव परमार्थ रूप में रहते हुए भी अपने व्यक्तित्वों को अक्षुण्ण रखते हैं, अधिक ध्यान आकर्षित करते हैं, और उन्हें विशेषकर मगध तथा आसपास के भागों में, पूर्वीय भारत में, खोजना होगा जिनका समय बहुत पूर्व का होगा जो आर्यों के आगमन से पूर्व का होगा।

जैनधर्म और नास्तिकता— कट्टरपन्थी धर्मों मतों द्वारा जैनधर्म को नास्तिक कहा जाता है, और क्या वह ऐसा है— यह बात नास्तिक शब्द के महत्व पर निर्भर करती है, जिसका अर्थ बहुधा परिवर्तित हुआ है और जो विद्वेष का एक मुंह लगा (प्रिय) शब्द है जिसके द्वारा कोई भी अपने विरोधी का उपनाम रख सकता है। व्याकरणाचार्यों के अनुसार नास्तिक वह है जो परलोक पर विश्वास नहीं करता है; तब जैन नास्तिक नहीं हैं। किन्तु स्मृतियों के अनुसार नास्तिक का अर्थ वह है जो किसी बुद्धिशाली कर्ता के द्वारा सृष्टि कर्तृत्व को अस्वीकार करता हो और वह जो वेदों की प्रामाणिकता को अस्वीकार करता हो; इन दोनों अभिप्रायों से जैनधर्म नास्तिक है क्योंकि वह इस सृष्टि के सिद्धान्त को कभी भी स्वीकार नहीं करता है, और उसके लिए वेद कभी भी प्रामाणिक

नहीं रहे हैं। जैनधर्म ईश्वर या देवता को स्वीकार करता है, और इसलिए अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ मे नास्तिक पद जैनधर्म के विरुद्ध थोपा नहीं जा सकता है। यदि नास्तिकता का अर्थ ऐसे लोकप्रिय देव को न मानना हो जो संसार–सृष्टि रचता है उसकी सुरक्षा करता है और उसका नाश करता है– जैसा कि अनेक भारतीय धर्म प्रणालियों में माना गया है, तब जैनधर्म नास्तिक है। ऐसी रूढ़िवादी छापों का प्रयोग करते समय उसे अत्यंत सावधान रहना होगा।

जैन मुक्ति– जैनधर्म के अनुसार मोक्ष का अर्थ कर्मों से स्वतंत्र होना है, जब आत्मा की अन्तर्निहित शक्तियाँ पूरी तरह जागृत हो जायें; वह संसारी–प्रक्रिया का अंत होना है, जब कि प्रक्रिया का अंत आ जाता है, जहाँ तक कि किसी विशिष्ट आत्मा का संबंध है; मोक्ष में व्यक्तिगत आत्मा या जीव अपने उत्कृष्टतम रूप में रहता है। उस दशा में, उक्त व्यक्ति– आत्मा पूर्वरूप से विकसित सर्व–ज्ञान, सर्वदर्शन, सर्व–सुख, और सर्व–शक्तिमान् होता है। वह उक्त व्यक्ति का न तो विलुप्त होना है, न अन्तर्निहित व्यक्तिगत गुणों का विलुप्त व्यक्तित्व डूब जाना है।

9. भारतीय विचारधारा में जैनधर्म–

भारतीय धर्म–दर्शन विचारधारा के क्रम विकास में जैनधर्म की स्थिति को परीक्षण के रूप में कथन करने के प्रयास का मैं लोभ संवरण नहीं कर सक रहा हूँ क्योंकि भारतीय जैनेतर धर्म–प्रणालियों के साथ यहाँ और वहाँ जैनधर्म के कुछ महत्वपूर्ण नियमों– सिद्धान्तों की तुलना और वैषम्य प्रदर्शन का संक्षेप सर्वेक्षण ऊपर किया गया है। वैदिक प्रामाणिकता की जैनधर्म द्वारा अमान्यता, जो बौद्धधर्म से पूरी तरह उभयनिष्ठ है और सांख्य के साथ आंशिक रूप से समान है, संभवतः सूचित करती है कि ये तीनों विचारधारा की एक धारा है। जहाँ तक वैदिक साहित्य का संबंध है उपनिषदों में पहली बार सुनिश्चित रूप से दृष्ट स्वचालित प्रतिफल देने वाला कर्म सिद्धान्त तथा उदासीन जीवन दृष्टि सहित पुनर्जन्म का सिद्धान्त उनमें समान रूप से है। (221) उपरोक्त तीनों मे मानवीय तथा नैतिक दृष्टिकोण और हिंसा की स्पष्ट भर्त्सना, चाहे वह व्यक्तिगत कारणों के लिए हो अथवा यज्ञादि (बलिदान) हेतु, समान रूप से है। प्राच्यविद्याशास्त्रियों के लिए बौद्धधर्म और सांख्यमत में अधिकांश समानता कोई नई वस्तु नहीं है। सत्तामीमांसीय द्वैतवाद, आत्माओं की अनेकता, पुद्गल (जड़) द्वारा आत्मा का भ्रमित होना, सांख्य का पूर्व का विश्वास कि जितने पुरुष होते है उतनी प्रकृति होती हैं, और अनेक अन्य पारिभाषिक विस्तृत विवरण जैनधर्म और सांख्यमत में समान हैं। तीनों प्रणालियों (मतो) में सृष्टिकर्ता अथवा पुरस्कार एवं दण्ड देने वाले परा–मानव को कोई स्थान नहीं है। ये समान बिन्दु कभी कभी उपनिषद् युग के प्रायः मध्य तक वैदिक धर्म के स्वाभाविक उद्भव के साथ बिलकुल भी संगत नहीं पाये जाते हैं। विशेषकर सांख्य, जिसे रूढ़िवादी (कट्टरपंथी) मान्य किया जाता है, संभवतः इसलिए कि उसकी मान्य रूढ़िवादिता (परम्परानिष्ठा) सहित चकाचौंध करने वाली असंगतताएं होने पर भी उसकी आकर्षक पारिभाषिक शब्दावलि ने उपनिषदो मे से कुछ को प्रभावित किया है और बाद में ईश्वरवादी योग के साथ जुड़कर वह निस्संदेह रूप से रूढ़िवादी हो गया।

जैन धर्म, सांख्य और बौद्धधर्म के इन समान बिन्दुओं की दृष्टि से, तथा उनके और ९२–

आर्य–वैदिक धार्मिक रूपों के मध्य समान भिन्नताओं की दृष्टि से, साथ ही आजीविक, पूरण कस्सप पद्धति आदि के साथ जैनधर्म के विशेष सिद्धान्तों मे से कुछ की समानता की दृष्टि से, मै यह अवधारित करने के पक्ष में हूँ कि मध्यवर्ती भारत में आर्यों के आगमन से बहुत पहले पूर्वीय भारत मे गंगा नदी के तटो पर अपने सारभूत लक्षणो सहित कोई स्वदेशीय महान् मागधी धर्म अवश्य ही फला फूला (समृद्ध) रहा होगा। और, सम्भवतः ब्राह्मण युग के पश्चात् इन दोनो, आर्यों और स्वदेशीय धार्मिक विचारो की धाराएँ एक दूसरे से मिली, और पारस्परिक प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप एक ओर उपनिषदो का उद्भव हुआ जिन्हे प्रथम बार यज्ञवाल्क्य दऔर अन्य आदि आत्मविद्या सिखा रहे है और दूसरी ओर जनता द्वारा व्यवहृत धर्म के वैदिक अनुष्ठानो के विरोध में जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों मागधी धर्म की महान् वंशागति के.सशक्त प्रतिनिधि रूप मे प्रमुखता लिए हुए सामने प्रकट हुए (222)।

10. प्रवचन का मुनिधर्म संबंधी पक्ष –

एक आदर्श जैन मुनि– प्रवचनसार का तीसरा भाग एक ऐसे आदर्श जैन मुनि का उत्तम चित्र प्रस्तुत करता है जिन्होने ससार के दु:ख से छुटकारा पाने हेतु साधु दीक्षा ली है। उनके दो अन्तरग बहिरग लिङ्ग है जो उन पर अंतरंग और बहिरंग संयम आदेशित करते है। मुनि की आदर्शोक्ति पूर्ण निर्मोह होती है, और उनके सभी कर्त्तव्यो के विवरण का विस्तार इसी गुण से निगमित होता है। जैन मुनि लोक के प्रति निरपेक्ष होते है, यद्यपि वे उसके प्रति घृणा नहीं करते है।

जिस लौकिक सत्ता, प्रसिद्धि और सम्पत्ति के लिए लोग पसीना (कठोर) प्रतियोगी संघर्ष करते रहते है वे सभी उनके लिए कोई महत्व की नही है। मुनि का चारित्र अट्ठाईस मूलगुण सहित होता है: उनके द्वारा पांच महाव्रतो का पालन होता है, उनके पांच प्रकार की समितियो सहित सावधानीपूर्वक क्रियाएं होती है, वे अपनी पांचों इंद्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करते है; उनके द्वारा षट् आवश्यक कर्त्तव्यो का पालन होता है; वे आवधिक रूप से केशकुंच करते है, वे दिगम्बर होते है, वे स्नान नही करते है, वे शोधी हुई भूमि पर शयन करते है, वे दंत मंजन नहीं करते है; वे खड्गासन (खड़े होकर) से आहार ग्रहण करते है; वे दिन मे केवल एक बार आहार ग्रहण करते है। वे प्रत्येक सावधानी रखते है कि इन मूलगुणो मे कोई दोष न आने पाये; यदि उनसे कोई गुण की हानि होती है तो वे अपने गुरु के पास पहुँचते है, उक्त दोष (हानि) को सूचित करते हुए उसे स्वीकार करते है, और प्रायश्चित्त लेकर पुनः महिमापूर्ण मार्ग ग्रहण करते है। प्रमाद उनका सबसे बड़ा बैरी है, अत. वे हमेशा स्वयं को जागृत (सतर्क) रखते है। न केवल वे पूर्ण मोह रहित होते है, वरन् संसार और उसके प्रलोभनो से बिलकुल निरपेक्ष होते हैं। उनके पास कोई भी परिग्रह नहीं होता है। वे अपना समय श्रुत के अध्ययन मे तथा तप के अभ्यास और मूलगुणो के पालन मे व्यतीत करते है। वे अति अल्प आहार केवल एक बार ग्रहण करते है और वह भी जब वह उन्हे नियमानुसार दान रूप भेट किया जाता है और रसों के लिए कोई विचार नही होता है। कोई भी आहार जो जीवो को हानिकारक हो वह पूर्णतः छोड़ दिया जाता है (वर्जित या निषिद्ध रहता है)। उनकी दृष्टि मुक्ति पर होती है: अतः वे निरन्तर मन की शुद्धप्रवृत्ति रखने के लिए यत्न करते रहते है, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के मार्ग को अपनाते है वे पूज्य ज्येष्ठ

मुनियों का सत्संग अथवा समान गुण वाले मुनियों का सत्संग करते हैं (223) और पूज्य ज्येष्ठ मुनि के प्रति सभी प्रकार के वंदना आदि आदर भाव, उपचार विनय आदि का पालन करते है। उनके द्वारा (दर्शन–ज्ञान का) उपदेश होना तथा अन्य कार्यकलापी प्रवृत्तियां उनके आत्मविकास के हित मे होती है। निर्ग्रन्थ होने के कारण वे कोई भी व्यवसाय नहीं करते है। निर्ग्रंथ साधु का कठोर मुनि पद महिलाओ के लिए वर्जित है क्योंकि उनकी स्वाभाविक अक्षमताएं होती हैं। महिलाओ के लिए दीक्षा वर्जित नहीं है, कि उनका लिङ्ग आर्यिका का लिङ्ग मध्यम और मुनि के लिङ्ग की अपेक्षा कम कठोर नियंत्रण वाला होता है।

जैन साधु आचरण संबंधी कुछ समालोचनात्मक अभियुक्तियां– यहाँ निरीक्षण कर लेना चाहिए कि हमे जीवन की चार अवस्थाओ का कोई भी निर्देश नहीं दिखाई देता है; यहाँ केवल दो अवस्थाएं है : प्रथम तो श्रावक की है, और द्वितीय मुनि की है; और प्रवचनसार का संबन्ध मुनि के आचरण या चारित्र से है। जैन मुनि के आचरण की रूपरेखा यहाँ अत्यन्त लघु वर्णनात्मक शब्द चित्र रूप में है, किन्तु सभी मूल रूप दिए गये है और विस्तृत विवरण मूलाचार आदि जैसे विशेष ग्रंथो मे उपलब्ध है जो मूलरूप मे अन्तर्निहित हो जाते है। इन विवरणों मे से अधिकांश चारित्र व्यवहार के कुछ मूलभूत नियमो से स्वाभाविक रूप मे निगमित है जिनमे यह आवश्यक होता है कि साधु जीवन अत्यन्त कठोर (तप सहित) होना चाहिए और मुनि का जीवन उतना अधिक स्वतंत्र और स्वपर्याप्त होना चाहिए जितना मानवी रूप से संभव हो। सूक्ष्म विस्तृत वर्णन और विधि तथा व्यवहार शैली यहाँ और वहां भिन्न है; किन्तु चाहे ग्रंथ श्वेताम्बरो के हों या दिगम्बरों के, आचारांग, दसवेयालिय, मूलाचार और प्रवचनसार, उनमे मुनिधर्म संबंधी वातावरण व्यवहाररूप से समान लक्षण वाला है। नग्नता श्वेताम्बर ग्रंथो में भी निर्देशित की गयी है (224), किन्तु टीकाकार कहते है कि वह जिनकल्पि मुनियों के लिए है। साधु के आचरण के अंश के रूप में नग्नता महावीर और बुद्ध के काल से भी पूर्व–पूर्वी भारत मे अधिक प्रचलित थी; से आजीविक मे तथा अन्य मतो मे निर्देशित पाया गया है; वह अपरिग्रह व्रत (निर्मोह व्रत) का एक आदर्श विस्तार है; और इसलिए व्यवहार मे लाने योग्य परिवर्तन भी उन्हीं मतों (प्रणालियो) मे पाये जाते है जिसमे नग्नता निर्देशित की गयी है। दंतधावन नहीं करना, न ही स्नान करना, तथा अन्य कई वर्णन दिगम्बरो और श्वेताम्बरों दोनों मे समान है। दोषो की सूचना देना तथा प्रायश्चित्त करना (225) बौद्ध व्यवस्था के प्रातिमोक्ष के साथ तुलनीय है, जिसके अनुसार एकबार की बैठक मे केवल एक बार भोजन करना भी निर्देशित था। पारिभाषिक शब्द प्रव्रज्या– दायक जैनधर्म तथा बौद्धधर्म मे समान है। आहार तथा वस्त्र के बारे मे जैन नियम, विनय ग्रंथो मे बौद्ध भिक्खुओं के लिए निर्देशित नियमो की अपेक्षा अधिक कठोर है (निग्रहवादी या परिशुद्ध है)– सामान्यत: जैन और बौद्ध आचरणों में से अनेक की खोज धर्मशास्त्रो के ब्राह्मण साधु जीवन मे की जाती है; परन्तु, फिर भी मेरा विचार है कि पारस्परिक बदलाव और परिवर्तक प्रभावों को बिना अस्वीकार किये, फिर भी जैन और बौद्ध साधुधर्म के अनेक मूलभूत सिद्धान्त अपने आप में टिके हैं और उन्हें पीछे तक पाने हेतु महावीर और बुद्ध से भी पूर्व के पूर्वी भारत के साधुचारित्रों के समूह में खोजना होगा। श्रमणधर्म विशेषरूप से भारतीय है, और उसके पूर्ववर्ती बीजों को भारतीय भूमि पर खोजना होगा।

मुनियों के संघ पर आयुक्ति– प्रवचनसार में सर्वत्र सूचनाएं (संकेत) हैं कि जैन मुनि समूह में रहा करते थे: उस वृन्द के मुखिया को गणि कहा जाता था: इस ग्रंथ में आचार्य के समक्ष पालन की जाने वाली विभिन्न औपचारिकताएं दी गयी हैं, श्रमण–संघ जिसमें चार वर्ग होते हैं, (III,49) में निर्देशित हैं; कुछ मुनियों के सम्बन्ध में दीक्षा एवं शिष्यों का संग्रह पोषण मान्य है। कुछ अवसरों पर मुनि को श्रमणो की सहायता करना अपेक्षित है (III,52); और कोई भी मुनि का अपने से लघु गुण वाले मुनियों से मिल–जुल कर रहना वर्जित है। हमारे ग्रंथ में साधु समाज में दो पदो का उल्लेख है: प्रव्रज्या–दायक, जो नवागुन्तकों को मुनिधर्म मे दीक्षित करते है; और दूसरा निर्यापक (संस्कृत अनुवाद, जो मेरे विचार से निर्यामक=पथप्रदर्शक होना चाहिए) जो उनके द्वारा दोष युक्त हो जाने पर उन्हे सही मार्ग पर ले आते हैं।

भिक्षावृत्ति के जैन प्रतिष्ठित नियम की पृष्ठभूमि– भिक्षावृत्ति का प्रतिष्ठित नियम पूर्वतरगामी उपनिषदों मे स्वीकार्य (पहचाना) नहीं है, किन्तु धर्मशास्त्र जैसे बाद के ग्रंथो में उसका वर्णन मिलता है। यह बिलकुल भी असंभाव्य नहीं है कि उक्त साधु प्रतिष्ठित नियम शुद्धतः मागधी था; जो जैन और बौद्ध साधु धर्म के पूर्वानुगामी के रूप में लम्बे समय से वास्तव में पूर्वी भारत मे प्रचलित था। दत्त (Dutta) की आयुक्ति है, यह विचारपूर्ण प्रतीत होता है कि धार्मिक भिक्षावृत्ति (आहारदान) की दशा भारतीय भूमि पर विकसित हुई, और इसे प्राचीन आर्य बसने वालों ने इस देश मे पुनः स्थापित नहीं किया था, जिनके जीवन और समाज की झलक हमें वैदिक मत्रों में दिखाई देती है' (226)। प्रवचनसार मे मुनि को बारंबार श्रमण अभिधानित किया गया है, जिसका अर्थ पहले ही विवेचित हो चुका है (227)। यद्यपि मूल रूप से उसे मागधी साधु कहा गया है, और कुन्दकुन्द के समय तक वह एक मात्र जैन मुनियों की संज्ञा ही प्रतीत होती है, जैसा कि उस शब्द के दक्षिण भारतीय प्रचलन (प्रयोग) से स्पष्ट है। यह सम्भव है कि मेगास्थिनीज (Megasthenes), सरमनो (Sarmanes) का निर्देश करते हुए, जैन मुनियों को दृष्टि में रखे हुये थे, प्राच्यविद् विद्वानों ने खोज निकाला है कि उनकी जिनसोफिस्ट +Gymnosophists) उपाधि जैन साधुओ के अर्थ थी; और क्लाटआर्कोज (228) (Kleitarchos) द्वारा प्रयुक्त शब्द जिनताइ (Gymnetai) जैन-यति का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

5. प्रवचनसार के टीकाकार

1. अमृतचन्द्र और उनकी तत्त्वदीपिका

अमृतचन्द्र और उनके ग्रंथ–

हमें अमृतचन्द्र के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। (229) उन्होंने अपने ग्रंथों मे अपने संबंध में कोई भी सूचना नहीं दी है। अंत में छपी **प्रशस्ति** अमृतचन्द्र के सम्बन्ध में कुछ भी कार्यकारी नहीं है, किन्तु वह संभवतः हस्तलिपि के लिपिकार द्वारा लिखी गयी है। आशाधर (230) ने एक गाथा (क्र. 26) पुरुषार्थ–सिद्ध्युपाय से इस वाक्यांश, 'एतद् अनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदम् अपाठीत्' सहित उद्धृत की है, जिससे यह सूचित होता है कि सम्भवतः अमृतचन्द्र का अपर नाम ठक्कुर था, अथवा वह उनके पारिवारिक जीवन में ठाकुर अथवा ऐसा ही कोई उनका उपनाम रहा हो आशाधर की सूचना का स्रोत, फिर भी हमें ज्ञात नहीं है। अमृतचन्द्र की केवल पांच कृतियां आज उपलब्ध है–

1. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** (231) यह **जिन–प्रवचन– रहस्य–कोश** नाम से भी ज्ञात है। उच्च रूप से दार्शनिक तान में इसमे गृहस्थ के कर्त्तव्यों का संपूर्ण विवरण दिया है। विषय को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण अंशदान उनके द्वारा किया गया अहिंसा का स्पष्टीकरण है तथा दो नयो के मध्य संबन्ध का स्पष्टीकरण है। इस निरूपण में नयापन है, और उनके कुछ उदाहरण मौलिक तथा प्रभावक हैं। सम्पूर्ण रूप में यह आर्या छन्द में लिखा गया है। इस ग्रंथ में उनके नाम का उल्लेख नहीं है।

2. दूसरा ग्रंथ **तत्त्वार्थसार** है जो **तत्त्वार्थसूत्र** का धारा प्रवाही छन्दबद्ध प्रतिपादन है। अंतिम गाथा को छोड़कर शेष में अनुष्टुभ् छन्द हैं। ग्रंथकार के नाम का उल्लेख नहीं है, परन्तु इन दो ग्रंथों के अन्त में ग्रंथकार ने सौभाग्य से अपनी विनम्रता दिखलाते हुए व्यक्त किया है कि 'अक्षरों ने शब्दो का निर्माण किया है, शब्दो ने वाक्यों का जिन्होंने प्रत्यावर्तन में ग्रंथ का निर्माण किया है; इस प्रकार वे किसी प्रकार भी ग्रंथकार नहीं हैं (3–5)।

इन दो कृतियों के सिवाय, हमारे पास उनकी **पञ्चास्तिकाय** पर (**तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति** नामक टीका), **प्रवचनसार** पर (**तत्त्वदीपिका** नामक टीका) और **समयसार** पर (**आत्मख्याति** नामक टीका) जो टीकाएं हैं उनके अंत में उन्होंने समांग रूप से अपने नाम का उल्लेख किया है। **समयसारकलश** को बहुधा अमृतचन्द्र का एक स्वतंत्र ग्रंथ निरूपित किया जाता है और मात्र उसी पर शुभचन्द्र (232) द्वारा संस्कृत टीका लिखी गयी है, किन्तु वास्तव में वह **समयसार** पर लिखी गयी उनकी टीका में समन्वित गाथाओं का एक अलग संकलन है। ये सभी ग्रंथ संस्कृत में हैं। यह पूछा जा सकता है कि क्या उन्होंने प्राकृत में भी लिखा; सम्भवतः उन्होंने लिखा, कारण

निम्नलिखित है: उनकी टीकाएं सूचित करती है कि वे प्राकृत के निपुण विद्यार्थी थे; **समयसार** पर उनकी टीका की कुछ हस्तलिपियो के अंत में संभवतः स्वयं उन्हीं के द्वारा संरचित एक प्राकृत गाथा प्राप्त हुई है, (233) और अंत में मेघविजयगणि ने निज द्वारा प्राकृत में रचित किसी **श्रावकाचार** ग्रंथ में से उसकी कुछ प्राकृत गाथाओं को अमृतचन्द्र द्वारा रचित बतलाया है। अमृतचन्द्र द्वारा रचित एक गाथा **ढाडसी–गाथा**(234) में खोजी गयी है जिसके ग्रन्थकार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, केवल यह ज्ञात है कि ग्रन्थकार काष्ठासंघ के थे। यदि मेघविजयगणि का आरोपण प्रामाणिक है, तो अमृतचन्द्र **ढाडसी** के रचयिता हो सकते हैं, और उस दशा मे वे संभवतः काष्ठासंघ के हो जाते है। यदि वे काष्ठासंघ के थे तो इससे सुविधापूर्वक अमृतचन्द्र के द्वारा प्रयुक्त कुछ शब्दों और वाक्याओ को तथा कुन्दकुन्द के ग्रंथों मे कुछ निर्णायक गाथाओ का छोड़ देना समझाया जा सकता है; (235) किन्तु यह सभी प्रतिबंधित अनुमान के क्षेत्र की वस्तु है।

उनकी विद्वत्ता एवं शैली इत्यादि—टीकाकार के रूप मे अमृतचन्द्र की स्थिति वास्तव मे महान् है, क्योंकि जहाँ तक हमें ज्ञात है, वे कुन्दकुन्द के प्रामाणिक ग्रंथों के प्रथम टीकाकार हैं। उनका लक्ष्य शाब्दिक स्पष्टीकरण करना नहीं है किन्तु वे गाथाओं की दार्शनिक विषयवस्तु को मात्र प्रतिपादित करना चाहते है। कभी कभी, फिर भी, उनके संवृत-शृंखला युक्त पदान्वय मे कोई एक विशिष्ट प्राकृत पाठ के संबंध मे अनुमान लगाना संभव है। (236) अनेकान्त न्याय के लिए उनकी उत्कंठा अत्यधिक है: यह उनकी टीकाओ से तथा अन्य ग्रंथो से बिलकुल स्पष्ट है। वे दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथों से घनिष्ठ परिचय (भिज्ञता) बतलाते है। वे कुन्दकुन्द के **मोक्खपाहुड** से उद्धरण देते है (237)। वे एक **व्यवहारसूत्र** (238) का उद्धरण देते हैं जो सम्भवतः कोई श्वेताम्बर ग्रंथ प्रतीत होता है। जयसेन भी ऐसे किसी ग्रंथ से अनभिज्ञ है और उसी को चिरन्तन– प्रायश्चित्त–सूत्र द्वारा अनुवादित कर देते है। वे सिद्धसेन के **सन्मति** मे से एक गाथा का उद्धरण देते है। (239) उनका संस्कृत मुहावरो पर अधिकार असाधारण है; उनकी जैन पारिभाषिक शब्दो की उपयोग व्यवस्था इतनी स्वाभाविक एवं सरल है कि वे उनका अनुवाद साधारण जातिवाचक संज्ञाओ के रूप मे करने मे भी संकोच नहीं करते हैं। वे अर्थगर्भित व्याख्याओ तथा संक्षिप्त प्रतिपादन का मूल्य जानते है; कभी कभी यहाँ और वहाँ पुनरावृत्ति दिखाई देती है, और उनकी यह प्रकृति कुन्दकुन्द के **समयसार** से संक्षेपित हुई प्रतीत होती है। कभी कभी उनका गद्य कृत्रिम होता है, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति की धारा अति प्रबल होती है। अमृतचन्द्र गद्य लेखक की अपेक्षा कवि अधिक है, इसका साक्ष्य प्रवचनसार पर उनकी टीका मे आई कुछ थोड़ी सी भी गाथाएं है। आध्यात्मिक कवि के रूप में उनकी स्थिति किसी भी उनके पूर्वगामी या अनुगामी जैन ग्रंथकार की तुलना मे अनुपम (अद्वितीय) एवं अप्रतिम है। उनका **समयसार–कलश** आत्मविद्या के सार को गर्भित किये हुये सूक्ष्म सुन्दररूप से पदबंधित और सावधानी से परिष्कृत श्रुतिमधुर गाथाओ की यथार्थ खान है; उसने पद्मप्रभदेव जैसे पश्चात्वर्ती ग्रंथकारो पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ा है; साथ ही विषय वस्तु उपयुक्त छंदों में ऐसे गौरव के साथ विवेचित की है कि उसका संकलन ही अमृतचन्द्र की कवित्व प्रतिभाओं को स्मारकरूप में रखने के लिये पर्याय है;

उनकी तत्त्वदीपिका में प्रकट उद्धरण—उनकी **प्रवचनसार** टीका में केवल पांच उद्धरण है। गाथा **आनन्दामृत आदि पदबंध भवतिचात्र श्लोकः** के साथ रखी गयी है; यद्यपि इस गाथा के पश्चात् दो और गाथाएं हैं। इस अद्वितीय गाथा का योग बतलाता है, कि संभवतः वह उद्धरण है; परन्तु मैं उसे कहीं भी नही खोज पाया हूँ। दो और उद्धरण साथ लेने पर **जो जावदिया वयणवहा** और **परसमयाणं** रूप मे एक के बाद दूसरी उद्धृत हैं, वे उसी क्रम में गोम्मटसार (कर्मकांड 894-5) मे प्राप्त हैं, और उनके पाठो मे व्यावहारिक सहमति है। उनकी परिणामी स्थिति और शाब्दिक सहमति इस सुझाव का प्रलोभन देती है कि अमृतचन्द्र ने उन्हें **गोम्मटसार** में से लिया होगा, किन्तु इस बिन्दु पर कोई भी मताग्रही नहीं हो सकता, क्योंकि **गोम्मटसार** संकलन संबंधी लक्षण वाला ग्रंथ है; और **धवला** तथा **जयधवला** टीकाओ में इन गाथाओं के पाये जाने की प्रत्येक संभावना है। प्रथम गाथा सिद्धसेन के **सन्मति-प्रकरण** मे प्राप्त है (III, 47), किन्तु यद्यपि अमृतचन्द्र सिद्धसेन के ग्रंथों से परिचित होते हुये भी निम्नलिखित कारणों से उस स्रोत से उद्धृत करते हुये प्रतीत नही होते है: प्रथम तो यह कि सिद्धसेन द्वारा दी गयी गाथा में महाराष्ट्री अभिलक्षण हैं, किन्तु यहां वह निश्चितपूर्वक शौरसेनी में है, दूसरा यह कि अमृतचन्द्र इन दो गाथाओ को एक साथ उद्धृत करते है, जबकि सिद्धसेन ने केवल एक दी है। (240) तब शेष दो उद्धरण, **णिद्धा णिद्धेण** और **णिद्धस्स णिद्धेण गोम्मटसार** (611-14) मे पाई जाती है, यद्यपि यहां जैसी उद्धृत अनुगामी रूप मे नहीं, वे उसी क्रम मे मध्य मे दो गाथाओ के अन्तराक्षेप मे प्राप्त है। उपभापिकीय रूप भी सहमत है, किन्तु हमे मताग्रही नहीं होना चाहिये। **णिद्धस्स णिद्धेण** अत्यत प्राचीन गाथा है; वह पूज्यपाद के **सर्वार्थसिद्धि** ग्रंथ (V, 37, वहाँ **ह्** के स्थान पर **घ्** लिया गया है) मे उद्धृत है उनका अनुगमन करते हुये अकलंक ने उसे **राजवार्तिक** (जहाँ ध् को ह् मे परिवर्तित किया है) में उद्धृत किया है; किंचित् पाठान्तर के पश्चात् उसे सिद्धसेनगणि की **भाष्य-वृत्ति** (V,35) में उद्धृत किया गया है: और आगे उस पर किसी सम्पादकीय टिप्पणी में से मैंने पाया है कि वह गाथा श्वेताम्बर आगम के **पण्णवणा-सुत्त** मे खोजी जा सकती है। यह हमे पुनः उसी निष्कर्ष पर ले आती है कि वह दोनो मतो द्वारा स्वतत्रता पूर्वक सुरक्षित एक परम्परागत गाथा है।

अमृतचंद्र की तिथि—अमृतचंद्र की तिथि निर्णीत करने के लिये अत्यल्प सामग्री है। मैं उनका नाम किसी भी ज्ञात जैन शिलालेखो मे नहीं खोज सका हूँ। ऊपर देख चुके है कि वे सिद्धसेन के **सन्मति प्रकरण** से, बिना स्रोत का उल्लेख किये **चरण** आदि उद्धृत करते है: यह संभव है कि वह दूसरे पृष्ठ पर दूसरी गाथा **णिच्छय** आदि के साथ, **जावदिया** आदि **णिद्धस्स णिद्धेण** आदि के गाथाओ के समान भी सिद्धसेन से बहुत पहले प्रचलित कोई परम्परा गाथा निकल आए। यदि वे सिद्धसेन से उद्धृत करते है; तो वे 7 वीं ईसा की सदी से पूर्व के नहीं हो सकते, जो सिद्धसेन का सबसे बाद का माना हुआ काल है। (243) यद्यपि यह संभव है कि सिद्धसेन कम से कम शताब्दी युग्म से पूर्व हुये हो (244)। इस प्रकार यह हमे उनकी और पहले की सुनिश्चित सीमा का निर्णय करने में सहायक नहीं है। **पञ्चास्तिकाय** की गाथा 27 पर प्रारम्भिक आयुक्ति देते हुये अमृतचन्द्र कहते है: **भट्ट-मतानुसारि-शिष्यं प्रति सर्वज्ञ-सिद्धिः।** यह बिलकुल स्पष्ट है कि वे सर्वज्ञ पर भट्ट कुमारिल की दृष्टि का निर्देश कर रहे हैं। जिस पर

निर्देश पहले ही दिया जा चुका है। कुमारिल की तिथि कभी अनिश्चित थी, किन्तु कुमारिल पर किया गया शान्तरक्षित का आक्षेप कुमारिल को 7 वीं ईस्वी सदी के अंतिम चरण में रखेगा। (245) इस प्रकार इससे अमृतचंद्र के काल की पूर्ववर्ती सीमा बंध जाती है, और इस प्रकार वे ईसा की 7वीं सदी से बाद के हो जाते हैं। (246) जहाँ तक बाद की सीमा है, आशाधर (13 वीं ईस्वी सदी का पूर्वार्द्ध) ने, जयसेन (12 वीं ईस्वी सदी का मध्य) ने और पद्मप्रभ (12वीं ईस्वी सदी का मध्य) ने उनका उद्धरण दिया है। इस प्रकार इतना सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अमृत चंद्र ईसा की 7 वीं और 12 वीं सदी के बीच हुये। इस अवधि को और भी संकुचित करने के लिये अन्य प्रसंभावनाएं हैः प्रतीत होता है कि उन्होंने नेमिचन्द्र (लगभग ईसा की 10 वीं सदी) द्वारा संकलित (संरचित) **गोम्मटसार** में से उद्धरण दिये हैं; (सम्भवतः) वे **ढाडसी गाथा** ग्रंथ के ग्रंथकार हो सकते हैं जिसमें निल्पिच्छ–संघ (माथुर–संघ जैसा संघ) का निर्देश है जो 896 ईस्वी में, देवसेन के **दर्शनसार** के अनुसार स्थापित किया गया था; और अंत में वे देवसेन के **आलापपद्धति** ग्रंथ से परिचित प्रतीत होते हैं। (247) ये सभी प्रसंभावनाएं एकत्रित किये जाने पर सूचित करेंगी कि अमृतचंद्र 10 वीं ईस्वी सदी के समीप काल में हुयेः यह केवल आनुमानिक सुझाव है। परम्परागत पट्टावलियाँ अमृतचन्द्र को 10 वी ईस्वी सदी के प्रारम्भ में रखती हैं।

2. जयसेन और उनकी तात्पर्यवृत्ति–

जयसेन और उनकी टीकाएं– कुन्दकुन्द के ग्रंथों के टीकाकार, जयसेन के संबंध में पर्याप्त सूचना उपलब्ध नही है। **प्रवचनसार** पर उनकी टीका के अंत मे आठ गाथाएं प्राप्त हैं (248); किन्तु कुछ व्याकरण–सम्मत कठिनाइयों के कारण इन गाथाओं के कर्तृत्व का विषय अनिश्चित है। उन्हें जयसेन के शिष्य के द्वारा भी संरचित किया माना जा सकता है। ये गाथाएं सूचित करती हैं कि कुमारनन्दि जयसेन के गुरु थे, जो मूल संघ के थे। जिसके दो पूर्व के संत वीरसेन और सोमसेन उल्लिखित हैं। इन विवरणों को स्वयं अधिक महत्त्व देने में संकोच करता हूं। कुन्दकुन्द (249) के तीन ग्रंथों पर उनकी टीकाओ के सिवाय जयसेन का कोई भी अन्य कार्य अभी तक खोजा नही जा सका है। उनकी तीन टीकाओं में से जो **पञ्चास्तिकाय** पर है वह सर्वप्रथम लिखी गयी है क्योंकि उसका निर्देश उन्हीं के द्वारा उनकी अन्य दो टीकाओं में दिया गया (250)। जहाँ तक शेष दो टीकाओं के सापेक्ष कालक्रम का संबन्ध है, कोई निश्चित साक्ष्य नहीं है; **समयसार–टीका** के अंत में विवरण के लघुकरण से और कुछ प्राकृत गाथाओं की उपस्थिति से, उद्धरणों की विरलता या पुनरुक्ति से, जिनमें पउमनन्दि की स्तुति की गयी है, मेरा विचार है कि **समयसार** पर टीका अंत में (रची) आती है।

उसी नामधारी अन्य (ग्रंथकारों) से ये जयसेन पृथक् प्रतिष्ठित—पुरालेखों और साहित्यिक निर्देशों में ज्ञात अन्य जयसेनों से इन जयसेन को पृथक् प्रतिष्ठित करना होगा। धर्मघोष के गुरु, एक जयसेन प्रथम ईस्वी सदी के मथुरा शिलालेख में उल्लिखित हैं (251) जो हमारे ग्रंथकार के लिये अति पूर्व की तिथि है। दूसरी ओर, **महापुराण** (लगभग 838 ईस्वी) के ग्रंथकार अपने किसी गुरु जयसेन (252) का उल्लेख करते हैं; किन्तु हमारे टीकाकार उनसे भिन्न हैं क्योंकि वे **द्रव्यसंग्रह** में से नाम का निर्देश करते हुये उद्धरण देते हैं, और क्योंकि वे

वीरनन्दि के आचारसार में से उद्धरण देते हैं, और क्योंकि वे चामुण्डराज के चारित्रसार के नाम का उल्लेख करते हुये उसमें से उद्धरण देते हैं, और ये सभी ग्रंथ जिनसेन के बाद के हैं। तीसरा तथ्य यह है कि, प्रतिष्ठापाठ के रचयिता जयसेन अथवा वसुबिन्दु हैं जो स्वयं को कुन्दकुन्द का अग्रशिष्य कहते हैं, वे हमारे टीकाकार के तत्सम नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे कभी नहीं कहते कि वे कुन्दकुन्द के मुख्य शिष्य हैं; वे अपना दूसरा नाम वसुबिन्दु भी नहीं देते हैं; और क्योंकि सामान्यतः प्रतिष्ठा—पाठ की भाषा हमारी टीकाओं की अपेक्षा हीन है। चौथा तथ्य यह है कि जयसेन जिनके धर्मरत्नाकर में से पीटरसन (Peterson) (253) द्वारा उद्धरण दिये गये हैं, भी इन टीकाकार से भिन्न हैं।

अमृतचंद्र की तुलना में टीकाकार के रूप में जयसेन —टीकाकार के रूप में जयसेन की अपनी निज की विधि है जिसके द्वारा उन्होंने पश्चात्वर्ती ब्रह्मदेव जैसे टीकाकारों को प्रभावित किया है। किसी परिच्छेद या उपपरिच्छेद के प्रारम्भ में, वे सदैव उस परिच्छेद का विश्लेषण विषय—वस्तुओं के अनुसार गाथाओ को गूंथ कर देते हैं। प्रत्येक गाथा का परिचय पीठिका के द्वारा किया गया है। जो सामान्यतः अमृतचंद्र की गाथा से सहमत रहता है। तब वे गाथा को शब्दशः स्पष्ट करते हैं। आगे **तथा हि** जैसे पद के साथ वे अमृतचन्द्र के सुझावों को समन्वित करते हुये किसी विशेष गाथा के विवेचन को समापित करते है और कभी कभी **अत्राह शिष्य, परिहारम् आह** आदि जैसे शब्दो के साथ नवीन विवेचनो को जोड़ देते हैं उनकी शैली सरल है, और प्रयोजन के साथ वे सरल संस्कृत मे लिखते है जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, वे व्याकरणीय कठोरता की उपेक्षा करते हैं, जिसके लिये वे विवेकशील पाठकों की तृप्ति चाहते हैं। (254) उनकी टीकाएं यत्र तत्र उद्धरणों से अलंकृत है ; उनके स्रोतों का उल्लेख विरला है; और बहुधा वे तात्कालिक उद्धरण होते है। जो जयसेन की विस्तृत विद्या को सूचित करते है। पञ्चास्तिकाय (255) में उद्धरणों की संख्या असामान्य रूप से अधिक है, और ग्रंथ की दीर्घता के अनुपात में समयसार में संख्या तुलनात्मक रूप से न्यूनतर है। वे बहुधा पाठको का ध्यान प्राकृत की विलक्षणताओं पर दिलाते हैं (256), किन्तु उनके द्वारा प्राकृत व्याकरण का कोई भी सूत्र उद्धृत नहीं किया गया है। उनकी टीका में सुरक्षित (मूल) ग्रंथ पाठ विविध भांति से मूल्यवान् हैं; और दीर्घतर पुनरीक्षण के लिये उनकी कर्तव्यनिष्ठा वस्तुतः श्रेयस्कर है, यद्यपि उनके समक्ष पहले से ही अमृतचंद्र का लघुतर पुनरीक्षित पाठ था। पाठ—सुरक्षा के मामले के सिवाय, अमृतचन्द्र की टीका का उन पर बहुत बड़ा प्रभाव है। वह पूरी तरह जानते है और अभियुक्ति करते है, कि अमृतचंद्र ने कुछ गाथाओं को समाहित नहीं किया है। (257) कभी कभी वे उन्ही गाथाओं का उद्धरण देते हैं जिन्हें अमृतचंद्र ने उद्धृत किया है, और उनकी टीका में उनके द्वारा समयसार—टीका में से भी गाथाएं उद्धृत की गयी हैं; वे अमृतचंद्र का अति समीप से अनुगमन करते हैं। (258) अमृतचंद्र की विद्वत्ता आश्चर्यजनक है, और वह विद्यार्थियों को किंकर्त्तव्यविमूढ़ तक कर सकती है;किन्तु जयसेन सरल और सहानुभूतिपूर्ण हैं, और जो कुन्दकुन्द को समझना चाहते हैं ऐसे विद्यार्थियों के लिये वे सुनिश्चित रूप से प्रिय सिद्ध होंगे। वे सदैव अमृतचंद्र के दार्शनिक नेतृत्व का अनुगमन करते हैं, किन्तु ग्रंथ के प्रति कर्त्तव्य निष्ठा और सरल शब्दों में स्पष्टीकरण उनका विशेष क्षेत्र है।

उनकी तात्पर्यवृत्ति में उद्धरण— एक परिशिष्ट में मैंने प्रवचनसार पर जयसेन की

का से समस्त उद्धरणों की सूची बनाई है। जहाँ तक मैं उनके स्रोतों को खोजने में समर्थ हुआ हूँ, ग्रंथ जिनमें से जयसेन ने उद्धरण दिये हैं ये हैं : **मूलाचार**, **सिद्धभक्ति**, **पञ्चास्तिकाय**, **रसअणुवेक्खा**, **तत्त्वार्थसूत्र**, **स्वयंभूस्तोत्र**, **दोहापाहुड**, **गोम्मटसार**, और **आलापपद्धति** । ना खोजे गये उद्धरणो में गाथा **एको भावः** इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं। इसके कुछ कुछ सदृश एक था **स्याद्वाद—मञ्जरी**, **सन्मति—टीका षड्—दर्शनसमुच्चय** पर मणिभद्र की वृत्ति जैसी अनेक ताम्बर टीकाओं से उद्धृत की गयी है।

इस गाथा का रूप, **दृष्ट** के स्थान में **बुद्ध** शब्द को छोड़कर उस गाथा से मिलता है जो **यचक्र** के अंत में पाई गयी है, जैसा कि पंडित सुखलालजी ने लक्षित किया है (260) । वह भचंद्र के **ज्ञानार्णव** के 34 वें अध्याय में भी उद्धृत की गयी है। गाथा **नोकम्म** आदि, **मेयकमलमार्तण्ड** में उद्धृत है। गाथा **देश—प्रत्यक्ष** आदि को चामुण्डराज के चारित्रसार मे ोजा गया है (261)। आशाधर द्वारा **धर्मामृत** (262) और **इष्टोपदेश** (263) पर अपनी काओ मे (गाथाएं) **शुद्धस्फटिक** आदि, और **समसुख** आदि को उद्धृत किया गया है।

जयसेन की तिथि— जयसेन के अवधि काल की पूर्व की सीमा का निर्णय करने हेतु नकी टीकाओ में दिये गये विविध उद्धरण और विभिन्न ग्रंथों के निर्देश सहायक सिद्ध होंगे। वे **म्मटसार** मे से उद्धरण देते है और नाम से **द्रव्यसंग्रह** का उल्लेख करते है, **प्रवचनसार** पर अपनी का में चामुण्डराज के **चारित्रसार** मे से उद्धरण देते है; और ये ग्रंथ 10 वी ईस्वी सदी के अंतिम रण के हैं । **पञ्चास्तिकाय** (पृ. 8) पर अपनी टीकाओ मे जयसेन दो गाथाएं वीरनन्दि के **चारसार** (IV, 95-96) में से उद्धृत करते है, और सम्भवतः वे अपनी आयुक्ति **ासकाध्ययन—आचार—आराधनादिग्रन्थैः** द्वारा मे इस **आचारसार** का निर्देश देते है। वीरनन्दि अपनी निज की **आचारसार**, पर एक कन्नड टीका लिखी जिसे उन्होंने 1153 ईस्वी मे समाप्त या (264), और यह अवधिकाल श्रवणबेलगोळ के विविध शिलालेखों द्वारा पुष्ट किया जा कता है। (265) संस्कृत **आचारसार**, ग्रंथकार द्वारा कन्नड देश मे अधिक उपयोगी बनाने हेतु न्नड टीका लिखने से प्रलोभित होने के पहले से भी कुछ वर्ष पूर्व, लिखा गया हो सकता है। इस कार जयसेन लगभग 1150 ईस्वी के बाद अवश्य हुये होंगे। तब, बालचन्द्र की टीकाओं से यसेन टीकाओ की तुलना से, यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि जैसा नीचे बतलाया जायेगा, ालचंद्र ने अपनी टीकाओ को मुख्यतः जयसेन की टीकाओं पर आधारित किया है; और बालचंद्र , अपनी टीकाओं को सबसे पहले की अवधि के लेने पर 13 वीं ईस्वी सदी के प्रथम चरण मे रखा है। इस प्रकार कुछ वर्षों को व्यवस्थित कर लेने पर जिनके लिये अवकाश तो है किन्तु निश्चित प्रमाण नही है, हम कह सकते हैं कि (संभवतः) जयसेन ने अपनी टीकाएं ईसा की 12वीं दी के द्वितीय अर्द्ध में लिखी होंगी। (266)।

3. बालचन्द्रदेव और उनकी कन्नड तात्पर्यवृत्ति

बालचन्द्र के संबंध में सूचना—बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द के सभी तीन ग्रंथो पर कन्नड में काएं लिखी है। उनकी टीकाओ (267) में दी गयी प्रशस्तियों (पुष्पिकाओं) मे गर्भितसूचना डो को एकत्रित करने पर हमे ज्ञात होता है कि उन्होंने स्वयं को अध्यात्मी बालचन्द्र (268) के

रूप मे उपाधि ग्रहण की थी; कि वे नयकीर्ति राद्धान्त (सिद्धांत) चक्री के शिष्य थे; और यह कि नयकीर्ति के नन्दनसागरनन्दि (269) की सेवा द्वारा उन्हें आत्म—स्वभाव का अनुभव हुआ।

उनके गुरु, सहयोगी, शिष्य एवं निवास आदि— बालचंद्र को नयकीर्ति के शिष्य होने का अद्वितीय गौरव प्राप्त हुआ था जो बेलगोळ और आसपास के देश (270) में महान् धार्मिक शक्ति और अधिकृत विद्वान् थे। पट्टावलि निम्नानुसार थी— मूलसंघ, देशीगण, पुस्तकगच्छ, और कुन्दकुदान्वय। (271) नयकीर्ति का देहावसान 24 अप्रैल 1176 ईस्वी में हुआ, और वे अपने पीछे शिष्यो की महान् संख्या छोड़ गये, जिनमें से मेघचंद्र उनके पट्टोत्तराधिकारी प्रतीत होते है। उनके अन्य शिष्य ये थे—मलधारीदेव, श्रीधर, दामनन्दि, भानुकीर्ति, बालचन्द्र, माघनन्दि, प्रभाचंद्र, पद्मनन्दि और नेमिचन्द्र (272)। नयकीर्ति के शिष्यों की सभी सूचियों में बालचन्द्र का नाम दामनन्दि और भानुकीर्ति (273) के पश्चात् आता है, कभी कभी प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र के नाम बालचंद्र के ऊपर आते है (274) यद्यपि बालचंद्र नयकीर्ति के ज्येष्ठतम शिष्य तो नही थे, वे शीघ्र ही सुविख्यात हो गये; कठोर तपश्चर्या अनुशासनशील वाले दयालु (हितकारी) मुनि के रूप मे उनकी विविध शिलालेखो में स्तुति की गयी है; उनके अनेक गृहस्थ—शिष्यों, पुरुष एवं महिला, ने मूर्तियां एवं मन्दिर बनवाए (275) मंत्री चन्द्रमौलि की पत्नि, आचलदेवी, उनकी गृहस्थ—शिष्या थी; उन्होने श्रवणबेलगोळ में एक मंदिर बनवाया और बालचन्द्र का नाम 1182 ईस्वी के किसी शिलालेख मे स्तुति रूप में उल्लेखित है जो चन्द्रमौलि की प्रार्थना पर होयसल राजाधिप वीर बल्लालदेव द्वारा बम्मेयन—हल्लि ग्राम के दान संबंधी है। (276) नागदेव ने 1195 ईस्वी में निसिदि (277) नयकीर्ति की समाधि की स्मृति मे श्रद्धा रूप में बनवाई, और उसी शिलालेख मे बालचन्द्र देव का उल्लेख है। (278)। ईस्वी सन् 1231 मे होयसळ श्री वीर नरसिंहदेव के दास एवं अध्यात्मी बालचंद्र (नयकीर्ति के शिष्य) के शिष्य गोम्टसेट्टी ने गोम्मटदेव की पूजा हेतु जमीन का दान दिया। (279) बोप्पण पंडित के जो सुजनोत्तं रूप से ज्ञात है, गोम्मटदेव की स्तुति में सुन्दर कन्नड प्रार्थना लिखी; वह बेलगोळ में किसी शिलालेख मे समन्वित है; और उसे बालचन्द्रदेव के निर्देशानुसार शिलालेख रूप दिया गया (280)। ये तथ्य सूचित करते हैं कि बालचन्द्र का कार्य क्षेत्र बेलगोळ के आसपास था।

बालचन्द्र की तिथि—यह कि अध्यात्म अनुभव प्राप्त करने हेतु बालचन्द्र ने सागरनन्दि की सेवा की (जो संभवतः नयकीर्ति के शिष्यो में से एक थे), कि उनका नाम दामनन्दि और भानुकीर्ति के पश्चात् उल्लेखित होता है, और यह कि वे कम से कम 1231 ईस्वी तक जीवित रहे बतलाता है कि बालचन्द्र अवश्य ही तुलनात्मक रूप से युवा रहे होंगे जब नयकीर्ति की मृत्यु हुई। इसलिये स्थूल रूप से बालचंद्र का जीवनकाल 1176 और 1231 ईस्वी तिथियों के द्वारा परिगणित किया जा सकता है। वे अपनी स्वानुभूति की उत्पत्ति का निर्देश करते हैं, अतः मैं यह कहने के लिये लालायित हूँ कि उन्होंने अपनी टीकाएं अपने जीवन के अंतिम दिनों में लिखी होंगी। अतः उनकी टीकाओं की तिथि सबसे पहले की अवधि लेने पर 13 वी ईस्वी सदी का प्रारम्भ हो सकती है। कुन्दकुन्द के ग्रंथों की टीकाओं के सिवाय, उन्होंने परमात्मप्रकाश तथा तत्त्वार्थ—सूत्र पर कन्नड में टीकाएं लिखी है, और स्तुति—स्तोत्रों की रचना भी की है। (281)।

जयसेन एवं बालचन्द्र की टीकाओं की तुलना—जयसेन की टीकाओं से बालचन्द्र की

टीकाओं की तुलना अपने आप में एक प्रश्न है और उसे जितना सीमित स्थान मुझे मिला है उतने में व्यवहृत नहीं हो सकता है।अतः मैं केवल प्रवचनसार की उनकी टीकाओं तक सीमित रहूँगा। यह तुलना सदृशता के अनेक बिन्दुओं को प्रकट करेगी; तात्पर्यवृत्ति दोनों टीकाओं का नाम है; दीर्घतर (अधिक वाला पाठ) पुनरीक्षित पाठ ही है जो मान्य किया गया है; गाथाओं की प्रारम्भिक पीठिकाएं और शाब्दिक स्पष्टीकरण बहुधा शब्दशः वही हैं; और अंत में दीर्घतर गद्यांशों में भी एक निकट सहमति है जैसा कि कन्नड टीका में से निम्नलिखित प्रारम्भिक अवतरण से देखा जा सकता है:

स्व संवित्तिसमुत्पन्न–परमानन्दैक–लक्षणसुखामृत–विपरीत चतुर्गति–संसार–दुक्खभय–भीतनुं समुत्पन्न–परमभेदविज्ञान–प्रकाशाति मुं निराकृत–समस्त–दुर्नयैकान्तदुराग्रहनुं आसन्न–भव्यनुं अप्प शिवकुमार–महाराजं परित्यक्त–शत्रु–मित्रादिपक्षपातादिनात्यन्त–मध्यस्थनागि सकल–पुरुषार्थ–सारभूतेयुम्–अत्यंतात्म–हितेयम् अविनश्वरेयुं भगवत्पंच –परमेष्ठि–प्रसादोत्पन्नेयुमप्पमुक्ति–श्रीयनुपादेयं मादि गौण–मुख्य–रूप –बहिस्तत्त्वान्तस् तत्त्व–प्ररूपण–प्रवचनसारदादियोलपु शतेन्द्र–वंद्य श्री वर्द्धमान–स्वामी–तीर्थंकर–परम–देव–प्रमुख–पंच– परमेठिगलं द्रव्य– भाव –नमस्कारादिं वन्दिसि परम– चारित्रमना श्रय्युवेनेदु पूर्ब्वेयं माडिदपं ।।सूत्रावतारं।। पंच–कुलकं ।। एस सुरासर इत्यादि (282)। ऐसे समान अनेक अवतरण बालचन्द्र की टीका में से चुने जा सकते हैं और उपर्युक्त अवतरण जयसेन के अवतरण के समरूप हैं जिसमें कुछ कन्नड़ विभक्तियां आदि यहां और वहाँ जोड़ी गयी हैं जो रेखांकित तिरछे अक्षरों में नहीं हैं।

बालचन्द्र की टीका जयसेन की टीका से लघुतर नहीं है। प्रासंगिक विश्लेषण और गाथाओं का समूहीकरण, उच्चप्रवाही निष्कर्ष देने वाली आयुक्तियाँ जो कुछ महत्वपूर्ण गाथाओं की साहित्यिक व्याख्या के अंत में होती हैं, (283) अनेक मूलभूत सुझावों और उद्धरणों से गर्भित पूरक विवेचनाएं, व्याकरण के नियमों की सहायता से ग्रंथीय स्पष्टीकरण की समालोचनात्मक अन्तर्दृष्टि, यत्र तत्र सुन्दर उद्धरण, पंचास्तिकाय पर उनकी टीका के निर्देश कुछ गाथाओं की वैकल्पिक व्याख्याएं (284) ये तथा अन्य बहुत से विशिष्ट लक्षण जयसेन की टीका में हैं; किन्तु ये सभी बिन्दु जो किसी प्रामाणिक टीका में इतने सारभूत हैं, बालचन्द्र की कन्नड टीकाओं में स्पष्ट रूप से अनुपस्थित हैं। बालचन्द्र कन्नड में शब्द प्रतिशब्द गाथाओं को मात्र स्पष्ट करते हैं, और कभी कभी वे विश्लेषण रूप मे और स्पष्टीकरण रूप में और कुछ उद्धरणों के रूप में कुछ अभ्युक्ति जोड़ देते है, जो उसी प्रसंग में, जयसेन की टीका में अधिक विवरण रूप में प्राप्त हैं।

जयसेन की टीका की पूर्ववर्तिता—जयसेन एवं बालचन्द्र की टीकाओं के बीच इतनी निकट समानता पर विचार करने से एक या अन्य की सापेक्ष पूर्ववर्तिता पर किसी को कुछ कहना पड़ता है। सहमति के बिन्दु ऐसे हैं कि ये टीकाएं एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। पंडित जुगलकिशोर का मत है कि जयसेन बालचन्द्र के पश्चात् हुये (285)। दोनों टीकाओं की उपर्युक्त तुलना से, किसी को भी स्पष्ट हो जायेगा कि बालचन्द्र ने केवल जयसेन की टीका को अपने समक्ष रखकर अपनी टीका लिखी है। बालचंद्र की टीका एक यंत्रवत् निष्पादन है; और, जहाँ तक मैंने दोनों की

तुलना की है मुझे यह कहने में कोई भी संकोच नहीं है कि बालचन्द्र का ऐसा कोई भी विवेचन नही है जो जयसेन की टीका में अप्राप्य हो। जयसेन की टीका के व्यक्तिगत लक्षण, सम्पूर्ण ग्रंथ की उनकी बोधगम्यता तथा उनकी अतिरिक्त गाथाओं पर सुबोध व्याख्याएं बालचंद्र की टीका में अप्राप्य हैं। उनकी शैलियों की तुलना करने पर, बालचन्द्र की कन्नड संस्कृत से ढंकी तथा कृत्रिम है; और उसका एक मात्र स्पष्टीकरण यह है कि वे किसी संस्कृत टीका का कन्नड में अनुवाद (प्रस्तुति) कर रहे हैं। जयसेन सन्निकटरूप से अमृतचंद्र का अनुगमन करते हैं और वे सुबोध रूप से एक से अधिक बार उनका निर्देश देते हैं; यदि जयसेन द्वारा बालचन्द्र की टीका उपयोग में लायी गयी होती, तो वे निश्चित रूप से उसका निर्देश करते। जहां तक मैंने उनकी टीकाओं की हस्तलिपियों को पूर्णतः अवलोकन किया है, बालचन्द्र ने अमृतचन्द्र का निर्देश नहीं दिया है; सम्भवतः उन्हें जयसेन की टीका के सिवाय अन्य किसी टीका की जानकारी नहीं थी। अतः जयसेन बालचन्द्र से पूर्व हुए; और बालचन्द्र भी, मैं सोचता हूँ , यही संकेत देते हैं, जब वे अपनी टीका का नाम तात्पर्यवृत्ति रखते है और जब वे कहते हैं:–

धृत– रत्नवितयं प्राभृत– सूत्रानुगत– वृत्तियं (286) पलगं प्रा–।
कृत– कर्णाटक–वाक्यार्थ– तत्त्व–निश्चित्तियागे निर्वीतिसिदे (287) ।।(288)

4. प्रभाचन्द्र और उनका सरोजभास्कर

प्रभाचन्द्र की टीका पर अभ्युक्तियाँ–इस संस्करण के लिये प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका गर्भित प्रवचनसार की हस्तलिपि का उपयोग किया गया है, और विभिन्न पाठ अंत में दिये गये है; (289) यह संभव है कि प्रभाचन्द्र ने भी कुन्दकुन्द के दो शेष ग्रंथों पर टीकाएं लिखी हों। उनकी टीका का नाम सरोजभास्कर है। अमृतचंद्र की टीका से तुलना करने पर प्रभाचन्द्र की टीका में कोई विशेष गहराई नहीं है। उनका लक्ष्य अत्यंत निरभिमानीं (विनम्र) है; उन्होंने प्राकृत पाठ का स्पष्टीकरण शब्दप्रति शब्द दिया है; और उनके प्रतिपादन का विस्तार जयसेन के प्रतिपादन से लघुतर है जिनसे वे यत्र तत्र सहमत हैं। प्रभाचन्द्र के समक्ष जो प्राकृत ग्रंथ है वह कुछ भिन्न दिखाई देता हैं, किन्तु यह बिन्दु कुछ और हस्तलिपियों पर विचार–विमर्श कर लेने के पश्चात् अधिक निश्चित रूप से निर्णीत हो सकता है, क्योंकि जिसे मै उपयोग में ला रहा हूँ वह दोषपूर्ण है। वे गाथाएं जो जयसेन की टीका में अतिरिक्त हैं, उन्हें प्रभाचन्द्र ने बिल्कुल भी समन्वित नहीं किया है (III, 17* 1-2) ; और यह ठीक संभव हो कि वे उनके समक्ष ग्रंथ में विद्यमान न रही हों। गाथा II, 95*4 के सम्बन्ध में प्रभाचन्द्र की आयुक्तियाँ हैं, '' परिणामं ति आगम प्रतिपादितं, सुभ–पयडीणेत्यादि– गाथा– द्वयम् आदेयं न भवति, प्रक्षेपकत्वाद् इति उपेक्ष्यते। यह स्पष्ट नहीं है कि वे कौन सी दो गाथाओं का निर्देश करते हैं, क्योंकि जयसेन की टीका में हमें केवल एक गाथा प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्र की गाथाओं का यत्र तत्र कुछ भिन्न क्रम हैं, विशेषकर पुस्तक III में किन्तु यह भी हस्तलिपि P के दोषपूर्ण लक्षण के कारण हो सकता है; यह क्रम में परिवर्तन विषयवस्तु को सारयुक्त रूप में प्रभावित नहीं करता है।

प्रभाचन्द्र और उनकी तिथि संबंधी सूचना–प्रभाचंद्र ने प्रवचनसार पर की गयी अपनी टीका में स्वयं के संबंध में कोई सूचना नहीं दी है; अतः यह देखना आवश्यक है कि क्या हम

अन्य स्रोतों से उनके संबंध में कोई सूचना प्राप्त कर सकते हैं (290)। प्राकृत **भाव–त्रिभंगी** के ग्रंथकार, श्रुतमुनि, उक्त ग्रंथ की प्रशस्ति मे कहते है कि बालचन्द्र उनके अणुव्रत–गुरु, अभयचन्द्र सिद्धांती उनके महाव्रत–गुरु और अभयसूरि तथा प्रभाचन्द्र उनके शास्त्र गुरु थे (291)। इन भिन्न गुरुओ की स्तुति करते हुये वे प्रभाचन्द्र के बारे में कहते है कि वे ऐसे साधु (मुनि) थे जो सारत्रय (नामतः **पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार,** और, **समयसार**) मे कुशल थे, अपनी शुद्ध आत्मा के प्रति समर्पित थे, बाह्य वस्तुओ के मोह की वृत्तियो से मुक्त थे, और भव्य जीवों को प्रबुद्ध करने के प्रति उद्यमशील थे (292)। सारत्रय के कथन से प्रतीत होता है कि श्रुतमुनि टीकाकार प्रभाचन्द्र का निर्देश कर रहे है। यदि ऐसा है, तो प्रभाचन्द्र की तिथि निर्णीत हो सकती है। श्रुतमुनि के कुछ पीढ़ियो पश्चात् उत्कीर्ण श्रवणबेलगोळ शिलालेख, क्रमांक 254 ईस्वी सन् 1398, मे श्रुतमुनि अपने गुरु अभयचन्द्र के साथ उल्लेखित हैं। 1371 ईस्वी सन् के हुल्लुहल्ली शिलालेख (293) पर विचार करने से हमे ज्ञात होता है कि वह अभिनव श्रुतमुनि की मृत्यु का उल्लेख करता हैं जो श्रुतमुनि के प्रशिष्य थे (294)। इस प्रकार श्रुतमुनि 14 वीं ईस्वी सदी के मध्य मे हुये होगे। बालचंद्र जो श्रुतमुनि के गुरु है वे हमारे टीकाकार बालचन्द्र से भिन्न है। ये बालचद्र, जिनका निर्देश श्रुतमुनि से है, वे वही प्रतीत होते है। जिनका उल्लेख हेलबीड के 1275 ईर्स्वा के शिलालेख मे है जो वर्ष उनकी मृत्यु का है (295)। मुझे ज्ञात है कि एक और इंग्लेश्वरबलि के बालचन्द्र थे, जो 1282 ईस्वी मे जीवित थे। (296) किसी भी प्रकार, श्रुतमुनि और बालचन्द्र की ये तिथियाँ सूचित करती हैं कि प्रभाचन्द्र 14 वी ईस्वी सदी के प्रथम चरण मे अथवा इतने ही के लगभग हुये; इस प्रकार उनकी टीका बालचन्द्र की टीका के पश्चात् की ही है।

5. मल्लिषेण और उनकी टीका

मल्लिषेण की टीका की कथित हस्तलिपि– यह सूचित किया जाता है कि किन्ही मल्लिषेण ने **पञ्चास्तिकाय** और **प्रवचनसार** पर संस्कृत टीकाएं लिखी हैं (297), किन्तु दुर्भाग्य से मुझे कारजा हस्तलिपियां प्राप्त नहीं हो सकी है। उनके सम्बन्ध मे निश्चित सूचना के अभाव में, उन्हे मल्लिषेण अथवा अन्य के रूप मे पहचानने का प्रयत्न व्यर्थ होगा। कारंजा हस्तलिपि प्राप्त करने में अशक्य जब मै असहाय मनोदशा था, (उस समय) बेलगांव के वकील, राव बहादुर ए. पी. चौगुल, बी. ए. एल.एल बी. ने कृपा पूर्वक मुझे एक हस्तलिपि (298) दी जिसमे कुन्दकुन्द के तीन ग्रंथो पर संस्कृत टीकाएं समाविष्ट थी। मैने पूर्ण उत्सुकता के साथ उसके पृष्ठ उलटाए, और प्रवचनसार की टीका के अंत मे मुझे एक प्रशस्ति प्राप्त हुई: **श्री मल्लिषेणाचार्य (299) कृता टीका भद्रं भूयात्।** मैने सोचा कि मुझे मल्लिषेण की टीका प्राप्त हुई है; किन्तु सावधानी पूर्वक अध्ययन करने से मेरी सभी आशाओं पर पानी फिर गया। इस हस्तलिपि मे समाविष्ट टीकाएं वही हैं जो जयसेन की टीकाएं छपे हुये संस्करणो मे प्राप्य है। सहमति परिपूर्ण है। बिल्कुल सावधानी पूर्वक इन हस्तलिपियो मे विभिन्न स्थानो में जयसेन के नाम के उल्लेख को छोडा गया है। **प्रवचनसार** के अंत मे छपी जयसेन की कथित प्रशस्ति इस हस्तलिपि मे **पञ्चास्तिकाय** के अंत मे प्राप्त है; और छपे संस्करण में सुरक्षित तिथि **'विक्रमसंवत् 1369 वर्षेरश्विन सुद्धि। भौमदिने''** इस हस्तलिपि में भी प्राप्त है (300)। इस प्रकार कारंजा से लिपियो के प्राप्त होने के पश्चात् ही इन सभी

बिन्दुओ पर निश्चित प्रकाश डाला जा सकता है।

6. पाण्डे हेमराज और उनका हिन्दी बालावबोध

हेमराज की शैली आदि पर आयुक्तियाँ— इस संस्करण मे पाण्डे हेमराज की हिन्दी टीका, भाषिका रूप को आधुनिक हिन्दी के अनुरूप बनाकर छपी है। प्रारम्भ करने वालो के लिये यह टीका महत्त्वपूर्ण ही है: सामान्यतः प्रत्येक गाथा का स्पष्टीकरण दिया गया है। और इसके पश्चात् गाथा का भावार्थ दिया गया है। जैसा कि स्वयं हेमराज ने कहा है, उनकी टीका मुख्यतः अमृतचन्द्र की टीका पर आधारित है; भावार्थ मे सामान्यतः अमृतचन्द्र की दुर्बोध्य किन्तु महत्त्वपूर्ण अभ्युक्तियो का सार दिया गया है। उनके स्पष्टीकरण मे प्रांजलता और माधुर्य है। यह उनकी बुद्धिपूर्ण अंतर्दृष्टि का स्पष्ट प्रमाण है कि वे अमृतचन्द्र की टीका की आश्चर्यान्वित कर देने वाली संदृढ़ सामग्री मे से ऐसी एक लालित्यपूर्ण टीका की रचना कर सके।

हेमराज के संबंधी तथा रचनाएं— पाण्डे हेमराज आगरा के प्रतिष्ठित निवासी थे, और वे गर्ग गोत्र के थे। उनके एक श्रेष्ठ आदर्श जैनी नामक पुत्री थी जिसका विवाह नन्दलाल के साथ हुआ था। इस विदुषी महिला के पुत्र का नाम लाल बुलाकीदास था, अपनी पूज्य माता की स्मृति अमर करने हेतु उन्होने ही अपनी माता की विनती पर शुभचन्द्र का **पाण्डवपुराण** हिन्दी मे अनुवादित किया था। हेमराज पंडित रूपचंद्र के शिष्य थे। **पञ्चास्तिकाय** और **प्रवचनसार** पर उनकी हिन्दी टीकाओ के अतिरिक्त उन्होने छंद बद्धरूप मे **भक्तामर** का हिन्दी मे अनुवाद किया है और **गोम्मटसार** तथा नयनचक्र की गद्य में व्याख्या की है।(301)

रचना का अवसर— आगरा के किन्हीं धर्मात्मा गृहस्थ कुमारपाल के अनुरोध पर हेमराज ने **प्रवचनसार** पर अपनी टीका लिखी, जैसा कि उन्होने अपनी प्रशस्ति में कहा है कि कमारपाल ने उनसे आवेदन किया कि राजमल्ल के द्वारा मधुर भाषा में **समयसार** की व्याख्या पहले ही हो चुकी है अत. यह आवश्यक है कि बिना विलम्ब किये **प्रवचनसार** की भी व्याख्या करना चाहिये ताकि जैनधर्म अपनी समस्त शाखाओ मे फले फूले; और उनसे निवेदन किया कि वे उस पर हिन्दी मे टीका लिखे और जैनधर्म की प्रभावना करने का फल प्राप्त करे। **प्रवचनसार—टीका** की प्रशस्ति मे उन्होंने शाहजहाँ के प्रति समादर व्यक्त किया है यह टीका रविवार माघ शुक्ल पंचमी वर्ष 1709 अर्थात् 1653 ईस्वी सन् को समाप्त हुई जब शाहजहां दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ हुये थे। (302) उनकी **नयचक्रवचनिका** संवत् 1724(1668 ईस्वी) मे समाप्त हुई। (303)।

6. प्रवचनसार की प्राकृतभाषा

परिचयात्मक अभियुक्तियाँ– कुन्दकुन्द की विविध कृतियों की गाथाओं के निश्शेषित व्याकरण देने का प्रयास वास्तव में अपरिपक्व होगा, क्योंकि कुन्दकुन्द की रचनाओं के जो विविध संस्करण आज हमारे पास हैं, वे पठनीय व्यक्तिगत हस्तलिपियों का मात्र प्रतिनिधित्व करते हैं, और वे अपरिष्कृत रूप से ही समालोचनात्मक कहे जा सकते हैं, जिस रूप में कि हम उस पद को आज समझते हैं। यहां तक कि **प्रवचनसार** का विद्यमान पाठ्यग्रंथ भी यथातथ्य रूप से समीक्षात्मक नहीं है; वह एक बड़ी सीमा तक जयसेन के द्वारा अपनी संस्कृत टीका में सुरक्षित प्राकृत पाठ का प्रतिनिधित्व करता है; किन्तु उसमें फिर भी एक लाभ यह है कि उसमें कुछ स्वतंत्र हस्तलिपियों में ली गयी विविध पाठों की सारणी साथ में है, एक तो अमृतचन्द्र की टीका के साथ लगी है और दूसरी प्रभाचन्द्र की टीका के साथ लगी है। अतः प्रवचनसार के पाठ की विद्यमान दशा के अधीन, मैं ज्यादा अच्छा समझता हूँ कि कुन्द कुन्द के सभी ग्रंथों के अथवा **प्रवचनसार** के भी निश्शेषित व्याकरणीय सर्वेक्षण देने की अपेक्षा यहां उपयुक्त बोलीगत विशेषता के विशिष्ट और प्रमुख अभिलक्षण दिये जायें। यह भी हो सकता है कि मेरे कथनों में से कुछ को सुधारना होगा, जबकि भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त हस्तलिपियों के निष्ठायुक्त एवं निष्पक्ष अध्ययन के पश्चात् इस ग्रन्थ का समीक्षात्मक पाठ तैयार किया जा चुका होगा।

स्वरों का व्यवहार– ॠ, ऋ,ऌ,ऐ, और औ को छोड़कर संस्कृत के स्वर सामान्यतः अवकिल हैं; संयुक्त के पूर्व दीर्घ स्वर लघु हो जाता है, मात्रा वही रहती है। फिर भी कुछ ध्यान देने योग्य परिवर्तनों को मैं यहां दे रहा हूँ। **अ** के विषय में : **ममत्ति=ममत्व** (II 109), **'निसेज्ज'= निषद्या** (I, 44) ; **आ** के विषय में : मेत्त=मात्र (II, 46, 71; III, 17, 38), भास का रूप **मत्त है** (305); **ई** के विषय में : **विहूण=विहीन** (III, 13; और भी पाठान्तर देखिये गाथा I, 7, 17; II,8); **उ** के विषय में : **पुरिस= पुरुष** (III,57), पालि में भी पुरिस (306) होता है किन्तु भास का **पुरुस** (307) होता है; **ऋ** के विषय में : **घरत्थ–गृहस्थ** (III,54), **पगदं=प्रकृतम्** (III,61), **वसहो=वृषभः** (I,26), पालि में **बसभ** (308), **वित्थड=विस्तृत** (I, 59); **इड्ढि=ऋद्धि** (I,38*3), **इसिणो=ऋषयः** (I, 33), **विड्ढि=वृद्धि** (I,73) पालि में **वुड्ढि** जो उत्पत्ति के अभिप्राय में है (309), **पयडी=प्रकृतिः** (III,24*8),(310) **पुढवी=पृथ्वी** (I,40), तुलना करिये पालि **पुठुवी** (311), **पुधत्त=पृथक्त्व** (II,14),**वुड्ढो–वृद्ध** (III,30); **ॠ** के विषय में : **कत्तीणं=कर्तॄणाम्** (III,68); **ए** के विषय में: **दोस=द्वेष** (I, 78), तुलना करिये पालि में **दोस** (312), संस्कृत में भी अश्वघोष का किसी समय रूप **प्रदोषम्** है, जो छांदिक रूप से आवश्यक है, किन्तु अर्थ **प्रद्वेषम्** से संबंधित है: (313) **ऐ** के विषय में : **ईसरियं=ऐश्वर्यम्, इस्सरिय** पाठान्तर है। (I,

68*3); प्राप्य पालिरूप इस्सरिय (314) है, णेव=नैव (I, 32), वेउव्विओ=वैकुर्विक (II,79), औ के विषय मे : ओरालिओ=औदारिक (II, 79), धोव्व=धौव्य (II,8: P हस्तलिपि में धौव्व' का पाठान्तर देखिये) इस प्रसंग में लघुकरण के रूपों को देख सकते हैं: उग्गह=अवग्रह (I, 21), ओहि=अवधि (III,34), पालि ओधि (315) से तुलना करिये; अवगाह (II,85) भी देखिये।

संधियों के उदाहरण— यहाँ सामान्य सवर्णदीर्घ और गुणसंधि के अतिरिक्त स्वर संधि के कुछ तथ्य एकत्रित किये जा सकते है: जिणवरिंद=जिनवर+इन्द्र (III,24), मणुसिंद (I,1) और समणिंद (III,24*6); तेणिह=तेन+इह (II,22),: धम्मुदेसो = धर्म+उपदेश: (I,44): बीजाणिव = बीजानि + इव (III,55), ताएव=ताए (तया)+एव (III,54)। ये उदाहरण सूचित करते हैं कि विशेषरूप से दो असदृश्य स्वरो की संधि में प्रथम स्वर का लोप करने की प्रवृत्ति होती है। (316) पिशेल (Pisechel) ने जिन्हें संधि—व्यंजन (317) कहा है ऐसी भी कुछ स्थितियाँ होती है : अण्णमण्ण (II,81), रागमादिहिं=रागादिभि: (II, 85)।

अंतःस्वरीय व्यंजनों का व्यवहार—प्रवचनसार मे सुरक्षित प्राकृत भाषिकी की प्रवृत्ति अंतःस्वरीय (अथवा जैसा हेमचन्द्र ने उन्हें अनाद्य और असंयुक्त कहा है) व्यञ्जनों की ओर अधिक प्रवृत्त है, कभी कभी अपने मूल रूप मे और कभी अपने मृदुरूप में जो संरचक स्वर को पीछे छोड़ते हुये सम्पूर्ण लोप की ओर कम प्रवृत्त है।

अंतः स्वरीय क् का सामान्यतः ग् में मृदुकरण हो जाता है: अधिग=अधिक (III,66), खाइग=क्षायिक (I, 50),गुणप्पगाणि=गुणात्मकानि (II,1) पत्तेग= प्रत्येक (I,3),लोग= लोक(I,16),लोगिग= लौकिक(III,53)। समगं= समकम्(I,3),कभी कभी वह लुप्त होकर 'य—श्रुति' के लिए स्थान बना देता है जो यदि सम्भव हो तो अपनी स्थिति की प्रकृति द्वारा अथवा मात्र संरचक स्वर को पीछे छोड़कर होता है: 'अज्झावय= अध्यापक (I,4) अहियं= अधिकम् (III,70), खाइयं= क्षायिकम् (I,47), तित्थयर= तीर्थकर (I,2), लोयालोय= लोकालोक (I,23), सयल= सकल (I,54), 'सावय'= श्रावक (III,50); और दुर्लभरूप से वह प्रतिधारित किया जाता है: अधिक (I,19),अंजलि—करणं (III,62), बंध— कारणं (I,76) जैसे शब्दों में उसकी विद्याम नया उसकी स्थिति सम्बन्धी लाभ के कारण है कि वह संयुक्त अक्षर के दूसरे सदस्य का आदि है। स्वार्थे क् उतना अधिक (बहुतायत से) नहीं पाया जाता है जितना अपभ्रंश में, और उसका प्रतिपादन समान है: अप्पगं= आत्म (—कम्) (I,79), मंसुगं= श्मश्रु (—कम्) (III,5), सग- परिणाम= स्व (-क)— परिणाम (II,75),

अंतःस्वरीय ग् को प्रतिधारित किया जाता है : आगम (III, 35आदि) भोगेहिं= भोगै: (I,73), रोग (III,52), विगद—रागो= विगत—राग: I,14)।

सामान्य प्रवृत्ति अंतःस्वरीय ए को प्रतिधारित करने की ओर प्रतीत होती है: अयदाचार= अयताचार (III,17), आलोचिता= आलोच्य (III,12)मणवचिकाय= मनोवाक्काय (II,54*3),'लोचावस्सय'= 'लोचावश्यक'(III,8), विमोचिदो= विमोचित: (III,2); कभी कभी उसे छोड़ दिया जाता है : 'आलोयण'= आलोचन (III,12),'पवयण'= प्रवचन। पालि पावचन (318) से तुलना करिए, जबकि ए एम जी. में दोनों 'पवयण' और 'पावयण' होते हैं।

अंतःस्वरीय ज् को अधिकांशतः बहुधा सुरक्षित रखा जाता है : **कम्मरजेहिं= कर्मरजोभिः** (II,96), **तेजो= तेजस्** (I,19), **पूजासु** (I, 69), **बिजाणीव= बीजानीव** (III,55), **सहजेहिं= सहजैः** (I,63); कभी कभी वह छोड़ दिया जाता है : 'कम्मरयं' = कर्मरजस् (II,95), **'भोयण'= भोजन** (III,8), **'मणुय'= मनुज** (I,6); मानव रूप के साथ रूप **मणुव= मनुज** (I,85; III, 55) संदूषित प्रतीत होता है, अथवा वह 'व'—श्रुति की भी दशा हो सकती है जैसा कि पालि मे 'सुव'= शुक। (319)

अंतःस्वरीय ट् को ड् में परिवर्तित कर देते हैं : **उप्पाडिद=उत्पाटित** (III,5), **कोडिणं=कोटीनाम्** (III,29*19, साथ ही III, 38)।

सामान्यतः और पर्याप्ततः अंतःस्वरीय त् को द् मे परिवर्तित किया जाता है : **इदि= इति** (III,25), **घादि=घाति**(I,19), **चादुवण्णस्स= चातुर्वर्णेय** (III,49), **जदिणं= यतीनाम्** (II,97),**जधजाद—रूवजादं= यथाजात—रूपजातं** (III,5), **देवदा= देवता** (I,68),**पदि= पति** (I,16), **'मोहादिएहिं'= 'मोहादिकै'**: (II,56),साथ ही दु= तु (II,36); कभीकभी छोड़ दिया जाता है: **अईसय= अतिशय** (I,13),'एयं'= एतत् (III,75), **'घाई'=घाति** (I,1)**'परिणई'= परिणति** (II,77)। जहाँ तक त् के सुरक्षित रखने, परिवर्तन करने या विलोप करने का संबंध है, हस्तलिपियाँ सहमत नही है, जिसे कि अत मे दी गयी पाठान्तरसूची से सरलता पूर्वक देखा जा सकता है। त् की यह अनिश्चित स्थिति (मान) पी.पी. रूपों (पुरुषवाचक सर्वनाम वाले रूपो) को विशेष सीमा तक अस्तव्यस्त कर देता है जो कभी कभी द् के साथ और कभी कभी 'य्' के साथ देखे जाते हैं। विविध पाठो से सामान्य संस्कार (प्रभाव) यह होगा कि जयसेन का ग्रंथ संभवतः महाराष्ट्री प्रभाव में है, क्योंकि कभी कभी वह त् को छोड़ देता है जबकि अन्य हस्तलिपियाँ उसका मृदुकरण करती है। वर्तमान तृतीय पी एस.जी. (प्रथमपुरुष एकवचन) व्युच्छित्ति, ति, प्रायः सदैव दि में परिवर्तित हो जाती है, किन्तु इस बिन्दु पर बाद में और कहा जायेगा। सामान्यतः त्, मूर्धन्य ऋ अथ र् के समीप, सम्भवतः ट् की अवस्था से होते हुए ड् मे परिवर्तित हो जाता है मानो वह संक्रमण के रास्ते मूर्धन्य तत्त्व की हानि की पूर्ति करता है: **पडिवण्णो= प्रतिपन्नः** (II,98), पडिवत्ती= प्रतिवृत्तिः (III,47), **वित्थड=विस्तृत** (I,61), **संवुडो= संवृतः**(III, 40)। मूल **तिष्ठ्** को **चिट्ठ्** द्वारा निरूपित करते है (II,86); हस्तलिपियां ए पी (320) फिर भी, का पाठ चिट्ठंति के लिए तिट्ठंति होगा।

अंतःस्वरीय द् प्रायः सदैव सुरक्षित रहता है: **अप्पदेसो=अप्रदेशः** (II,46), **आदिच्चो= आदित्यः** (I,68), **उप्पादो= उत्पादः** (I,18), **उवदेस= उपदेश** (I,71), **जदि= यदि** (III,23), **जिणोवदिट्ठं= जिनोपदिष्टम्** (I,34), **विसारदा= विशारदाः** (III,63), **सदा** (I,12); यह बहुत दुर्लभ रूप से लुप्त पाया जाता है; **उवएसो= उपदेशः** (II,84).**पाडुब्भवदि** (II,11) में द् से ड् में परिवर्तन का कारण मूर्धन्य सामीप्य है जो पहले त् के विषय में अभ्युक्तिपूर्वक बतलाया गया है; अन्य हस्तलिपियां; फिर भी, इस पाठ को सुरक्षित नहीं रखती है। इस प्रसंग में **ओरालिओ= औदारिकः** (II, 79)दृष्टव्य है।

प्रवचनसार की भाषिका मे केवल मूर्धन्य अनुनासिक है; इस प्रकार **न्** आद्य, मध्यम अथवा

सयुत ण् में बिना किसी अपवाद के परिवर्तित हो जाता है : **जिणक्खादे= 'जिनाख्यातान्'** (III, 64), **णित्वण= निर्वाण** (I,6),**'णेवण्णोण्णेसु'= 'नैवान्योन्येषु'** (I, 28), **मणुब= मनुजः** (II,21)।

अंत.स्वरीय प् को व् में परिवर्तित किया जाता है: **अणोवम= अनुपम** (I,13), **'णिरवेक्खो'= निरपेक्ष** (III, 26); कभी कभी उसे भी प्रतिधारित करते हैं: **घोरमंपारं** (I, 77)।

अंतःस्वरीय ख् को ह् में परिवर्तित करते है : **सुह= सुख** (I, 13,14) **सुहिदा=सुखिताः** (I,73); **काय–खेदं** (III,50) मे स्थिति के अनुसार वह आद्य है। अंत.स्वरीय थ् को कभी कभी ध् मे मृदुकृत किया जाता है और कभी कभी उसे ह् मे परिवर्तित करते है : **कध= कथम्** (II,14), **जधा= यथा** (II,82;III,30), **पुधत्तं= पृथक्त्वं** (II, 14); **जहा= यथा** (I,30), **मणो–रहा= मनोरथाः** (I, 92*9), थ् को **पुढवी** (II,40) मे ढ् में परिवर्तित किया गया है, जो मूर्धन्य सामीप्य के कारण है। सामान्य प्रवृति अंतः स्वरीय ध् को सुरक्षित रखने ही ओर है· **अणेगविधं= अनेकविधम्** (II,32), **अधिग= अधिक** (I,68* 4), **चक्कधर= चक्रधर** (I,73),**पधाण= प्रधान** (III, 49,61), **मधुमंसं= मधुमांसम्** (III,29), **विधाण= विधान** (I,82):कभी कभी वह ह् मे परिवर्तित होता है:, **'अहियं'=अधिकम्** (II,70, हस्तलिपियाँ ए पी असहमत (भिन्न) है।, **पहाण=प्रधान** [I,6,19*1, यहां भी हस्तलिपियाँ भिन्न (विचलित) है], **विविहाणि= विविधानि** (I,74), **साहू= साधुः** (III,52,हस्तलिपियाँ भिन्न हैं)। विविध पाठों से यह स्पष्ट होगा कि कभी कभी जयसेन का ग्रंथ पाठ ह् की ओर प्रवृत्त है। अंतःस्वरीय भ् सामान्यतः ह् मे परिवर्तित हो जाता है: **लहदि= लभते** (II,29),**वसहो वृषभः** (I,26; ळळळ।ट0।**विहव= विभव** (I,6), **सहाव= स्वभाव** (II,24,91), **सुहेण= शुभेन** (I,9;III,46) कभी कभी प्रतिधारित करते हैं : **अणुभागो= अनुभागः** (II,95*4), **अभिभूय** (I,30),**णभो= नभस्**(II,44), **सभाव= स्वभाव** (II,92),

सामान्यतः (किसी संयुक्त मे भी शब्द का) आद्य य् को ज् मे परिवर्तित करते है: जदा= यदा (I,9), **यदि= यदि** (I,11), **जुदो= युतः** (II,95); **अभिजुत्त= अभियुक्त** (III,46); **उवजुत्त= उपयुक्त** (III, 26*17); कभी कभी अनाद्य य् को प्रतिधारित करते हैं: **अदिंदियत्तं= अतीन्द्रियत्वम्** (I,20), **समवायो= समवायः** (I;17); **संपयोगजुदो= सम्प्रयोगयुतः** (I,11) कभी कभी उसे छोड़ देते है: **सुद्धोवओग= शुद्धोपयोग** (I,13)।

सामान्यतः र् प्रतिधारित हो जाता है: **अगारी** (III,50) **अणंतवरवीरिओ= अनन्तवरवीर्यः** (I,19), **देवासुर** (I,6), **परिणामो= परिणामः** (II,88); यह बहुत दुर्लभ रूप से होता है कि र् आद्य एवं अनाद्य हो, और ल् में परिवर्तित हो जाये : **लुक्ख = रूक्ष** (II,73-4), तुलना करिए पालि **लुख (321)** से, ए. एम. जी. **लुक्ख से और लूह से भी,ओरालिओ=औदारिकः** (II,79) तुलना करिए पालि **'उळार'= उदार** हमारा रूप संभवतः अगला विपर्यास (विनिमय) (metathesis) है। कारण की र् के उच्चारण में एक सशक्त मूर्धन्य तत्त्व रहता है, और कारण कि ड्, मूर्धन्य समीप्यता के कारण, ट् में परिवर्तित हो जाता है, हम पाते हैं कि **पडि** को **परि** तथा **प्रति** के साथ अभेदकारी रूप से समान ले लेते हैं और इसलिये **पडिपुण्ण–सामण्णो= परिपूर्ण**

श्रामण्य: (III,14)।

अंत: स्वरीय व को सुरक्षित रखते हैं: विविहो = विविध: (I, 84), सहाव=स्वभाव (II, 24), 'सावय'=श्रावक (II, 50), ध्यान दें 'जियदु' = जीवतु (III, 17, हस्तलिपियाँ ए पी पाठ जीवदु)।

ऊष्म के सम्बन्ध मे केवल दन्त्य, स, स्वीकार्य है: कुसलो= कुशल: (I, 92), दंसण = दर्शन (I, 82* 7), पदेस = प्रदेश(II,46) पेसीसु = पेशीषु (III, 29*18), विसय = विषय (II, 66), सयण = शयन (III, 16).

'य' श्रुति पर समीक्षात्मक अभ्युक्तियाँ– इस अवस्था में यह ध्यान देना आवश्यक है कि प्रवचनसार की भाषिका मे 'य' श्रुति 323 की क्या स्थिति है। 'य'–श्रुति को कुछ परिस्थितियों के अधीन मान्य किया जाता है। यदि कोई व्यञ्जन स्वर को पीछे छोड़ते हुए छोड़ दिया जाये, 'य'–श्रुति उसी स्वर को ग्रहण करती है, इस व्यवस्था पर कि स्वर अ है अथवा आ है : 'आलोयण' = आलोचन (III, 11), 'ओदईया' = औदयिका: (I, 45), 'कम्मरयं' = कर्मरजस् (II, 95), 'लोयालोय' = लोकालोक (I, 23) 'सावय' = श्रावक (III, 50), यह 'य–श्रुति' अ अथवा आ को शेष स्वर रूप न ग्रहण करने पर विकसित नहीं होती है। अइसय =अतिशय (I, 13), दव्वट्ठिएण = द्रव्यार्थिकेन (II, 22), दव्वादिएसु = द्रव्यादिकेषु (I, 83), किन्तु य को 'य' से विभेदित कर। इन परिस्थितियों के अधीन किसी स्वर से युग्मित किया जा सकता है। यदि जिस व्यंजन को संस्कृत शब्द में से छोड़ना हो वह य् स्वयं हो: इंदियेहि= इन्द्रियै: (I, 63) नियदयो = नियतय: (I, 44) विसये = विषयान् (II, 83), विसयेसु= विषयेषु (III, 73),। इस प्रसंग में मुझे विषयान्तर होने की अनुमति दी जाये : 'य' श्रुति मूलत: जैन प्राकृत भाषिकाओं 324की विलक्षणा प्रतीत होती है। हेमचन्द्र, जिनका नियम चण्ड के नियम से स्पष्टतर है, उसका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित बना देते हैं। 'य'–श्रुति के विकास के लिए वे कहते है– (1) संरचक स्वर अ अथवा आ होना चाहिये, और (2) पूर्ववर्ती स्वर भी अ अथवा आ होना चाहिये, अर्थात् अन्य शब्दों में 'य' श्रुति अ – वर्णों (अवर्ण का अर्थ अ और आ) के बीच विकसित हो सकती है, वे यह स्वीकार करते हैं कि फिर भी, उदाहरण 'पियई' = पिबति के द्वारा स्वितीय प्रतिबन्ध कभी कभी उल्लंघित हो जाता है। हेमचन्द के पूर्ववर्ती साहित्य की छानबीन, चाहे अर्द्धमागधी का, जैन शौरसेनी अथवा जैन महाराष्ट्री का हो, वह यह बताएगा कि उसका द्वितीय प्रतिबंध पालित होने की अपेक्षा उल्लंघित अधिक होता है, और ध्वन्यात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिसए प्रथम प्रतिबंध बिलकुल पर्याप्त है। उपर्युक्त प्रतिपादन के अनुसार प्रवचनसार में 'य'–श्रुति की स्थिति, यद्यपि हेमचन्द्र के नियम के साथ पूर्णरूपेण सहमत नही है, तथापि प्राय: पूर्णरूपेण अर्द्ध–मागधी आगम के चलन से सहमत है। वे केवल कुछ आधुनिक सम्पादक ही हैं जो हेमचन्द्र का शब्दश: अनुगमन करने का प्रयत्न करते है। पालि में भी 'य' कभी कभी छोड़े गये व्यञ्जन के स्थान में विकसित होता है: 'वायित'=वादित, 'निय'=निज (325) इत्यादि।

संयुक्त व्यञ्जनों का व्यवहार–संयुक्त व्यञ्जनों के व्यवहार की झलक लेने हेतु, चाहे वे आद्य हों या मध्यम, प्रवचनसार के कुछ प्रकारात्मक उदाहरण लेकर यहाँ एकत्रित किये गये हैं: इत्थी= स्त्री (I,44), गिलाण=ग्लान (III,30) पालि में गिलान, थाग= स्त्यांग (III,20)

छुधा=क्षुधा (III,52) पालि में **खुधा** (326) णाणं =ज्ञानम् (I,19) णिद्ध=स्निग्ध (II,71) भास ने **सिणिद्ध** (327) लिया है, थावर=स्थावर (II,90), फासो (पाठान्तर परसो) =स्पर्श (I,56) भास ने **परिस** (328) लिया है, मंसुग=श्मश्रु (—क) (III,5)। इसके बाद स्वांगीकृत, अनाद्य संयुक्तों के कुछ उदाहरण ध्यातव्य हैं: अज्झत्थ=अध्यात्म (?) (III,73), अट्ठ और अत्थ= अर्थ (I,10,18,26,आदि), अप्पा=आत्मा (I,7;II33)आदा=आत्मा (I,8;II,33) उस्सास=उच्छ्वास (III,38)। अश्वघोष के नाटको के अंशों में विदूषक के मुख में यह **उस्सास** (329) रूप है, और डा. लुइदेर्स (Luders) उसे प्रचीन शौरसेनी का एक रूप कहते हैं। छड्डिया=छर्दिता (III,19) अश्वघोष के नाटको के अंशों में **बिच्छड्ड** (330) रूप आता है, और उसे शौरसेनी अभिलक्षण जैसा माना जाता है; तच्चं=तत्त्वम् (II,16), तच्चण्हु=तत्त्वज्ञ (II, 105),दंसण=दर्शन (II,100) धोव्व (पाठान्तर, धौव्व) = ध्रौव्य (II,8) पक्खीण=प्रक्षीण (I,19) पज्जय और पज्जाय= पर्याय (I,10;II,1), 'पोग्गल' या पुग्गल= पुद्गल (I,34;II,40; II,76) पुव्व=पूर्व (II,47) पालि **पुब्ब**। भास ने **पुरुव** (331) लिया है, तथा हेमचन्द्र शौरसेनी में पुख चाहते है, माहप्पं=महात्म्यम् (I, 51), वच्छलदा=वत्सलता (III,46), वड्ढमाण=वर्द्धमान (I,1), सव्वण्हू= सर्वज्ञ (I,16),संठाण =संस्थान (II,60)। संयुक्त का सरलीकरण, कभी कभी उपलब्ध होता : अरहंत=अर्हन् (I,3), अरिहो=अर्हन् (I,68*3), किरिया=क्रिया (I, 21;II,24,) छदुमत्थ=छद्मस्थ (III,56), दविय=द्रव्य (II, 62), परियंत=पर्यन्त (II,40), 'रयण'=रत्न (I,30) अन्यपाठ **रदण** है: भास ने इन दोनों रूपो को लिया है; (332) वीरिय=वीर्य (I,2), सुहुम=सूक्ष्म (II,75; III, 17* 2, 24* 12; एकबार सुहुम (III, 24*11)।

विभक्ति रूप (समान रूपों वाले शब्दों) – **प्रवचनसार** की भाषिका की रूप –प्रक्रिया सम्बंधी योजना का कुछ बोध होने के लिये, कुछ प्रकारात्मक रूपो को यहाँ ध्यान मे लाया जाता है; पुल्लिंग संज्ञाएं,एकवचन : कर्त्ता– धम्मो (I,7): कर्म–उवदेसं (I,88); करण– कालेण (III,75), गुरुणा (II,7); सम्प्रदान-णिग्गमत्थाए (?) (III,17*1); अपादान–चरित्तादो (I,6, समान रूपो के लिये देखिये II,37); संबन्ध–भावस्स। (II,92); अधिकरण–लोगे (I,68); दाणम्मि (I, 69,)चरियम्हि (I,79) । पालि में इनके रूप **धम्मे**, **धम्मस्सिं** और धम्महि, (333) तथा अशोक की गिरनार पर राज (धर्म), विज्ञप्ति में अधिकरण एकवचन–अम्हि (334) है। बहुवचन : कर्ता –समणा (III,10), इसिणो (I,33); कर्म 'तित्थयरे' (I,2) मोहादी (I, 79); करण–विहवेहिं (I,6), 'ओग्गहादिहिं' (I,59), और कभी कभी बिना अनुस्वार; संबन्ध– सुराणं (I,71), साहूणं (I,4); अधिकरण– सुहेसु (1,62)। नपुंसक संज्ञाएं; एकवचन : दव्वं (I,8); कर्म– जगं (I,29); अधिकरण–जगदि (I,26); बहुवचनः रूवाणि (I,28), लिंगाणि (I,85), स्त्रीलिंग वाली संज्ञाओं के कुछ प्रकारात्मक रूप दृष्टव्य हैं : कर्त्ता एकवचन देवदा (I,68); संपत्ति (I,5); कर्म –एकवचन तण्हं (I,74,); करण– अणुकंपया (III, 51), छुधाए (III,52), णियदिणा (I,43), भासाए (I30), सण्णया (I,87); करण बहुवचन तण्हाहिं (I,75); अपादान एकवचन उवधीदो (III,19); संबन्ध एकवचन इत्थिस्स (III,24*13); संबन्ध बहुवचन इत्थीणं

(I,44) अधिकरण एकवचन उवधिह्मि (III,15), **चेट्ठह्मि** (III,19), **विकघम्मि** (III,15)। व्यञ्जन धातुओं के कुछ प्रकारात्मक रूप दृष्टव्य है : कर्त्ता एकवचन **आदा** (I,66),**णाणी** (I,28), **भगवं** (I,32); कर्म एकवचन **अप्पाणं** (I,33), **केवलिं** (I,33), **आदं** (I,90); **जम्मणा** (III,24*7); संबन्ध एकवचन **अप्पणो** (I,81), **देहिस्स** (I,66)। सर्वनामीय रूपों में से कुछ प्रकारात्मक रूप दृष्टव्य हैं : कर्त्ता एकवचन **एस** (I,1), **जो** (I,7), **सो** (I,7); कर्म बहुवचन **एदे** (I,91), **ते**, **सव्वे** (I,3); अपादान एकवचन **जम्हा** (I,20); **तम्हा** (I,84), **जत्तो** (I,5). **तत्तो** (II,29), **अपादान** बहुवचन **तेहिंदो** (II,90); सबन्ध बहुवचन **तेसिं**, **सव्वेसिं** (I,4,5), स्त्रीलिंग **तासिं** (III,24* 10)।

धातुरूप– धातु के रूपो के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित रूप मिलते है : वर्तमान प्रथमपुरूष एकवचन **पणमामि** (I,1), वंदामि (I,3),मण्णे (II,100); तृतीयपुरुष एकवचन **हवदि** (I,65), होदि (I,18,)पजहदि (II,20), पस्सदि, (I,29), **पेच्छदि** (I,32), **पावादि** (I,88), **पप्पोदि** (III,75); ए एम जी. (अर्द्धमागधी) मे भी **पप्पोति** रूप मिलते हैं, देखिये **उत्तराध्ययन 14**, (14 वर्तमान के तृतीयपुरूष एकवचन के पाठान्तर **पप्पोत्ति** के साथ), तुलना करे पालि **पापुणाति**; **जायदि** (II,27), **गेण्हदि** (I,32), अत्थि (I,53); **करेदि** (I, 52*2), **कीरदि** (II,91), **कुणदि** (I, 89; II,57;III,50); **धरेदि** (II,58), बिभेदि (III, 20*5); जादि (I,15), **झादि** (II,59),**णादि** (I,25,); तृतीयपुरुष बहुवचन **खीयंति** (I, 19*1) **परूवेंति** (I,39); **वट्टंति** (III, 67), **वट्टंते** (I,37); होंति (I,38)। तृतीयपुरुष एकवचन, जैसा उपर्युक्त उदाहरणो मे दृष्टव्य है, आवश्यकीय रूप से **दि** होता है; केवल तीन या चार स्थानों को छोडकर जयसेन के ग्रंथ मे **इ** पाठ है, किन्तु अन्य हस्तलिपियो के आधार पर मैंने उसे **दि** रूप मे संशोधित कर दिया है। गाथा क्रमांक III, 20*5 मे जयसेन ने **इ** को चार बार लिखा है; मैंने उसे परिवर्तित नहीं किया है क्योकि मुझे जयसेन के ग्रथ की अन्य हस्तलिपियो से मिलान करने का अवसर नही मिला; किन्तु पाठ भेदो से देखने मे आया है, कि पी में **दि** पूरे ग्रंथ में है। भविष्य तृतीयपुरुष एकवचन **भविस्सदि** (II,20)। आज्ञार्थक: द्वितीयपुरुष एकवचन **जाण** (II,80,87),**जाणीहि** (II,82), वियाण (I,64); तृतीयपुरुष एकवचन **अभिगच्छदु** (I,90), **पडिवज्जदु** (III,1), **मरदु**, **से= स्यात्** (III,49,50), जो हमारे ग्रथ मे विलक्षणता है; ए एम जी. मे वह **सिया** है किन्तु **से** का आदि प्ररूप श्वेताम्बर आगम के आचारांग मे **हणे** इत्यादि (335) जैसे रूपो मे अनुमानित हो सकता है; विधिलिङ् (इच्छार्थक) तृतीयपुरुष एकवचन के लिये पालि **लभे** (336) से तुलना करिये।

क्रियामूलक व्युत्पत्तियाँ– कुछ प्रकारात्मक वर्तमानकालिक कृदन्त (शतृ,शानच्) ये हैं: **अभोज्जमाणो =अभवन्** (II,21), **उवदिसदा=उपदिशता** (II,5), **परिणमदो=परिणममानस्य** (I,21), **9ळळ।खय0।भवं =भवन्** (II,14,20), **वट्टंते=वर्तमानान्** (I,3),**9ळळ।टझघ0** समान्यत. भूतकालिक कर्मवाचककृदन्त (क्त) संस्कृत रूपों के अशुद्ध प्रयोग हैं, अंत:स्वरीय **द** का प्रतिधारण अथवा अन्यथा की अनिश्चितता से ये रूप बड़ी सीमा तक अस्त व्यस्त हो जाते हैं; कुछ प्रकारात्मक रूपो को यहाँ दिया जाता है:**अपरिच्चत्त=अपरित्यक्त** (II,3), **उदिण्ण=उदीर्ण** (I,75) **गद** और **'गय'=गत** (I,50,31,) **जुत्त=युक्त** (I,70), **णिव्वाद =निर्वृत** (I,82),

धोद=धौत (I,1), भणिद और 'भणिय' (II,32; I,34), समारद्ध= समारब्ध (II,32), संछण्ण=संछन्न (I,77), सिलिट्ठ=शिलष्ट (II,96)। क्रियार्थक संज्ञा (क्त्वा,ल्यप्) के कुछ प्रकारात्मक रूप ये है: किच्चा=कृत्वा (I,4,82,), पडुच्च=प्रतीत्य (I,50); खित्ता=क्षिप्त्वा (III,20*5), चत्ता=त्यक्त्वा (I,79;II,98), दत्ता=दत्त्वा (III,29*20),दिट्ठा=दृष्ट्वा (III,52,61;I,92*8) पृष्ट्वा के लिये आचारांग में पुट्ठा (337) से तुलना करें; आपिच्छ=आपृच्छ्य (III,2), 'आसेज्ज'=आसाद्य (I,5;II,91,आसिज्ज III,2 पाठ भी); अभिभूय (I,30; II,25), उवलब्भ =उपलभ्य (I,88), 'पणमिय' =प्रणम्य (III,2), पप्पा=प्राप्य (I,65 आदि II,77-8) पप्पा रूप को अपनी विशंतिका 16,16 मे हरिभद्र द्वारा उपयोग मे लाया गया है: साथ ही उसका उपयोग ए. एम. जी. (अर्द्धमागधी) आगम में भी हुआ है, देखिये उत्तराध्ययन,36,9, जाणित्ता=ज्ञात्वा (II,102) णमंसित्ता नमस्कृत्य (III,7),निरुंभित्ता (संभवतः रुंध और रुब्भ (338) के मध्य संभ्रान्ति)=निरुध्य (II,104); सुणिदूण=श्रुत्वा (I,62) 'भविय' =भूत्वा (I,12;II,20),खवीय' =क्षपयित्वा (II,103)। क्रियार्थक प्रकार (तुमुन्) के कुछ प्रकारात्मक रूप ये हैं : देदुं=दातुम् (II,48), णादुं =ज्ञातुम्(I, 40, 48) भोत्तुं=भोक्तुम् (III, 29*20)। अपने प्रसंगो में पठित निम्नलिखित रूपों से प्रतीत होता है कि भूतकालिक कर्मवाचक कृदन्तो का उपयोग भूतकालिक कर्तृवाचक कृदन्तो के लिये किया गया है. उद्दिट्ठा =उद्दिष्टवन्त (III,24), कम्ममेवुत्ता=कर्मैवोक्तवन्तः (I,42), समक्खादा=समाख्यातवन्तः (II,6) विध्यर्थक कर्मवाचक कृदन्त (तव्य, अनीय,) अथवा (necessatives) के प्रकारात्मक रूप ये है : अब्भुत्थेय= अभ्युत्थेय (III,63), कायव्व'=कर्तव्यं (I,67;III,12) णेय =ज्ञेय (I,20), पणिवदणीय=प्रणिपतनीय (III,63), मुणेदव्वो=मन्तव्यः (I,8, II,2. 39), समधिदव्व=समध्येतव्य (I,86), संखवईदव्व' =संक्षपयितव्य (I,84)।

निपात इत्यादि–निपात : अ (I,85),'य' (I,3); जहां(I,30) जधा (II,82;III,30), जध (II,45); तह (I,4), तहा (I,53), तध (II,6;III,21); पुण (I,2) पुणो (I,17); खलु (I,7) खु (II,10); इति (II,5,6) इदि (II,99;III,4), त्ति (अनुस्वार के पश्चात्) (I,36), त्ति (I,8) त्ति के उपयोग के संबंध मे निम्नलिखित उदाहरण पर ध्यान दिया जाये जिसमें त्ति पूर्वगत व्युच्छित्ति से विलग होती दिखाई देती है: तम्मय त्ति (I,8) परोक्ख' त्ति (I,58), दव्व त्ति (I,87), संग त्ति (III,24); दु (I,18; II,30) वि (I,22), पि (अनुस्वार के पश्चात्) (III,3); हि (II,24); व (I,27), वा (I,20): कहं (I,25): कधं (I,57;II;21;III,21), किह (II,59;III,58), किध (I,49; III,21); व (III,18), व्व (I,44),तावदि (I,70), 'च्चिय' (III,74), जदि (III,68); किल (III,29*19 पाठान्तर किर)।

संख्यात्मक और प्रकारात्मक शब्द–कुछ संख्याएं ये हैं: एग (I,48), 'एक्क' (II,10,49), दुग (II,49), चदु (II,55); पंच (II,54*3), कुछ प्रकारात्मक शब्द, जो इसके पहले उदाहरण रूप मे नहीं दिये गये हैं यहाँ ध्यान देने योग्य हैं: जाणणा=ज्ञप्तिः (I,34) जिदिंदो=जितेन्द्रियः (III,4) जुगवं=युगपत् (I,47), जोण्हं = जैनम् (I, 51, 88, III, 6,एक

बार पाठ '**जेण्हं**' है), **दुगुंछा**=जुगुप्सा (III, 24* 9) पालि **जिगुच्छा** से तुलना करिये।

प्राकृतों के मध्य भाषिका का स्थान– इस व्याकरणीय सर्वेक्षण से प्राकृतभाषिकाओं की योजना में प्रवचनसार की भाषिका की स्थिति को परिभाषित करना संभव है। वस्तुतः इस भाषिका में पूर्णरूपेण प्राकृतों में रहने वाले समान अनेक अभिलक्षण हैं, जैसे मिश्रित ऐ तथा औ का तथा स्वरों ऋ और ऌ की हानि, अंतःस्वरीय व्यञ्जनों के परिवर्तन की ओर सामान्य प्रवृत्ति, तीन ऊष्मों को ह्रासित कर एक ऊष्म लाना, अनुनासिकों को ह्रासित करना, और जब विश्लेषण द्वारा सरलीकृत न हो तो संयुक्त को तद्रूप (स्वांगीकरण) करने की प्रवृत्ति होती है। '**मेत्त**' **विहूण**, **बुद्ध** इत्यादि जैसे शब्दों को प्रायः सभी में पाया जा सकता है। श्वेताम्बर आगम की ए एम जी. (अर्द्धमागधी) के साथ निम्नलिखित का समान गुण है: स्वर परिवर्तन के सम्बन्ध में और निम्नलिखित शब्दों के परिणामी रूप के सम्बन्ध में: **इड्ढी**, **रसी**, '**ओरालिय**', **ओहि**, **दोस**, '**निसेज्जा**', **पगड**, **बलहो** (अर्धमागधी में भो), वेउव्विओ, संवुडो आदि। इनमें से कुछ श्वेताम्बर आगमोत्तर साहित्य की जैन महाराष्ट्री में पाये जाते हैं, कारण केवल यह है कि जे एम (जैन महाराष्ट्री) मे ए एम जी. के अनेक अभिलक्षण ले लिये गये हैं। **पगद**, **पुघत्त** आदि जैसे रूपों में शौरसेनी की पुट है।

विशेष रूप से विरामो जैसे अंतःस्वरीय व्यञ्जनों के साथ किया गया विवेचन अत्यंत अनिश्चित लक्षणवाला है, सामान्य प्रवृत्ति मृदुकरण या प्रतिधारण की ओर है, यह तथ्य (घटना) ए एम जी आगम तथा शौरसेनी की प्राचीन रचनाओं में बिलकुल साधारण है, भास की शौरसेनी मे अंतःस्वरीय व्यञ्जनों का प्रतिधारण और मृदुकरण अभी भी वैकल्पिक है, जबकि कालिदास की शौरसेनी में छोड़ने की ओर प्रवृत्ति है। स्मरण रहे कि बाद के दिनों में (कालान्तर मे) श्वेताम्बर आगम पर महाराष्ट्री का सशक्त प्रभाव पड़ा है, क्योंकि महावीर के 980 वर्ष पश्चात् हुई वलभी वाचना के समय से आगम पश्चिम भारत मे निर्धारित किया गया, परिपोषित किया गया, प्रशिक्षित किया गया, प्रतिलिपि रूप में तैयार किया गया तथा अध्ययन का विषय बना यह विशेषकर गुजरात और काठियावाड़ में हुआ। तिस पर भी **अणेग**, **उदही**, **लोगालोगे**, **विभाग** आदि शब्दों को आगमिक ग्रंथों के किसी भी पृष्ठ पर देखा जा सकता है, और वे ए एम जी. (अर्धमागधी) के मूलभूत अ–महाराष्ट्री (महाराष्ट्री से इतर) तत्त्व को सूचित करते है। **क्** का मृदुकरण ग् के रूप मे शौरसेनी घटना का मात्र एक विस्तार है जिसमें त् और थ मृदुकरण द् और ध् के रूप में वैयाकरणों (व्याकरणाचार्यों) द्वारा सामान्यीकरण हुआ। आगम की ए एम जी. (अर्धमागधी) में ग् का प्रतिधारण बिल्कुल सामान्य है। **च्** और **ज्** का प्रतिधारण सामान्य महाराष्ट्री के साथ सशक्त वैषम्य प्रदर्शित करता है। **त्** का मृदुकरण जो प्रायः सर्वत्र रूप से **प्रवचनसार** में उपयोग में लाया गया है विलक्षण रूप से शौरसेनी है और उसे वैयाकरणों (व्याकरणाचार्यों) द्वारा मागधी तथा अन्य भाषिकाओं में विस्तृत किया गया है, इसके परिणाम स्वरूप वर्तमान तृतीयपुरुष एकवचन व्युच्छित्ति आवश्यकीय रूप से दि होती है, जो समालोचक संपादकों के अनुसार ए एम जी. ग्रंथों में इ है, यद्यपि शास्त्र–सम्मत मत वाले कुछ सम्पादकों द्वारा ति सुरक्षित रखेंगे। दंत्य अनुनासिक का प्रवचनसार में दिया गया व्यवहार दृष्टव्य है। वह सर्वत्र रूप से मूर्धन्य कर लिया जाता है चाहे आद्य हो, मध्यम हो अथवा संयुक्त हो, यह शौरसेनी सम्मत

है। इस बिन्दु पर प्राकृत के वैयाकरणों की ओर ध्यान देने पर, वररुचि अनपवादरूप से मूर्धन्यीकरण चाहते हैं, जबकि हेमचन्द्र कहते हैं कि यदि दंत्य आद्य हो तो उसे प्रतिधारित किया जाये। ए एम जी. (अर्धमागधी) के व्यवहार में ध्यान देने पर, हस्तलिपियां कभी सम्मत नहीं हैं, किन्तु वेबर (Weber) से लेकर वैद्य तक 339, समालोचक विद्वानों ने किसी शब्द के प्रारम्भ में दंत्य होने पर उसे प्रतिधारित करने की वास्तविक परिपाटी उत्पन्न कर ली है, और उसे अन्यत्र मूर्धन्य रूप में परिवर्तित करने की व्यावहारिक रूढ़ि बना ली है। फिर भी णं के विषय में अपवाद किया जाता है। 340 संयुक्त न् न् अथवा ण् ण् के लिए डा. जैकोबी (Jacobi) का नियम (341) है कि यदि संस्कृत मूल में ण् हो तो ण् ण् को अधिक मान दिया जाना चाहिए अन्यथा न् न् को, किन्तु यह अवश्य कहना चाहिए कि डा. जैकोबी ने अपने चलन को अति–विस्तृत कर दिया है, जब कि वे सव्वन्नू को मुद्रित करते हैं, जो ध्वन्यात्मक आवश्यकता का विषय होने के कारण सव्वण्णू होना चाहिए 342। प्रवचनसार की हमारी हस्तलिपियाँ सर्वत्र ण् को अधिमान्यता देने में प्राय: सम्मत हैं, और समांगरूप से अनुगमित हुआ है। कभी–कभी ध्, घ्, भ् प्रश्वासित व्यञ्जनों का व्यवहार कभी–कभी ए एम जी. और कभी–कभी शौरसेनी के साथ सम्मत रहता है। '*य*'–श्रुति की घटना व्यावहारिक रूप से वही है जो ए एम जी. (अर्धमागधी) आगम में है, यद्यपि जे एम मे, जैसा आधुनिक संस्करण मे देखा गया है, हेमचन्द्र के नियमों का कड़ाई से पालन की ओर प्रवृत्ति है। ए एम जी. में ऐसी अनेक स्थितियाँ हैं जहाँ र् को ल् में परिवर्तित करते हैं, किन्तु हमारे ग्रन्थ में र् को प्रतिधारित करने की ओर प्रवृत्ति है, यद्यपि हमारे पास र् को ल् में परिवर्तित करने की कुछ स्थितियाँ हैं, यह शौरसेनी के साथ अधिक सहमत है।

संयुक्त व्यञ्जनों के व्यवहार तक पहुँचने पर, **आदा** (ए एम जी. में 'आया'), **गिलाण**, **णिद्धो**, **थावर**, **सुहुम**, आदि जैसे प्रकारात्मक शब्द ए एम जी. आगम में बिलकुल सामान्य हैं। प्रवचनसार में हमें **पुव्व** प्राप्त होता है, जो हेमचन्द्र के अनुसार शौरसेनी में वैकल्पिक रूप से **पुरव** है। रूप प्रक्रिया विज्ञान में कर्ता, एकवचन व्युच्छित्ति अ–धातुओं सम्बन्धी ओ है, जो शौरसेनी से तथा ए एम जी. (अर्धमागधी) से आंशिक रूप से सहमत है। अधिकरण एकवचन में ए, **म्मि** **या–अंमि और म्हि अथवा–अंहि**, ए और **–म्मि** ए एम जी. में सामान्य हैं। यह बिन्दु विचाराधीन है, चाहे शौरसेनी में म्मि सम्भव हो, उसे हेमचन्द्र द्वारा निषिद्ध नहीं किया गया, वे केवल पश्चात्वर्ती मार्कण्डेय जैसे वैयाकरण हैं जिन्होने शौरसेनी में उसे स्वीकार नहीं किया है। प्राकृत के वैयाकरणों की श्रेष्ठता की किंचित् भी अवमानना न करते हुए, मै कह सकता हूँ कि वह एक निर्दोष पुरा प्रचलन (कालदोष) है कि मार्कण्डेय को राजशेखर जैसे लेखक के लिए प्राकृत के सम्बन्ध में निर्णायक होना पड़े, यद्यपि कनाऊ (Konow) जैसे विख्यात प्राकृतविद् (विद्वानों) ने इस दृष्टि को ग्रहण किया है। यदि प्रचलन (उत्तर हस्तलिपियों द्वारा प्रदत्त साक्ष्य से) और ध्वन्यात्मक संभाव्यता को अनुचिंतन में लिया जाता है, तो –म्मि शौरसेनी में असम्भव नहीं है। हमारे ग्रंथ में म्हि अतिरिक्त रूप में है, उसकी वर्तनी (हिज्जे) –अंहि रूप में है जैसा ऊपर पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, गिरनार में अशोक की राज (धर्म) विज्ञप्ति में वह पाया गया है। जगत् का अधिकरण एकवचन रूप **जगदि** मात्र सशक्त संस्कृत प्रभाव को परित्यक्त करता है। आ में अंत होने वाली स्त्रीलिंग संज्ञाओं के लिये करण एकवचन व्युच्छित्ति (पर्यवसान) ए में होती है, जो

बिलकुल सामान्य है, किन्तु कभी—कभी अणुकंपया जैसे (शब्द) में संस्कृत रूप प्रतिधारित रहता है। अधिकरण एकवचन रूपों पर ध्यान दिया जाना उचित है, क्योंकि आ—धातुओं सहित कुछ स्त्रीलिंग संज्ञाएं अ—धातुओं वाली पुल्लिंग संज्ञाओं के समान व्यवहृत होती है : **विकथा** से **विकधम्मि**, **चेष्टा** से **'चेट्ठम्मि'** इत्यादि, स्त्री का संबन्धकारक एकवचन **इत्थिस्स** होता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, स्त्रीलिंग संज्ञाओं के रूप केवल हमारे ग्रंथ की विलक्षणताएं हैं। सर्वनामिक रूप से पहुँचने पर (ज्ञात होगा कि) तद् का अपादान बहुवचन तेहिंदो जो प्रतिकार सहित शौरसेनी है।

वर्तमान तृतीयपुरुष एकवचन व्युच्छित्ति (समाप्ति) निर्णायक रूप से शौरसेनी है। भविष्य तृतीयपुरुष एकवचन का रूप भविस्सदि हेमचन्द्र के मानक के अनुसार शौरसेनी नहीं है। क्रियार्थक संज्ञा तथा प्रयोजनीय संज्ञार्थक क्रिया के रूप ए एम जी. अथवा शौरसेनी के साथ सहमत होते है, यदि नहीं, तो वे ध्वन्यात्मक भ्रष्ट (अपभ्रंश) प्रयोग के मान्य नियमों के अनुसार, प्रत्यक्षतः अथवा कूट सादृश्य द्वारा, संस्कृत रूपों की अंशुद्धियाँ (भ्रष्ट प्रयोग) हैं।

ए एम जी. (अर्धमागधी) और शौरसेनी के बीच इस अनिश्चय के अतिरिक्त प्रवचनसार की प्राकृत भाषिका पर कार्यकारी एक और सशक्त प्रभाव है और वह संस्कृत का है। हमे **जाणण्णवि**, **तण्ण तव्विवरीदो** इत्यादि जैसे रूप मिलते हैं, जो सूचित करते हैं कि ग्रंथकार के मस्तिष्क में संस्कृत के मुहावरो का विशेष प्राधान्य है। यह उस प्रवृति को भी स्पष्ट करता है जो कभी कभी च् अंतःस्वरीय को प्रतिधारित करती है और (इसी प्रकार) प् को भी **घोरमपारं** जैसे पदबंध मे प् तक को (प्रतिधारित करती है)। यहॉ तक कि तत्काल निर्मित संस्कृत के रूपो मे ध्वन्यात्मक भ्रष्टता (अपभ्रंशता) आ जाती है और आयातित की जाती है, उदाहरणार्थ, **जगदि**, **दिवा** (ए एम जी. में 'दिया'), णादा (I, 42) **सण्णया**, जो अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है। भूतकालिक पूर्ण कृदन्त तथा क्रियार्थक संज्ञा के रूप बतलाते है कि वे संस्कृत के भ्रष्ट (अपभ्रंश) रूप है। कुछ मूल आवश्यकीय रूप से अपना आत्मनेपद रंग प्रतिधारित करते है। **जाणयंति**, **पप्पोदि** और **बिभेदि** जैसे क्रियात्मक रूप इसी निष्कर्ष को प्रमाणित करते हैं।

इस प्रकार, संक्षेप मे, प्रवचनसार की यह भाषिका श्वेताम्बर आगम की ए एम जी. (अर्धमागधी) भाषिकी के अनेक अभिलक्षण उत्तराधिकार रूप मे प्राप्त करती है, उसे शौरसेनी की पृष्ठभूमि मे पुष्ट किया गया है और उस पर संस्कृत का सशक्त प्रभाव कार्य कर रहा है।

इस भाषिका के नाम पर सर्वेक्षण (विचार प्रकार)— तब प्रवचनसार की इस भाषिका (dialect) को कौनसा सार्थक नाम दिया जा सकता है ? पिशेल (Pischel) 343 भण्डारकर 344 द्वारा उद्धृत प्रवचनसार और 'कत्तिगेयणाणुप्पेक्खा' की कुछ गाथाओ के विश्लेषण से असाधारण ग्राह्यता और अर्थगर्भिता के साथ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह भाषिका जैन शौरसेनी कहलायी जाना चाहिए। यह नामकरण पूर्वोदाहरण के साथ पूर्ण सहमत था कि श्वेताम्बरो के उत्तर—आगमिक साहित्य की भाषिका जिसमें अर्धमागधी और महाराष्ट्री के अधिमिश्रण का प्रतिनिधित्व था, डा. जैकोबी (Jacobi) द्वारा जैन महाराष्ट्री कहलायी। किन्तु कुछ जर्मन विद्वानों ने इस पदनाम, जैन शौरसेनी, की परिशुद्धता पर प्रश्न उठाया है। दिल्ली, सन् 1928 में दिये गये अपने व्याख्यान में 345 डा. वाल्थेर शूब्रिंग (Walther Schubring) ने इस तथ्य का प्रासंगिक निर्देश दिया कि मूलाचार आदि जैसे दिगम्बर ग्रंथ व्याकरणीय व्याख्या के लिए

रुचिकर हैं जैसा कि उनके शिष्यो मे से एक ने दिखलाया है, जो मूलाचार एवं अन्य महत्त्वपूर्ण दिगम्बर ग्रंथों के अनुसंधान से सम्बन्धित था, और निष्कर्ष मे उन्होंने अभ्युक्ति दी है: 'भविष्य हमें सिखायेगा कि क्या पिशेल (Pischel)द्वारा प्रस्तावित अभिप्राय, नामतः, जैन शौरसेनी, यथेष्ट दिखाई देगा।' ऐसा प्रतीत होता है कि डा. शूब्रिंग उस बिन्दु पर संयमशील है। जैसा कि डा. शूब्रिंग मुझे अपने पत्रो में से एक मे सूचित करते है वे यहाँ अपने शिष्य डा. वाल्टेर देनेके (Walter Denecke) द्वारा 1922 मे लिखित 'दिगम्बर ग्रंथो पर अप्रकाशित शोध प्रबन्ध की ओर निर्देश करते है। यद्यपि शोधप्रबन्ध का पूर्ण ग्रंथ छपा और प्रकाशित नही हुआ था, प्रबन्धकार ने स्वयं प्रोफेसर जैकोबी (Jacobi) के लिए अर्पित जुबिली वाल्यूम 346 मे उसका एक सार प्रस्तुत किया है। दिगम्बर ग्रंथो पर किये गये अपने अवलोकनो मे डा. देनेके ने कुछ दिगम्बर प्राकृत ग्रंथों के सम्बन्ध मे विविध बिन्दुओ पर विवचेना की है, जैसे वट्टकेर का मूलाचार, कुमार का 'कतिगेयाणुप्पेक्खा', और कुन्दकुन्द के छप्पाहुड, समयसार, और पञ्चास्तिकाय, इस ग्रंथों की केवल भाषा पर ही डब्लू. देनेके ने अपना ध्यान केन्द्रित किया है, और उनके उदाहरण पूर्णरूप मे से अधिकाश छप्पाहुड मे से लिये गये है। सम्पूर्ण रूप से, देनेके (Denecke) द्वारा निकाले गये भाषिकीय तथ्य व्यवहार रूप से वैसे ही है मेरे द्वारा जो प्रवचनसार के सम्बन्ध मे ऊपर मेरे द्वारा उल्लिखित है जिनमे केवल एक अपवाद है। उन्होंने अभ्युक्ति दी है कि इन ग्रंथो की भाषा अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री द्वारा प्रभावित है जो उस तक तथा शौरसेनी तक पहुँचती है, स्वयं उन्हीं के द्वारा दिये गये उदाहरणो से वे संस्कृत के प्रभाव को स्वीकार करने मे संकोच नहीं करेगे। केवल एक पक्ष, जहां हमारे तथ्य सहमत नही है, यह है कि वे कुछ अपभ्रंश रूपो को छप्पाहुड और कत्तिगेयाणुप्पेक्खा मे प्राप्त करते है, और चूंकि उन्होने प्रवचनसार से कोई अपभ्रंश रूपों को नहीं दिया है, मेरे निष्कर्ष अप्रभावित रहते है। देनेके द्वारा अवलोकित अधिकांश अपभ्रंश रूप छप्पाहुड मे से है, और वे कारण कि छप्पाहुड मात्र मे ही इतने अधिक अपभ्रंशरूप क्यो पाये जाते है ये है–ये पाहुड सरल है और इसलिये बहुधा पढ़े जाते है– प्राचीनकाल मे टीकाओ की भी आवश्यकता नही होती थी, वह केवल एक टीका जो लिखी गयी प्रतीत होती है और प्राप्य है वह श्रुतसागर की है, जो 16 वीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ मे हुए थे 347, अतः पाहुडो की रचनाएं यहाँ वहाँ भाषिकीय परिवर्तन सह चुकी है जबकि वे मौखिक प्रसारण और अध्ययन का विषय रही और वहाँ अपभ्रंश रूप है क्योंकि दिगम्बरो द्वारा अन्य भाषाओ के साथ–साथ अपभ्रंश भाषा भी परिष्कृत हुई थी। यह कार्य या तो परम्परागत रूप से दायरूप (ग्रहण करने रूप) था अथवा जहाँ–जहाँ वे गये, वहाँ–वहाँ विभिन्न स्थानो से ग्रहण करने रूप था।

देनेके की दृष्टि समालोचित, और सार्थक नाम के रूप में जैन शौरसेनी– स्वयं द्वारा अनुचिंतित भाषिका सम्बन्धी तथ्यो के प्रकाश में देनेके कहते है कि यह दुर्भाग्यपूर्ण बात थी कि पिशेल (Pischel) ने इस भाषिका को जैन शौरसेनी नाम दिया, कि पिशेल का प्रतिपादन और निष्कर्ष त्रुटियो से मुक्त नहीं है, और उनके (देनेके के) अभिमत के अनुसार 'दिगम्बर भाषा' नाम अधिक अच्छा पद–नाम है। मुझे समझ में नहीं आता है, कि जब पिशेल तथा उनमें व्यावहारिक रूप से सहमति है और उनके परिणामो और मेरे परिणामों में भी (व्यावहारिक रूप से सहमति है, केवल छप्पाहुड के अपभ्रंश अवयवो को छोड़कर), तब देनेके जैन शौरसेनी पदनाम के प्रति क्यो

आक्षेप प्रकट करते हैं। कोई भी नाम दिया जा सकता है, जिस प्रकार कि डा. जैकोबी (Jacobi) ने जैन महाराष्ट्री को एक बार जैन सौराष्ट्री 348 कहना नियत किया था, किन्तु किसी को भी पहले यह सिद्ध करना चाहिये कि जिस नाम का पहले सुझाव प्रस्तुत हुआ है वह गुणार्थक रूप से दोषपूर्ण है, तथा (नया) प्रस्तावित नाम अधिक सार्थक है। जैसी ऊपर टिप्पणी दी जा चुकी है, पिशेल द्वारा दिया गया पद–नाम बिना पूर्ववर्ती के नहीं हैं, और जैन शौरसेनी नाम इस भाषिका के प्रमुख लक्षणों को सार्थक बनाने में समर्थ है। जैन शब्द यह दिखलाता है कि वह प्राथमिक रूप से जैन ग्रंथकारों द्वारा व्यवस्थित की गयी और यह कि उसमें जैनों की आगमिक भाषा के परम्परागत नाम, अर्द्धमागधी, के कुछ भाषिकीय अभिलक्षण गर्भित हैं, शौरसेनी शब्द दिखलाता है कि उसमें वैयाकरणों की शौरसेनी तथा नाटकों की भी शौरसेनी के साथ कुछ समानन्तरताएं हैं: और आगे, शौरसेनी पारिभाषिक शब्द संस्कृत के प्रभाव को ध्वनित (इंगित) करने हेतु पर्याप्र विस्तृत है, क्योंकि संस्कृत नाटकों की शौरसेनी संस्कृत मुहावरे की प्रचलित पद्धति में गूंथी (ढाली) गई है। इस प्रकार पिशेल द्वारा प्रदत्त पद–नाम पर्याप्त रूप से सार्थक है, और (उसके लिए) किसी भी नये नामकरण की आवश्यकता नही है। देनेके द्वारा प्रस्तुत नया नाम सार्थक और बोधगम्य नही है। दिगम्बरी भाषा नाम, पहली दृष्टि में, प्राकृत भाषिका को सूचित नहीं करता है, वह भाषिका की गहरी शौरसेनी पृष्ठभूमि की उपेक्षा करता है; और वह इस तथ्य की दृष्टि से भ्रामक है कि दिगम्बर ग्रंथकारों ने विभिन्न कालावधियों में तथा साथ–साथ, विभिन्न भाषाओ और भाषिकाओं को जिन्हें हम विवेचित कर रहे हैं ग्रहण किया है। ये संस्कृत, तमिल, कन्नड, इत्यादि रहीं हैं। इस प्रकार देनेके द्वारा प्रस्तावित पद–नाम सार्थक नही है, क्योंकि उसमें अनावश्यक सामग्री है और वह भाषिका की महत्वपूर्ण विशेषताओं (लक्षणों) को बहिष्कृत करता है। मुझे जानकारी है कि यह जैन शौरसेनी,प्रवचनसार की गाथाओं की भाषिका, पश्चात्वर्ती दिनों में महाराष्ट्री और अपभ्रंश के प्रभाव में आई है, किन्तु यह वर्तमान विवेचन के कार्य–क्षेत्र से बाहर है। निष्कर्ष रूप में, पिशेल द्वारा दिया गया पद–नाम, नामतः, जैन शौरसेनी, पर्याप्त रूप से सार्थक है; और उसे मात्र परिवर्तन ही करने के लिए परिवर्तित करना आवश्यक नहीं है।

जैन शौरसेनी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि– क्या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और परिस्थितियों की रूपरेखा देना संभव है जो जैन शौरसेनी भाषिका को सुव्यवस्थित रूप देने के लिये उत्तरदायी रही होगी ? महावीर के निर्वाण के शताब्दीयुग्म पश्चात् मगध मे हुए, कहे जाने वाले गंभीर दुर्भिक्ष के परिणामस्वरूप, भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन समुदाय का एक भाग दक्षिण की ओर प्रवास कर गया; 349 और यह दक्षिण भारत में जैनधर्म का ऐतिहासिक प्रारम्भ बिन्दु रहा है। वे जैन जो दक्षिण की ओर प्रवास कर गये, वे सुविधापूर्वक अपनीगृहीत साधुचर्या का पालन कर सकते थे, किन्तु वे जो पीछे रह गये, बड़ी सीमा तक,दुर्भिक्ष के कठिन दिनों के कारण, शिथिल हो गये। दुर्भिक्ष की समाप्ति के पश्चात्, उत्तर में साधु समुदाय के सदस्यों द्वारा एक संघ संयोजित किया गया ताकि पवित्र आगम को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके, क्योंकि ऐसे अनेक साधु जो पवित्र सिद्धान्त श्रुति के निधान थे, वे दुर्भिक्ष से उत्पीड़ित हो गये थे। वह पाटलीपुत्र था जहाँ आगम को रूप दिया गया, क्योंकि वह उन विविध साधुओं से प्राप्य था जो दुर्भिक्ष से जीवित बचे रह गये थे। यह आगम, स्वाभाविक रूप से, पूर्णतः उनके द्वारा गढ़ा गया जो उत्तर में शेष रहे थे और जो दृष्ट रूप से अपने

साधु चारित्र में शिथिल हो गये थे,(और इसलिए) उनके द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया जो दक्षिण की ओर प्रवास कर गये थे। यहाँ जैन मत को श्वेताम्बर और दिगम्बर नामक सम्प्रदायों के विभाजन रूप दृष्ट बीज है, जैसे कि वे तत्पश्चात् प्रसिद्ध हुए। श्वेताम्बरों की भूमिका के लिये वह एक व्यावहारिक चरण था, कि उन्होंने उतने पवित्र ग्रंथों को पुनः उद्धार करने का प्रयत्न किया जितना तब की प्रचलित परिस्थितियों में सम्भव था; और वह यह आगम है जो महावीर के निर्वाण के पश्चात् 983 वर्ष में वलभी में देवर्द्धिगणि के अधीन, विविध हेरफेरों (परिवर्तनों) से अग्रसर होता हुआ लिपिबद्ध हुआ जैसा कि वह आज है। दिगम्बर समाज यतार्थ आगम के लिए अपनी उत्कंठा में, न तो उसका स्वयं पुनः उद्धार कर पायी, न ही वे पाटलीपुत्र संघ द्वारा आधार रूप दिये गये आगम को स्वीकार कर सके, जिसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण समाज पवित्र आगम को खो बैठा। किन्तु, जब हम अध्ययन की प्राचीन विधि पर विचार करते हैं, कि गुरु और शिष्य हस्तलिपियों आदि जैसे ज्ञान के भौतिक उपसाधनों की अपेक्षा अपनी स्मृतियों पर अधिक विश्वास रखते थे, यह कल्पनीय है कि दक्षिण में दिगम्बरों के मध्य आध्यात्मिक मार्गदर्शक गुरुओं ने इस अवसर पर इस ज्ञान का उपयोग किया होगा जिसका उन्होंने अपने गुरुओं से अध्ययन किया होगा; और दक्षिण में समुदाय की धार्मिक आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु उन्होंने पवित्र आगम रूप नहीं, (किन्तु) अल्प प्रबंधों में रचनायें की होंगी, जो पवित्र आगम, जैसा कि उन्होंने उक्त पद को समझा, पुनरुद्धार के परे विलुप्त हो गया था, किन्तु जो मात्र स्मृति—संकेतचिन्हों के रूप में था जिसे उन्होने परम्परागत रूप से अपने गुरुओं से प्राप्त किया था; और वह इस वर्ग का साहित्य है जिसमें पुष्पदन्त, भूतबलि, वट्टकेर,-कुन्दकुन्द और शिवार्य की कृतियाँ निहित हैं। उनके ग्रंथ ऐसी भाषा मे लिखे गये है। जिसमें ए एम जी (अर्धमागधी)के अनेक भाषिकीय लक्षण उत्तराधिकार रूप में प्राप्त हुए हैं, जिसे (अर्धमागधी) में मूल रूप से परम्परागत आगम सुरक्षित था; इन ग्रंथकारों की कृतियों तथा श्वेताम्बर आगम की रचनाओं के बीच क्यों हमें अनेक उभयनिष्ठ धारणाएं ही नहीं, उभयनिष्ठ गाथाएं (350) उपलब्ध हैं; ये उभयनिष्ठ गाथायें यह संकेत नहीं करती हैं कि वे पारस्परिक ग्रहण रूप हैं, किन्तु वे दोनों की एक उभयनिष्ठ विरासत सिद्ध करती है। ये बातें स्पष्टतः जैन शौरसेनी में ए एम जी (अर्धमागधी) अवयवों को समझाती है । सशक्त शौरसेनी आभास हैं। मध्यभारतवर्ती प्रभाव के कारण होना चाहिये, (351)और चूंकि दिगम्बरों ने अपनी साहित्यिक गतिविधियाँ सुदूर दक्षिण में निरंतर रखी थीं, उनकी भाषा, कम से कम दीर्घ काल तक महाराष्ट्री के प्रचण्ड अभियान से रोधक्षम (असंक्राम्य) रह सकी। यह कि दिगम्बर शौरसेनी के प्रति पक्षपाती थे। उस लेखन शैली से भी स्पष्ट है जिसमें उन्होंने प्राकृत के प्रभाव के अधीन कन्नड़ शब्दावली को समृद्ध किया और जब हम कन्नड में सक्कद=संस्कृत जैसे रूपों को देखते हैं, तब हम यह कहने लालायित हो उठते है, कि वह शौरसेनी व्याकरण थी जिसने उन्हें संस्कृत शब्दों को रूपान्तरित करने में सहायता की और तब उन्हें कन्नड में आयातित कर दिया (352)। आगे जैन शौरसेनी पर संस्कृत प्रभाव इस तथ्य के द्वारा सरलता पूर्वक समझाया जा सकता है कि दक्षिण में जैनों को शीघ्र ही परिस्थितियों वश संस्कृत ग्रहण कर लेना पड़ी थी; और हमें ज्ञात होता है कि समन्तभद्र, पूज्यपाद, अनन्तवीर्य, अकलंक और अन्य इन जैसे जैन ग्रंथकारों ने विशुद्ध संस्कृत को परिष्कृत किया । संस्कृत की ओर सशक्त झुकाव तथा ए एम जी आगम के

भंडार का अभाव जैन शौरसेनी को संस्कृत प्रभाव में ले आए। उत्तर में श्वेताम्बर अपनी प्राकृत पर संस्कृत के विशेष प्रभाव नहीं दिखा सके। क्योंकि उन्होंने पूर्ण रूप से प्राकृत में अपने आगमिक ग्रंथों का तथा उत्तर—आगमिक **निज्जुतियों और चूर्णियों** जैसे ग्रंथों का अध्ययन निरन्तर रखा, जो मात्रा में पर्याप्त रूप से विपुल था; और इसके अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत को कुछ हद तक देर से ग्रहण किया । जिस प्रकार जैन शौरसेनी संस्कृत के द्वारा प्रभावित हुई। इसी प्रकार श्वेताम्बर लेखकों द्वारा, प्राकृतों में लिखी गयी रचनाओं के निरन्तर अध्ययन की ओर अपने पक्षपात के कारण, जो संस्कृत उपयोग लायी गयी उसमें प्राकृत मुहावरों का बड़ा प्रभाव था; और यही कारण है कि हम श्वेताम्बर संस्कृत रचनाओं में से अधिकांश में अ—संस्कृतीय तत्त्वों को पाते हैं। प्रवचनसार में देशी शब्दों का स्पष्ट अभाव, सम्भवतः सूचित करता है कि दूरतम दक्षिण में, उत्तर की आर्य भाषा के वृद्धिंगत देशी बोलियों से वियुक्त, जैन शौरसेनी परिपुष्ट की गयी अथवा वास्तव में सुरक्षित रखी गयी,और आगे, तमिल, कन्नड आदि जैसी दक्षिण भारतीय देशी बोलियां, संभवतः ध्वन्यात्मक रूप से अथवा पूर्ववर्ती दिनों में शब्दावलि के अल्प भंडार के कारण शब्दो आदि का ऋण देने में अपर्याप्त थीं; जबकि उत्तर में एएमजी (अर्धमागधी) आगम को वृद्धिंगत देशी बोलियों की समान्तर शृंखला मे परिपुष्ट किया जा रहा था और इसलिये उसमे अधिक देशी शब्दों आदि की संभाव्यता हुई। मैं इन प्राचीन जैन शौरसेनी ग्रंथों को जैनों के अग्र—आगमिक (Pro-canonica) ग्रंथ कहूंगा।

जैन शौरसेनी और जैकोबी की पूर्वश्रेण्य (पूर्वशास्त्रीय) कालीन (Pre-Classical)प्राकृत— डा. जैकोबी (353) द्वारा अवधारित पूर्वश्रेण्यकालीन प्राकृत के साथ जैन शौरसेनी के संबंध के विषय में एक बिन्दु रह गया है। महाराष्ट्री, जैसा कि उसके नाम से सम्भवतः सूचित होता है, महाराष्ट्र में पल्लवित, यद्यपि ईसा की सदी के प्रारम्भ मे उसकी सीमाओं को निश्चित करना कठिन है। उससे जन्म क्षेत्र से ही वह बढ़ती हुई उत्तर भारत तक अवश्य फैल चुकी होगी । भास के नाटकों में वह दृष्ट नहीं है, किन्तु शूद्रक और कालिदास के काल तक उसका स्थाना गाथाओं के लिये मान्य हुआ प्रतीत होता है। साहित्य में महाराष्ट्री का तुलनात्मक रूप से देर से प्रकट होना एक प्रश्न उठाता है कि प्राचीन दिनों में इस भाषिका का स्थान किस के द्वारा संभवतः ग्रहण किया हुआ था। डा. जैकोबी अवधारित करते है कि कोई प्राकृत अवश्य रही होगी, जिसे वे पूर्व—श्रेण्य प्राकृत (या पूर्व—शास्त्रीयप्राकृत) कहते हैं; और आगे वे बतलाते है कि उन्होने भरतमुनि के **नाट्यशास्त्र** में इस प्राकृत भाषिका के संकेत प्राप्त किये हैं। इस पूर्व—शास्त्रीय प्राकृत को वैकल्पिक प्रतिधारण, अंतःस्वरीय परिवर्तन या हानि द्वारा परिलक्षित किया गया; त् से द् में मृदुकरण और **इय** मे क्रियार्थक संज्ञा द्वारा; और नाटकीय शौरसेनी के साथ कुछ पारिवारिक सादृश्य; और भी, डा. जैकौबी के अनुसार अधिकरण एक वचन को **म्मि** में तथा क्रियार्थक संज्ञा को ऊण में होने से उसमें महाराष्ट्री के कुछ अंश दिखाई देते हैं। किन्तु इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में कि बौद्धीय नाटकों के अंशों की शौरसेनी त् से द् का मृदुकरण अभी तक नहीं बतलाती है, डा. जैकोबी को संदेह है कि मूलतः वह नाटकीय शौरसेनी से अवश्य परायी रही होगी किन्तु बाद में उसमें शास्त्रीय प्राकृत में से ग्रहण किया गया, जिसकी आंशिक झलकें **नाट्यशास्त्र** में खोजी जा सकती हैं। पूर्व शास्त्रीय प्राकृत की यह अवधारणा

वास्तव में बोधगम्य है और अनेक अन्यथा अन्तर्द्वन्द्वमय तथ्यों को समाधान देती है; किन्तु प्रश्न शेष रहता है कि यदि डा. जैकोबी अपनी अवधारित पूर्व—शास्त्रीय प्राकृत के साथ तथाकथित पालि ध्वनिविज्ञान से तुलना किये होते तो क्या वे इन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचे होते। यह उन्होंने नहीं किया। बौद्धीय नाटकों के अंशों में तथाकथित प्राचीन शौरसेनी तत्त्व पालि में भी सुसंभव हो सकते हैं, जैसे कि अंतःस्वरीय व्यञ्जनों का प्रतिधारण म् य् का ब् ञ् में परिवर्तन इत्यादि; डा. लुईदेर्स (Luders)(354) द्वारा कथित अधिकांश रूप में तीनों भाषिकाएं, प्राचीन ए. एम. जी., प्राचीन शौरसेनी, और प्राचीन मागधी, में हमें न् के मूर्धन्यीकरण की ओर कोई भी प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती है; और जैसा अश्वघोष द्वारा व्यवस्था की गयी, संपूर्ण रूप से, यह विविध भाषिकाओं पर पालि का प्रभाव हो सकता है। तब इस अवधारित पूर्व—शास्त्रीय प्राकृत का जैन शौरसेनी के साथ क्या संबंध है? इस पूर्व—शास्त्रीय प्राकृत की तथाकथित विशेषताएं व्यवहार रूप से जैन शौरसेनी में पायी जाती हैं। जैसा कि हमने उसे **प्रवचनसार** की गाथाओं से विश्लेषित किया है। जैकोबी की अवधारणा में एक लाभ यह है कि **नाट्यशास्त्र** से लिये गये भाषिकीय तथ्यों को सावधानी के साथ स्वीकार करना होगा, इसके संबंध वे स्वयं अवगत हैं और संस्कृतवादों और लिपिकार की भूलों के लिये पर्याप्त छूट देते हैं। (355) वर्ण विन्यास (Orthography) की तथाकथित पुरातनता, ण् ह् की कुछ कुछ अपेक्षा ह् ण् मात्र लिपिकार की संस्कृत लिखने की आदत हो सकती है। **नाट्यशास्त्र** द्वारा निरूपित भाषिकीय रंगमंच के साथ **प्रवचनसार** के भाषिकीय प्रक्रम से तुलना करने पर, किसी को भी समानताओं का सामीप्य देखकर आश्चर्य होगा यदि **विशुष्क, भ्रमरावली, सहस्र, युवति** आदि जैसे संस्कृत वादो को मान लिया जाये;' और वे पूर्व—शास्त्रीय प्राकृत पर आरोपित कालक्रमतः बाद के अभिलक्षण हैं भी, तो तुलिनात्मक रूप से संस्कृत का कम प्रभाव दिखलाने वाली जैन शौरसेनी कालक्रमतः **नाट्यशास्त्र** के प्रक्रम से पूर्व के प्रक्रम का प्रतिनिधित्व कर सकती है। और मै विचार करता हूँ कि उस पूर्व—शास्त्रीय प्राकृत का भाषिकीय लक्षण निर्धारण करने के लिये अर्धमागधी मे लिखित श्वेताम्बर आगम तथा दिगम्बरों अग्र—आगमीय साहित्य की उभयनिष्ठ गाथाओं का, निःसंदेह पालि समान्तरों की बिना उपेक्षा किये, तुलनात्मक (अध्ययन) करना होगा; जिसके परिणाम निश्चित रूप से विश्वसनीय होंगे, क्योंकि साहित्य के ये दो क्षेत्र स्वतंत्ररूप से तथा अनोखे रूप से पारस्परिक पृथक्करण के साथ सुरक्षित रखे गये।

प्रवचनसार के रचयिता कुन्दकुन्द के संभाव्य काल पर जैन शौरसेनी के भाषिकीय प्रक्रम का संचित प्रभाव ऊपर पहले ही उतारा जा चुका है।

निर्देश एवं टिप्पण

१ . मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्या: जैनधर्मोस्तु मंगलम् ।।

२. एक कन्नड़ी हस्तलिपि गणभेद के अनुसार नंदि–सिंह और यापनीय–संघ कुन्दकुन्दान्वय का है, जबकि मूलसंघ वृषभसेनान्वय का है ।वह हस्तलिपि रुचिकर है जिसमें गण, अन्वय, गच्छ ,बिरूदावलि, सिंहासन- गादि , प्रत्येक संघ के विभिन्न आचार्यों के अंतिम नाम आदि दिये गये हैं , विशिष्ट संघ की यत्र तत्र परम्परागत कथाएं भी दी गयी हैं । जहां तक ऐतिहासिक अभिप्राय का संबन्ध है, इन विवरणों को सावधानीपूर्वक ग्रहण करना होगा ।

३.यद्यपि ये ग्रंथ प्राकृत में रचे गये हैं , वे अपने संस्कृत नाम से लोकप्रिय हैं ।

४. देखिये एपिग्राफिआ कर्नाटिका , II ६४,६६,११७,१२७,१४०,२५४,इत्यादि, साथ ही प्रोफेसर
हीरालाल द्वारा सम्पादित जैन शिलालेख–संग्रह, बम्बई, १९२८ भी देखिये ।

५. देखिये ई.सी., II,६४,६६ आदि ।

६ . ई. हुल्ट्ज़श (E Hultzsch): साउथ इंडियन इंस्कि. भाग –I क्रमांक १५२, एशियाटिक रिसर्चेज XX ,पृ. ३६, और भी देखिये इंडियन एंटीक्वेरी XXIII पृ. १२६, ग्वेरीनात (Guerinot) ने महामति भी नाम लिया है , और इस प्रकार उनके अनुसार कुन्दकुन्द के छः नाम लिये जाते हैं, देखिये रिपोर्तरे द एपिग्राफिए जैन , क्रमांक ५८५ .

७. देखिये जैन सिद्धातभास्कर, I,iv.

८. आई. ए. , भाग XXI,पृ. ७४, पादटिप्पण क्र. ३५.

९. देखिए, एनल्स आफ दी बी. ओ. आर. आई. , भाग XII,पृ. १५७.

१० . कुन्दकुन्द की रचनाओं की विभिन्न आवृत्तियों आदि, उनकी रचनाओं के विवेचन के अंतर्गत बाद में दी जायेंगी ।

११ . सर्वत्र प्राकृत एवं संस्कृत के लिए Prakrit एवं Sanskrit माना जायेगा

१२. ई. सी. , V ,चेन्नरायपत्तन क्र. १४९ .

१३ ई. सी., II ,६७ .

१४. अर्थ – शब्द– वाच्यम् अवदन् मासान् समासेन षट् . कदाचित् लेविस राइस (Lewis Rice) इसे नव – शब्द वाच्यम् आदि रूप में पढ़ते हैं , और तदनुसार उन्होंने नव–शब्दवाच्य को किसी ग्रंथ के नाम के रूप में माना; देखिये उनका मैसूर और कुर्ग– शिलालेखों से (Mysore and Coorg from Inscriptions), पृष्ट . १९७.

१५. ई. सी. , वही, बेलूर क्र. १७, ईडिडेम अर्सिकेरे क्र. १४१, वही क्र. । .

१६. ई. सी. , iv नागमंगल क्र. १०० भी देखिये, तथा देखिये ई. सी. , VI ,कदूर क्र. ६९ जहाँ भी वक्रग्रीव का नाम आया है ।

१७. ई. सी. , iv,येदातोर क्र. २८ .

१८. मुहं सो एलाइरिओ पसियाऊ वर– वीरसेणस्स , प्रथम श्लोक की द्वितीय पंक्ति ।

१९ . मुझे जयधवला – टीका में इसके समान कडिका – अंश प्राप्त हुआ है : तदो पुव्वुत्तम् एलायि (इ) रिय – भडारएण उवईट्ठ – वक्खाणमेव पहाण– भावेण एत्थ घेत्तव्वं । जयधवला की शोलापुर हस्तलिपि , पृ. १९९ .

२० . श्रुतावतार , माणिकचंद्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला (एम डी जे जी) भाग XIII में प्रकाशित, श्लोक १७७ –८२ देखिये ।

२१ . देखिए अनेकान्त भाग I ,पृ . ४२७ इत्यादि, केटेलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनस्कृप्ट्स इन सी. पी. एण्ड बरार भूमिका पृ. XXIX .

२२ . ई. सी., II १२७,११७,१४०,६४,६६, एवं २५४ .

२३.ई .सी. , VI,२५८.

२४. ई. सी., II,६४,६६ इत्यादि ।

२५ ई. सी. , II,२५८, साथ ही कन्नड़ी धर्म प्रकाश के प्रारम्भिक श्लोक , जहाँ सभी तीनों गृद्ध – बलाक – एवं मयूर – पिच्छ के उल्लेख हैं ।

२६. ई. सी. , IV ,नगमंगल क्र. ७६.

२७. ई. सी., VII,नगर क्र. ४६.

२८. धवला टीका में हमें एक पंक्ति प्राप्त होती है – गिद्ध पिच्छाइरीय– पयासिद–तच्चत्थ– सुत्ते ।

२९. ई.सी. , II,२५४; ई. सी., V III , नगर क्र. ४६; और लोकप्रिय गाथा जो सामान्यतः

तत्वार्थ सूत्र के अंत में पायी एवं दुहराई जाती है –

तत्वार्थसूत्र – कर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।

वन्दे गणीन्द्र– संजातम् – उमास्वाति– मुनीश्वरम् ।।

३०. देखिये अनेकान्त भाग I पृ. १९८; मेरे पास राजेन्द्र मौलि की टीका की सुलिखित हस्तलिपि है ।

३१. पचास्तिकाय की भूमिका , पृ. V II, इत्यादि , सेक्रेड बुक्स ऑफ दी जैनाज (एस बी जे), भाग III; जब कभी मैं प्रोफेसर चक्रवर्ती के अभिमतों का निर्देश करु, तब निर्देश इसी भूमिका का होगा ।

३२. सविस्तार निरीक्षण हेतु मैंने (शक १७३९ में रचित) पुण्यास्रव के मराठी ओवी संस्करण को परामर्श किया है , जो १३३१ ईस्वी में रचित नागराज के कन्नड़ी पुण्यास्रव पर आधारित है, किन्तु उक्त कथा को मैं नहीं पा सका ।
मुझे ज्ञात नहीं है कि क्या प्रोफेसर चक्रवर्ती का अभिप्राय संस्कृत पुण्यास्रव से है जिसे नागराज ने सम्भवतः कुछ व्यक्तिवाचक नामों के वर्णविन्यास भी सूचित करेंगे कि उनके समक्ष कोई तमिल या ऐसा कोई उद्गम रहा हो । मुझे प्रोफेसर हीरालल से ज्ञात हुआ है कि रामचन्द्र मुमुक्षु के संस्कृत पुण्यास्रव कथाकोश के (पंडित प्रेमी बम्बई , १९०७ द्वारा अनुवादित) हिन्दी अनुवाद में भी यह कथा उपलब्ध नहीं है ।

३३. इस प्रसग में ,मैं (बम्बई, वीरसंवत् २४४२; भाग ३ ,कथा क्र. १११ में संपादित) आराधना कथा – कोश से एक अन्य कथा का सार देने का लोभ संवरण नहीं कर सकता हूं । यह कथा ब्रह्म नेमिदत्त की है जो शास्त्रदान के फल को भी चित्रित करती है , जो नामों की समानता के कारण कुन्दकुन्द की कथा का भ्रम डाल सकती है,जिसके साथ वस्तुतः उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रोफेसर चक्रवर्ती के कथन का प्रथम भाग व्यावहारिक रूप से इससे मिलता है । भरतक्षेत्र में, कुरुमरइ गाँव में , गोविन्द नाम का एक गोवृन्द था ।

एक बार उसने किसी जगंल की गुफा में एक पवित्र जैन ग्रंथ देखा ।उसने उसे उठा

लिया और उसे भक्तिपूर्वक एक महान् एवं पूज्य मुनि को भेंट कर दिया जिनका नाम पद्मनन्दि था । उस ग्रंथ की यह विशेषता थी कि उसे अनेक महान गुरुओं ने सम्हाला था और समझाया था , किन्तु अंत में उसे उसी गुफा में रख दिया था । ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मनन्दि मुनि ने भी उस ग्रन्थ को पुनः वहीं रख दिया था । गो–वृन्द , गोविन्द, ने सभी समय उस ग्रन्थ की पूजा की; एक दिन वह किसी व्याल द्वारा मारा गया । उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तम निदान के फलस्वरूप वह गाँव के मुखिया का पुत्र हुआ । वह सुखपूर्वक रहा और एक सुन्दर बालक के रूप में बड़ा हुआ । पद्मनन्दि से मिलने पर उसे अपने पूर्व भव का स्मरण हुआ, वह मुनि व्रत लेकर कठिन तपश्चर्या में निमग्न हुआ । मृत्यु के पश्चात् उसका जन्म राजा कुदेश के रूप में हुआ । आनन्दमय जीवन की प्राप्ति होने पर भी वह संसार के सुखों से उदासीन था और मुनि रूप में दीक्षित हो गया । वह जिन भगवान की पूजा करता था और महान गुरुओं के सत्संग में रहा । अंत में वह श्रुतकेवली हो गया ।

३४. देखिये मराठी में लिखित पंगल् का " कुन्दकुन्द आचार्य यांचे चरित्र " ,शोलापुर , १९०६; प्रेमी जैन हितैषी, भाग X ,पृ. ३६९ इत्यादि ; सभी निर्देश (अन्यथा कथन होने तक) पंडित प्रेमी के इस उद्गम को दृष्टि में रखकर दिये गये हैं ।

३५. देखिये दर्शनसार, गाथा ४३; जैन हितैषी , X III पृ. २५ आदि , जिसमें हिन्दी अनुवाद एवं टिप्पणियों सहित प्रकाशित हुआ है ; वर्तमान लेखक द्वारा दर्शनसार टीका सहित , हस्तलिपि पर आधारित, भडांरकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट , पूना से प्रकाशित होने वाला है ।

३६. ई. सी., II,१२७,११७,१४०,६४, आदि ।

३७. ई. सी. , II,३५१.

३८. ई . सी. II,1३९८ ईस्वी का ३५४ .

३९. देखिये तत्वार्थ–श्लोक वार्तिकम् , बम्बई, १९१८ संस्करण की भूमिका पृ. ३.

४०. देखिये कर्णाटक कविचरिते, भाग I, पृ. ७; आगे, परम्परानुसार कथन है कि पूज्यपाद लौटते समय सूर्य – प्रकाश के जलते ताप के कारण अपनी दृष्टि खो बैठे थे । किन्तु बंकापुर में शांतेश्वर के स्तवन में शांत्यष्टक की रचना करते समय उन्होंने पुनः दृष्टि पा ली ।

४१. ई. सी.,II,६४,२५४ आदि ।

४२. ई. सी., II,२५८ .

४३. कुन्दकुन्दगणी येनोज्जयन्त– गिरि– मस्तके ।
 सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाण – घटिता कलौ ।।

४४. पद्मनन्दि – गुरुर् जातो बलात्कार– गणग्रणीः ।
 पाषाण – घटिता येन वादिता श्री सरस्वती ।।,
जैन हितैषी , भाग X ,पृ. ३८२ में उल्लिखित ।

४५. पदे तदिये मुनि– मान्य वृतौ जिनादिचन्दः समभूद् अतन्द्रः ।
ततो भवत् पंच सुनाम –धामा श्री – पद्मनन्दि मुनि– चक्रवर्ती ।। ,
समयसार – प्राभृतम् बनारस का १९१४ के संस्करण का पृ.३ देखिये ।

४६. ई. आई., I क्र.X Liii, क्र.१३, पृ . ३८८– ९.

४७. ई. सी., IV नगमंगल क्र. ८५; और भी आई ए. II,पृ. १५५–६१ .

४८. देखिये पत्रपरीक्षा , पृ. ३(बनारस संस्करण ,१९१३); और भी देखिये उनकी प्रमाण परीक्षा , पृ.७२ (संस्करण– बनारस १९८४)

४९.मेरे शोध पत्र , "शुभचन्द्र और उनका प्राकृत व्याकरण " एनल्स ऑफ दी बी. ओ. आर . आई. , भाग X III,i में, दिये हुए प्रारम्भिक विशेष कथन देखिये ।

५०. मेरा शोध पत्र ," यापनीय संघ ", जर्नल ऑफ दी यूनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे , भाग I, क्र. V I देखिये ।

५१. मैं यहाँ कालक्रम में व्यवस्थित कुछ महत्तत्पूर्ण पुरालेखीय निर्देश दे रहा हूं जिनमें कुन्दकुन्द का संबन्ध विभिन्न गणों इत्यादि में देखा गया है : ई. सी.,V III,३५,३६; ई.सी.II,१२७,६९,११७.१४०; ई. सी, V III,नगर क्र. ३७; ई. सी. , II,६४,६६; ई. हुल्ट्जश्क (E H ultzsch) : साउथ इंडियन इंस्क्रिशन्स, भाग I,क्र. १५२; ई . सी. II,२५४,२५८; इत्यादि ।

५२. ई. सी. , II,६९: श्रीमतो वर्धमानस्य वर्धमानस्य शासने ।
श्री–कोण्डकुन्द– नामाभून् मूल – संघग्रणी गणी ।।

५३. देखिये आई. ए. , X X I,पृ. ५७ आदि ।

५४. देखिये पंडित जुगलकिशोर द्वारा लिखित "स्वामी समन्तभद्र", पृ .१४७: गाथा इस प्रकार है –

वर्षे सप्त – शते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ ।
उमास्वामी – मुनीर जातः कुन्दकुन्द स्तथैव च ।।

५५. जैन हितैषी , भाग X , पृ. ३७८ आदि ।

५६. कभी कभी आन्तरिक विवरण भिन्न है, यद्यपि वर्षों की कुल संख्या ६८३ है जो महावीर के पश्चात् अंगज्ञान की निरन्तरता की अवधि है । देखिये भडारकर : रिपोर्ट आनसर्च फार संस्कृत मेनस्क्रप्ट , १८८३ –८४ कलेक्टेड वर्क्स भाग II,पृ. २८४, इत्यादि ; होर्नले (Hoernle) , थ्री फरदर पट्टावलीज आफ दिगम्बराज, आई. ए. XXI पृ. ५८ इत्यादि । चुने हुये प्रामाणिक ग्रन्थों के लिये , देखिये जयधवला टीका , शोलापुर हस्तलिपि , पृ. १०; एम डी जे जी का ३२ वां संस्करण वाला जिनसेन के हरिवंश – पुराण का ६६वां सर्ग ; जिनसेन का आदिपुराण , सर्ग I ,गाथा १३९ आदि , स्वामी समन्तभद्र में पंडित जुगलकिशोर के शोध पूर्ण विवेचन से भी तुलना करें , पृ. १६० आदि ।

५७. समयप्राभृतम् एवं षट – प्राभृतादिसंग्रहों के संस्करण की भूमिका देखिये । एम डी जे जी का भाग १७; आई. ए. , XIV ,पृ. १५ आदि ।

५८. पंचास्तिकाय, भाग III, एस बी जे , आरा , १९२९ संस्करण में उनकी भूमिका देखिये ।

५९. मुझे यह विचार करने के लिए कारण है कि मंत्रलक्षण में निर्दिष्ट एलाचार्य वही हेलाचार्य जैसे प्रतीत होते हैं ,जिनका पहले निर्देश दिया जा चुका है, जिनकी कृति पर आधारित इंद्रनन्दि का ज्वालिनीमित ग्रन्थ था ; देखिये पृ. IV , पूर्व ।

६०. समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार , एम डी जी भाग २४ बम्बई १९२५ संस्करण में उनकी भूमिका पृ. १५८ आदि देखिये । भूमिका का एक अंश समन्तभद्र के विषय में अलग से भी " स्वामी समन्तभद्र " के रुप मे भी प्रकट हुआ है ।

६१. सुत्तपाहुड १७–२६ , प्रवचनसार III ८–९, २०.३–५ , २४.६–१४.

६२. एल . राइस (L Rice): मैसूर एण्ड कुर्ग फ्राम इन्स्क्रिप्शन्स, अध्याय I ; व्ही. स्मीथ (V Smith) : अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया (तृतीय संस्करण), पृ. १४६,४४६; एम .एस. आर. आयंगर (M S R . Ayyangar):स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, अध्याय २ आदि ; बनारसीदास (Banarasidas): अर्धमागधी रीडर , पृ. xiii; केम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया, I, पृ. १६५ .

६३. दिगम्बर सूचियों के लिए उपरिलिखित हरिवंश आदि देखिये । श्वेताम्बर सूचियों के लिए कल्पसूत्र (एस. बी. ई.XXII), पृ.२८६ इत्यादि और नन्दिसूत्र की प्रारम्भिक गाथाएं देखिये । प्रकट होने के विषय रुप, दोनों आम्नायों के गुरुओं की परम्परागत सूचियाँ केवल जम्बू स्वामी तक सहमत है , इसके पश्चात् अन्तर है ,और पुनः भद्रबाहु दोनों में उभयनिष्ठ हैं । मेरा विचार है कि उन प्राचीन दिनों में कुन्दकुन्द से पूर्व काल में ये पांथिक भेद अतितीव्र नहीं रहे होंगे , क्योंकि आर्यमंक्षु और नागहस्ति , जिन्होंने गुणधर से कषाय-प्राभृत का अध्ययन किया होगा और उसे यतिवृषभ को अध्यापन कराया होगा , जैसा कि श्रुतावतार में कथन किया गया और जयधवला टीका की प्रारम्भिक गाथाओं में भी पुष्ट किया गया । ये ही (आर्यमंक्षु और नागहस्ति) श्वेताम्बर स्थविरावलि में भी प्रकट हैं , जैसा कि प्रायः समकालीन रूप में आर्यमंगु और आर्य नागहसति नंदि सूत्र गाथाएं क्रमांक २८-३० (आगमोदयसमिति संस्करण) में दिये गये हैं । " आर्यमंक्षु " (वस्तुतः)" अज्जमंगु" का संस्कृतीकरण का एक प्रयास है ।

६४. दर्शनसार गाथा ११ आदि, और उन पर जैन हितैषी X III, पृ. २५२, २६५ आदि में पंडित प्रेमी की टिप्पणियाँ ।

६५. जैन साहित्य संशोधक , भाग१, पृ. २१ आदि , ; डा. जैकोबीकी (Dr. Javobi's)इंट्रोडक्शन टू समराइच्चकहा इन बिब्ल. इंड. १९२६ .

६६. वसुबिन्दु प्रतिष्ठापाठ संस्करण कलकत्ता, १९२५ ; समयप्राभृतम् , बनारस , १९१४, की भूमिका (पृ.९) में भी प्रशस्ति उद्‌धृत की गयी है ; अन्य उदाहरणों के लिए जहाँ शिष्य का अर्थ परम्पराशिष्य लिया गया है , देखिये एनल्स आफ दी बी. ओ. आर. आई ., भाग XV ,पृ. ८४ह-८५ .

६७. श्रुतावतार , गाथाएं १६०-६१ आदि ।

६८. सिद्धान्तसारादि संग्रह , पृ. ३१८ भाग, २१ आफ एम डी जे जी , बम्बई , सम्वत् १९७९

६९. श्रुतावार गाथा १५१, जो इस प्रकार है -

गुण घर -धरसेनान्वय- गुरवोः पूर्वापर - क्रमोऽस्माभि : ।
न ज्ञायते तद् अन्वय - कथकागम- मुनि - जनाभावात् ।।

७०. जयसेन एवं बालचन्द की सापेक्ष तिथियों का विवेचन बाद में किया जायेगा ।

७१. पंचास्तिकाय, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला (आर जे एस) ,बम्बई सम्वत १९७२, पृ. १ और ६, प्रवचनसार , पृ.१,१७ , २४४और २४७; समयसार पर उनकी टीका में मैं शिवकुमार का कोई भी उल्लेख का संकेत नहीं पा सका हूं ।

७२. साथ ही लगभग ४७५-४९० ईस्वी , देखिये जी. एम. मोरीज (G M . M oraes):
कदम्ब कुल , अध्याय V II और वंशावली सम्मुख पृष्ठ १५ .

७३. ई.सी., I कुर्ग इंसक्रिप्शन्स , क्र. १.

७४. एच. हेरास (H .H eras): दा पल्लव जीनिआलाजी, आयंगर (A iyangar): सम
कांट्रिब्यूशन्स आफ साउथ इंडिया टू इंडियन कल्चर, अध्याय V III आदि ।

७५. स्टडीज़ इन साउथ इंडियन जैनिज्म, पृ.४० आदि ।

७६. सर्वार्थसिद्धि, पृ. ९० आदि, संस्करण कोल्हापुर, शक १८३९.

७७. तात्तार्थ-राजवार्तिकम्, संस्करण बनारस, १९१५.

७८. कभी-कभी लिपिक वर्ग, कालानुक्रम संबंधी परिणामों की चिन्ता न करते हुए, लिखते समय, पहले की टीकाओं में बाद की टीकाओं के महत्वपूर्ण उद्धरण आदि समाविष्ट कर देते हैं ।

७९ मूलाचार, संस्करण एम डी जे जी भाग १९ और २३.

८०. पूज्यपाद एवं उनकी तिथि आदि पर एफ.काइलहार्न (F .K eilhorn): आई. ए., भाग X पृ. ७५-७९, के.बी. पाठक (K B .Pathak): आई. ए., भाग X II पृ. १९-२१, डॉ. एस. के. बेलवलकर (S K .B elvalkar): सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, आर.बी. आर. नरसिंहाचार्य (R B . R . N arsim hacharya): कर्णाटक कविचरिते, भाग I, पृ.५ आदि, पंडित प्रेमी (Prem i): जैन हितैषी, भाग X IV पृ.३४५ आदि एवं X V पृ. ४९ आदि, पंडित जुगलकिशोर (Jugalk ishore) स्वामी समन्तभद्र, पृ.१४१ आदि ।

८१. प्रासंगिक रुप से मुझे यहाँ कुन्दकुन्द की तिथि पर हुए अभिनव विवेचन का निर्देश करना चाहिए । नियमसार की १७ वीं गाथा की द्वितीय पंक्ति इस प्रकार है :

एदेसिं वित्थारं लोय-विभागेसु णादव्वं । इस पर पद्मप्रभमलधारिदेव ने इस प्रकार टीका दी है: एतेषां चतुर्गति-जीवभेदानां विस्तारः लोकविभागाभिधान-परमागमे द्रष्टव्यः । (नियमसार का पृ. १६, बम्बई १९१६) । पंडित प्रेमी (Premi) (जैन जगत् V iii,iv) ने इससे यह अनुमान निकाला है कि कुन्दकुन्द शक ३८० में सर्वनन्दि द्वारा रचित प्राकृत लोकविभाग का निर्देश कर रहे हैं, वह उपलब्ध नहीं है, किन्तु सिंहसूरि द्वारा रचित उसका संस्कृत रुपान्तरण उपलब्ध है, और अतः यह कि कुन्दकुन्द ४५८ ईस्वी के पश्चात् हुए हैं । पंडित प्रेमी (Premi) का दृष्टिकोण तर्करुप से दुर्बल है, और न ही वह तथ्यों द्वारा पुष्ट किया गया है जैसा कि पंडित जुगलकिशोर (Jugalkishore) (जैन जगत V III, IX) ने पहले ही बतलाया है । बहुवचन में लोयविभागेसु यह सूचित नहीं करता है कि वह किसी व्यक्तिगत कृति का नाम है, और जहाँ तक ऐतिहासिक एवं कालानुक्रम प्रयोजन का सम्बन्ध है, कुन्दकुन्द के पर्याप्त दीर्घ (काल) पश्चात् हुए टीकाकार की व्याख्या पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता है । वह शब्द जैन साहित्य के लोकानुयोग समूह वाली कृतियों के संग्रह का निर्देश करता होगा । टीकाकार की व्याख्या को कुन्दकुन्द पर आरोपित नहीं करना चाहिए । जब शक ३८८ के मर्कर ताम्रपत्र कुन्दकुन्दान्वय का निर्देश करते हैं और उस वंशानुक्रम में हुए अर्द्धदर्जन आचार्यों का उल्लेख करते हैं, तो यह असम्भव है कि कुन्दकुन्द को शक ३८० के पश्चात् का बतलाया जाये और यह कि वे सर्वनन्दि की कृति का निर्देश कर रहे होंगे ।

८२. अंतः साक्ष्यों से, कि विमलसूरि यूनानी गणित ज्योतिष से परिचित थे, आदि, डॉ. जैकोबी (Jacobi) ने ग्रंथकार द्वारा दी गयी तिथि पर शंका की है, और उन्हें ईसा की तीसरी सदी अथवा कुछ और पश्चात् ही रखना चाहा हैं ।

८३. अभी-अभी एक जैन कन्नड पत्रिका, विवेकाभ्युदय, I,३-४, पृ. ५४ में सूचित किया गया है कि कुन्दकुन्द के जीवन से संबंधित एक कोन्दकुन्दि ग्राम है जो गुन्टकल (Guntkal) रेल्वे स्टेशन से कोई चार या पाँच मील दूर है, उस ग्राम से दो फर्लांग दूर जैन मूर्तियों सहित कोई गुफा है, जहाँ कहा जाता है कि कुन्दकुन्द ने तपस्या की थी ।

८४. समयसार, पर उनकी टीका देखिए, पृ. ५५५-६ (आर. जे. एस. संस्करण), अन्यत्र, पृ.५ पर वे समय-पाहुड की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं अथवा समय एव प्राभृतम् ।

८५. देखिए गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा ३४१ (एस बी जे व्ही), अहियारो पाहुडयं एयत्थो, अर्थात् अधिकार और पाहुड एकार्थी हैं ।

८६. जैन ग्रंथावली, पृ. ६२ और ६६.

८७. इस खण्ड में अध्ययन की गयी कृतियों के अतिरिक्त, निम्नलिखित नामवालि कृतियों के रचयिता का श्रेय कुन्दकुन्द को है, कुछ नाम अंशतः संस्कृत में हैं और अंशतः प्राकृत में हैं, और कभी-कभी , भिन्न रुप से वर्ण विन्यासित होते हैं । अभी भी अनेक जैन ग्रंथ भंडार हैं जिनकी अभी तक छानबीन नहीं हुई है, और इसलिए यह बिलकुल भी असम्भव नहीं है कि हमें इन कृतियों में से कुछ को प्राप्त करने का अवसर मिल जाये, सरल निर्देश के लिए मैं यहाँ आंग्ल वर्णाक्षरों के अनुसार विन्यासित कुन्दकुन्द द्वारा रचित मानी जाने वाली कृतियों का नाम दे रहा हूं : १ आचारपाहुड, २ आलापपाहुड, ३ अंग (सार)-पाहुड, ४ आराधना (सार)-पाहुड, ५ बंध (सार)-पाहुड, ६ बुद्धि अथवा बोधिपाहुड, ७ चरणपाहुड, ८ चूलि पाहुड, ९ चूर्णिपाहुड, १० दिव्वपाहुड, ११ द्रव्य (सार)-पाहुड, १२ दृष्टिपाहुड १३ एयंतपाहुड, १४ जीवपाहुड, १५ जोणि (सार)-पाहुड, १६ कर्मविपाकपाहुड,१७ क्रमपाहुड, १८ क्रियासारपाहुड, १९ क्षपण (सार)-पाहुड, २० लब्धि (सार)-पाहुड,२१ लोयपाहुड, २२ णयपाहुड, २३ णिताय-पाहुड , २४ णोकम्मपाहुड, २५ पंचवर्गपाहुड, २६ पयद्धपाहुड, २७ पयापाहुड, २८ प्रकृतिपाहुड, २९ प्रमाणपाहुड, ३० सलमीपाहुड (?), ३१ संठाण-पाहुड, ३२ समवायपाहुड, ३३ षट्दर्शनपाहुड, ३४ सिद्धान्तपाहुड, ३५ सिक्खा-
पाहुड, ३६ स्थानपाहुड, ३७ तत्व (सार) पाहुड, ३८ तोयपाहुड, ३९ ओघातपाहुड, ४० उत्पादपाहुड, ४१ विद्यापाहुड, ४२ वस्तुपाहुड, ४३ विहिय अथवा विहयपाहुड ।

८८. ऊपर पृ. १७ पर विवेचन देखिए ।

८९. वसुनन्दि की संस्कृतटीका सहित, मूलाचार एम डी जे जी भाग १९ और २३ में प्रकाशित हुआ है, •यही हिन्दी अनुवाद एवं गाथाओं की वर्णानुक्रम में सूची सहित अनन्तकीर्ति दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९१९, से छपा है ।

९०. वे लगभग १२ वीं सदी में हुए ।

९१. प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका एवं पंडित जिनदास के मराठी अनुवाद सहित दस-भक्तियों का संस्करण शोलापुरसे १९२१ में प्रकाशित हुआ है । इसी संस्करण को मैंने इन भक्तियों की अपनी अभ्युक्तियाँ देने हेतु उपयोग किया है, और कभी-कभी अपने

संग्रह में से क्रियाकलाप नामक कन्नड हस्तलिपि का प्रयोग किया है ।

९२. संस्कृताः सर्वाः भक्तयः पूज्यपादस्वामि–कृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्य–कृताः । पृ. ६१ शोलापुर संस्करण ।

९३. पंचप्रतिक्रमणसूत्राणि, बम्बई १९२५, के पृ. ३ से तुलना करें ।

९४. तत्तत्वार्थसार IX ,१८ से तुलना करें ।

९५. गद्यांश इस प्रकार लिखा है : इमम्मि अवसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए आठइ (अट्ठ ?) मासहीणे वासचउक्कम्मि सेसकालम्मि पावाए णयरीए कत्तियमासस्स किण्हचउदसीए रत्तीए सादीए णक्खत्ते पच्चूसे भयवदो महदिमहावीरो वड्ढमाणाओ सिद्धि गदो ।, इसका अर्थ महावीर के निर्वाण के ३ वर्ष और ३ १/२ माह पश्चात् पंचमकाल प्रारम्भ हुआ । अथवा आठइ का अर्थ जैसा मराठी में लिया जाता है साढ़े तीन लिया जा सकता है ।

९६. ए.एन. उपाध्ये (A .N .U padhye) द्वारा कोल्हापुर, १९३४ के संस्करण रुप में अंग्रेजी प्रस्तावना, हरिभद्रसूरि की टीका से समालोचनात्मक टिप्पण सम्पन्न उद्धरण एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित सम्पादित ।

९७. दंसण से लेकर सील–पाहुड तक अष्टपाहुड, रयणसार, एवं बारस–अणुवेक्खा एम डी जे जी, भाग १७ में प्रकाशित हुए, जिनमें प्रथम छः पाहुड श्रुतसागर की संस्कृत टीका सहित हैं और शेष केवल संस्कृत छाया सहित हैं ।

९८. पाहुडों आदि का विश्लेषण देने हेतु मैंने, सुविधानुसार, कोष्ठकों में गाथाओं की संख्या दी है, इस सारांश में कुछ गाथाओं का स्वतंत्र अनुवाद दिया गया है – उनका साहित्यिक अनुवाद नहीं दिया गया है ।

९९. निदान एक प्रकार से फल लाभ के लिए लालायित होना है । भावी भव में सुखों और भोगों के लालच के वशीभूत होकर इस भव में किये गये तपाभ्यासादि के फल की वांछा करना निदान है । जो सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण चाहता है, उसे अपने मन को निदान से मुक्त रखना चाहिए (सर्वार्थसिद्धि V III,३७), निदान जो आर्त्तध्यान का एक प्रकार भी कहा जाता है (वही, IX ,३३) ।

१००. तुस–मास शब्दों की प्रतीकरुपेण यह धारणा है कि शरीर आत्मा से निश्चयतः (आत्यंतिक रुप से) भिन्न है, जैसे बीज से भूसी (छिलका) । श्रुतसागर ने इस गाथा पर एक कथा दी है और इस वाक्यांश को इस प्रकार समझाया है : तुषान् मषो भिन्न इति यथा

तथा शरीराद् आत्मा भिन्नः ।

१०१. इस गद्यांश में मैंने भावपाहुड से पौराणिक निर्देशों को एकत्रित किया है । यह आवश्यक है कि ऐसी सभी पौराणिक दंत-कथाएं या उपाख्यान जो पूर्ववर्ती श्वेताम्बर एवं दिगंबर ग्रंथों में निर्दिष्ट हैं, एकत्रित किये जाना चाहिए ताकि जैन पुरा कथाओं की प्रारम्भिक सम्पत्ति की झलक प्राप्त हो सके । ऐसे निर्देश पइण्णव्, शिवकोटि की भगवती आराधना, मूलाचार आदि जैसे ग्रंथों में पाये जाते हैं । मुख्यतः श्वेताम्बर आगम के पइण्णस् में सीमित इस दिशा में एक प्रयास का अंश कुर्त फॉं केंत्ज़ (Kurt von Kamptz) ने पहले ही अपने विनिबन्ध : Uber die vom Sterbfasten handelnden altem Painna des Jaina- Kanon) हेमबर्ग, १९२९ में किया है । मैंने शिवकोटि की भगवती आराधना में से सभी दंतकथाएं लेकर उन्हें वर्णानुक्रम में सूचीबद्ध किया है और मैंने पाया है कि कुछ उपाख्यान श्वेताम्बर आगम के मरण-समाधिपइण्ण के साथ उभयनिष्ठ हैं । इस प्रकार संघभेद से पूर्व की अनेक ऐसी दंतकथाएं हैं और वे दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के द्वारा स्वतंत्र रुप से सुरक्षित रखी गई हैं ।

१०२. मैंने इस गद्यांश में इन तकनीकी विवरणों को प्रायः विशाल रुप में एकत्रित किया है, मात्र यह सूचित करने कि ग्रंथकार को कितनी मात्रा में तकनीकियों को हाथ में लेना पड़ता है, कभी-कभी वह उन्हें समझाता है, किन्तु बहुत से विषयों (मामलों) में वह यह मानकर चलता है कि उसके श्रोता या पाठक उनसे पहले से ही परिचित हैं ।

१०३. इन पाहुडों सम्बन्धी ग्रंथों को समालोचनापूर्वक सम्पादित नहीं किया गया है इसलिए वे स्पष्ट नहीं हैं, और अतः मैंने कुन्दकुन्द की तिथि के लिए इन गाथाओं के आशय पर विचार नहीं किया है, साथ ही इसके अतिरिक्त जिनकी कृतियां संकलन रुप लक्षण वाली हैं ऐसे अपने ग्रंथकार की तिथि को निश्चित करने के लिए ऐसे यत्र तत्र निर्देशों की अपेक्षा अन्य विस्तृत साक्ष्यों को लेना होगा । कारण कि जैसा डा. जैकोबी (Dr Jacobi) ने किंचित् भिन्न प्रसंग में लिखा है, इस तथ्य से अधिक उभयनिष्ठ (सामान्य) कोई नहीं कि ऐसे विवरणों को परिष्कृत कर जोड़ा जाये या ग्रंथ में भी समन्वित कर लिया जाये, उनके द्वारा जिन्होंने या तो लेखन से या अपने शिष्यों को पढ़ाते समय उसे संचारित किया ।" (एस बी ई, २२, भूमिका पृ. ३९-४०) ।

१०४. देखिएं फैस्टगाबे जैकोबी (Festgabe Jacobi) में डब्लू. हेनिक

(W Denecke) का लेख पृ. १६३ आदि । सम्भवतः डा. विन्टरनिट्ज (Dr. W Internitz) ने अपने " ए हिस्टरी आफ इंडियन लिटरेचर, (आंग्ल में) भाग II, पृ. ५७ पर डब्लू. डेनिक का अनुगमन किया है, जो मेरे हाथों में अभी पहुंचा है । मुझे अमृतचन्द्रकृत षट्पाहुडों पर कोई टीका की जानकारी नहीं है, यद्यपि डा. विन्टरनिट्ज ने श्रुतसागर के नाम के साथ उनके नाम का भी उल्लेख किया है ।

१०५. सनातन जैन ग्रंथमाला (एस जे जी) भाग I, बम्बई १९०५ में प्रकाशित ।

१०६. वही, पृ. ५२ आदि ।

१०७. जैन ग्रंथकारों के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का विषय बड़ा आकर्षक रहा है कि उन्होंने अनेक ग्रंथों में उनके लिए विशेष स्थान (और विस्तार) दिया है । इसके विविध कारणों में से प्रमुख यह रहा है कि इनके चिन्तवन से कर्मास्रव रुक जाता है और उनके विवेचन में जैनधर्म के अनेक प्रकरण समाहित हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे गये हैं । कुछ उदाहरणार्थ : वट्टकेर के मूलाचार का आठवां अध्याय इन्हीं के लिए समर्पित है, इसके बाद कुन्दकुन्द ने जो अपनी बारस-अणुवेक्खा रची या संकलित की उसमें कुछ गाथाएं उपर्युक्त अध्याय से उभयनिष्ठ हैं , प्रायः १५० गाथाएं शिवकोटि (ग्रंथ में शिवार्य रुप में उनका नाम उल्लिखित है) की भगवती आराधना में इस प्रकरण को समर्पित हैं । श्वेताम्बर आगम में, उदाहरणार्थ, कोई ७० श्लोक मरणसमाधिपइण्ण इन प्रकरणों पर हैं । कुमार या कार्तिकेय (लगभग ईसा की आठवीं सदी) की बारसअणुवेक्खा में ४८९ गाथाएं हैं जो १२ अनुप्रेक्षाओं मात्र के लिए समर्पित हैं । शुभचन्द्र ने अपने संस्कृत ज्ञानार्णव में अनुप्रेक्षाओं के लिए १९५ श्लोक समर्पित किये हैं । अमितगति, सोमदेव और पद्मनन्दि जैसे दिगम्बर ग्रंथकारों ने अपनी कृतियों में इन अनुप्रेक्षाओं का विवेचन किया है । श्वेताम्बरों में भी द्वादशभावना (जैन ग्रंथावली, पृ.१८०) भावनासमाधि-प्रकरण (एनल्स आफ दी बी.ओ.आर.आई,भाग XI,1) जैसे ग्रंथ प्रचलित हैं । धवला में किन्हीं सिंहनन्दि द्वारा विरचित उनके हरिवंशपुराण (अपभ्रंश) में अनुप्रेक्षा पर किसी कृति का निर्देश दिया है जिसका पता, जहाँ तक मुझे ज्ञात है , कहीं नहीं चल सका है । कन्नड़ी, हिन्दी और अन्य देशी भाषाओं में भी अनुप्रेक्षा पर कृतियां समर्पित हैं जो पूर्ववर्ती और आधुनिक ग्रंथकारों द्वारा रचित की गई हैं ।

१०८. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९१६ द्वारा प्रकाशित, इस संस्करण में पद्मप्रभ मलधारिदेव की संस्कृत टीका और ब्र. शीतलप्रसाद जी (Br.

shitalprasadji) का अनुवाद दिया गया है । उग्रसेन (Uggarsain) द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित सम्पादित एस.बी.जे., भाग IX लखनऊ १९३१ मैं यहाँ पद्मप्रभ की तिथि के संबंध में केवल उनकी आयु की सुझाव रुप में सीमाएं सूचित करुगा । पीठिका के श्लोकों में उन्होंने सिद्धसेन, पूज्यपाद, भट्टाकलंक और वीरनन्दि–व्रतीन्द्र का उल्लेख किया है । यह देखना आवश्यक है कि ये कौन वीरनन्दि हैं । हम दो वीरनन्दियों को जानते हैं, एक वे जो चन्द्रप्रभचरित के रचयिता हैं जो १०२५ ईस्वी पूर्व हुए । जैसा कि वादिराज ने उनका निर्देश उसी वर्ष रचे अपने पार्श्वनाथचरित्र में दिया है । दूसरे वीरनन्दि आचारसार के ग्रंथकार हैं जो काफी समय पश्चात् हुए और संभवतः वे १२ वीं ईस्वी सदी में हुए । आगे नीडुगल्ल् (Nidugall) शिलालेख [ई सी, XII पावुगड (Pavugada) क्र. ५१–५२],लगभग १२३२ ईस्वी, के प्रकाश में मैं कहूंगा कि पद्मप्रभ दूसरे वीरनन्दि के शिष्य थे, अतः वे १२ वीं ईस्वीसदी के मध्य के लगभग हुए होंगे । यह भी देखना शेष है, किसी भी तरह यह कि उनकी टीका में निर्दिष्ट अनेक ग्रंथों और विभिन्न उद्धरणों द्वारा कौन से तथ्यों की सम्पूर्ति होती है ।

१०९. यहाँ केवली के ज्ञान और दर्शन के युगपत्त्व का समर्थन किया गया है । सिद्धसेन ने भी अपने सन्मतितर्क, II,३ आदि, में इसी स्थिति को स्वीकार किया है, जबकि जिनभद्र–क्षमाश्रमण (विशेषावश्यक भाष्य ३१ ३२ आदि) तथा अन्य श्वेताम्बर ग्रंथकारों के दल ने, अपने आगमानुसार, विशेष रुप से नन्दि, प्रज्ञापना और अन्य ग्रंथों के अनुसार, कहा है कि केवली के ज्ञान और दर्शन क्रमेण होते हैं, युगपत् नहीं होते हैं ।

११०. मूलाचार I,२२

१११. मूलाचार VII,१२१ आदि ।

११२. पडिकमण – णामधेये सुत्ते जहा वण्णिदं पडिकमणं । आदि

११३. पी. ई. पवोलिनी (P.E. Pavolini), II Compendio cinque elementi– पंचत्थियसंगहसुत्तं in Geornale della Societa asiatica italiana) भाग १४, पृ. १–४० फ्लोरेंस (Florence), १९०१, भाषा, छन्द और हस्तलिपियों पर अभ्युक्तियाँ : यहाँ हमें अमृतचन्द्र की टीका की अनुगामिनी रुप प्रत्येक श्लोक की विषयवस्तु का सारांश सहित संपादित ग्रंथ मिलता है, आर जे एस, १९०४ में अमृतचन्द्र की संस्कृत और हेमराज जी पाण्डे (Pande Hemarajaji) की हिन्दी टीका सहित सम्पादित, आर जे एस, १९१४ में जयसेन की संस्कृत टीका अतिरिक्त

सहित दूसरी बार सम्पादित, एस बी जे, भाग III, आरा १९२० में प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती (A. Chakravarti) द्वारा अंग्रेजी अनुवाद सहित, अंग्रेजी में मूल टीका सहित, और दार्शनिक तथा ऐतिहासिक भूमिका सहित सम्पादित, ब्र. शीतलप्रसाद जी द्वारा सूरत से जयसेन की संस्कृत टीका के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादित ।

११४. सनातन जैन ग्रंथमाला, बनारस, १९१४, में अमृतचन्द्र और जयसेन की संस्कृत टीकाओं सहित प्रकाशित । आर जे एस, बम्बई १९१९ में इन्हीं दो टीकाओं और जयचंद्र (Jayachandra) की हिन्दी टीका सहित प्रकाशित । जे.एल. जैनी (J L Jaini) द्वारा एस बी जे, भाग ८ लखनऊ, १९३० में संस्कृत छाया, अंग्रेजी अनुवाद एवं टीका सहित सम्पादित ग्रंथ । इसके अतिरिक्त अमृतचन्द्र को सन्निकटतः अनुगमन करती हुई जयचन्द्र की हिन्दी टीका कोल्हापुर, बम्बई आदि से प्रकाशित हुई है । जयसेन की टीका की अनुगामिनी एक हिन्दी टीका शीतलप्रसाद द्वारा इस पर लिखी गयी जो सूरत से प्रकाशित हुई है ।

११५. देखिए भगवती-सूत्र I,ix,सूत्र ७५, I,x,सूत्र १८, II,V ,सूत्र १०० आदि, और भी विशेषावश्यक भाष्य २४२४ आदि ।

११६. यह नोट करना रुचिपूर्ण है कि एम. शुईलर (M Schuyler) के बिब्लिओग्राफी आफ दी संस्कृत ड्रामा, पृ. २४ में अपने नाम के आगे समयसार सहित अमृतचन्द्र को एक नाटककार के रुप में स्थान दिया गया है ।

११७. मैं प्रोफेसर एच.डी. वेलणकर (H D .Velankar), विल्सन कालेज, बम्बई का अनुग्रहीत हूं जिनसे मैंने ज्ञात किया कि भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना में प्रवचनसार की ८ हस्तलिपियाँ, आरा में १, मूडबिद्री में २, सरस्वती भवन बम्बई में ३ (जिनमें से २ इस वर्तमान संस्करण में उपयोग में लायी गयी हैं), भूलेश्वर जैनमंदिर बम्बई में १, और तेरापंथी बड़ा मन्दिर , जयपुर में ६ उपलब्ध हैं । इनके सिवाय कारंजा ग्रंथ भंडार में इस कृति की हस्तलिपियाँ उपलब्ध हैं (देखिये केटेलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनस्कृप्ट्स इन सी.पी. एण्ड बरार १९२६), और भी कोल्हापुर तथा बेलगोल के स्थानीय मठों में उपलब्ध हैं ।

११८. आई.ए., भाग V II पृ. २८-९

११९. आ.ए., भाग X IV ,पृ. १४-२६, प्राभृतसार नामक कोई ग्रंथ नहीं है यद्यपि पाठक

ने उसे प्रवचनसार के साथ उल्लिखित किया है ।

१२०. एस बी ई, XLV , भूमिका पृ. ३५ आदि ।

१२१. Wiener Zeitschrift für die kunde des Morgenlandes भाग XI , पृ. २९७–३१२

१२२. Grammatik der Prakrit-Sprachen, ग्रुंन्ड्रिस आदि स्ट्रासबर्ग, १९०० में ।

१२३. आर जे एस, सम्वत् १९६९ में सम्पादित, जयसेन की टीका के ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद कृत हिन्दी अनुवाद सहित तीन भागों में प्रकाशित । वीर संवत् २४५०–५२ सूरत, जैन लिटरेचर सोसायटी, लन्दन, द्वारा प्रवचनसार के अंग्रेजी अनुवाद का वचन दिया गया था किन्तु अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था । (तब से प्रकाशित)

१२४. डा. विण्टरनिट्ज़ (Dr.Winternitz) (इंडियन लिटरेचर, II,पृ. ५७६) में प्रवचनसार को "जैनसिद्धान्त, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र पर बहुमूल्य उपलब्धिपूर्ण वर्णित किया है । प्रोफेसर ए.बी. ध्रुव (A B Dhruva) ने (अपनी स्याद्वादमंजरी, बम्बई, संस्कृत और प्राकृत सीरीज, पृ ८०, की भूमिका में) उसे "जैनधर्म का बोधशील सर्वेक्षण" वर्णित किया है ।

१२५. यह श्रुतस्कन्ध भेद हमें श्वेताम्बर आगम के आचारांग और सूत्रकृतांग आदि के समान भेदों का स्मरण दिलाता है ।

१२६. आगे जयसेन की टीका के सम्बन्ध में विवेचन देखिए ।

१२७. कभी–कभी जयसेन उन्हीं गाथाओं के वैकल्पिक (एकान्तर) पाठ देते हैं और उनकी दूसरी बार व्याख्या (निर्वचन) देते हैं । उदाहरणार्थ, देखिए II,४६–७.

१२८. संस्करण एस जे जी, भाग I में सम्पादित

१२९. संस्करण एस जे जी, भाग I में सम्पादित, आर जे एस में हिन्दी अनुवाद सहित, वीर संवत् २४३१.

१३०. मैं समझता हूं कि ये गाथाएं रत्नशेखरसूरि के सम्बोधसप्तति ग्रंथ में प्राप्त हैं जो १४ वीं सदी में हुए थे ।

१३१. तत्वार्थराजवार्तिकम्, बनारस, पृ. २७५.

१३२. शोलापुर हस्तलिपि, पृ. १८ आदि ।

१३३. देखिये देवचन्द लालाबाई सीरीज़ भाग ४७,पृ. २५, हरिभद्र द्वारा अंतिम पंक्ति इस प्रकार पढ़ी जाती है : जम्हा सो अपमत्तो सा य पमाद त्ति णिद्दिट्ठा / शीलांक ने, जो सूत्रकृतांग (आगमोदय समिति संस्करण, पृ. ३९) पर अपनी टीका में ये दो गाथाएं उद्धृत करते हैं, प्रथम पंक्तियों में कुछ भिन्न पाठ लिये हैं, और वे अंतिम पंक्ति में पूर्णतः भिन्न रुप में उद्धरण देते हैं :अणवज्जो उवयोगेण सव्वभावेण सो जम्हा ।

१३४. जिस प्रकार धवला-टीका में उन्हें उद्धृत किया गया है विशेषतः उसी को लेकर मैं इस निर्भीक अनुमान पर पहुंचा हूं । दशभक्तियाँ आदि पर दिये गये मेरे विचार बिलकुल स्पष्ट हैं कि कुछ ऐसी गाथाएं हैं जिन्हें श्वेताम्बरों एवं दिगम्बरों ने उभयनिष्ठ रुप से उत्तराधिकार रुप में प्राप्त की हैं । दिगम्बर ग्रंथों में प्राप्त ये दो गाथाएं उसी रुप में हैं जहाँ तक उनका भाषिका सम्बंधी रुप है । वहीं, जिसरुप में उन्हें हरिभद्र ने उद्धृत किया है वे महाराष्ट्री की ओर उन्मुख हैं । निस्संदेह वर्तमान श्वेताम्बर आगम का झुकाव अर्द्धमागधी से महाराष्ट्री की ओर हुआ है, कारण कि अर्द्धमागधी ग्रंथों का लगातार प्रबन्ध ऐसे देश में हुआ जहाँ महाराष्ट्री लोकप्रिय थी । ऐसी उभयनिष्ठ गाथाओं की श्वेताम्बर पूर्व के आगम एवं दिगम्बर पूर्व के ग्रंथों के बीच तुलना करने पर हमें मौलिक अर्द्धमागधी की झलक पाने में सहायता मिलेगी । मुझे विश्वास है कि इन दो गाथाओं के प्रतिरुप विशेषकर पइण्णों और निज्जुत्तियों जैसे श्वेताम्बर आगम में खोजा जा सकेगा, खेद का विषय है कि उनमें से बहुत से मेरी पहुंच के भीतर नहीं हैं ।

१३५. अनेक कारणों से यह सुझाव कि वे श्वेताम्बर रहे होंगे वैध नहीं लगता है, वे २८ मूलगुणों को ग्रहण करते हैं जिनमें दिगम्बरत्व (नग्नत्व) सम्मिलित है (iii,८), वे वाक्यांश जह-जाद-रुप (अर्थात् नग्नत्व, देखिये उत्तरा, २२, ३४) जो संन्यासी साधु (iii,४,६,२५) का होता है उसका विरोध नहीं करते हैं , और अंत में उन्हें , अर्थात् श्वेताम्बरों को, जो यह मानते हैं कि सर्वज्ञ बिना वस्त्रों के निर्ग्रन्थ हो सकते हैं तथा कवलाहार ग्रहण कर सकते हैं, विपरीत-मिथ्यात्वी (तत्वार्थसार, V ,६) मानते हैं, प्रासंगिक गाथा इस प्रकार है :

सग्रन्थोपि च निर्ग्रन्थो ग्रासाहारी च केवली ।

रुचिर् एवंविधा यत्र विपरीतं हि तत् स्मृतम् ।।

नत्व जैसे शब्दों को उपयोग और व्यवहारसूत्र (समयसार पृ.३१,३३,१९५,४०४) षष्ठ,

अष्ठम उपवास (तत्वार्थसार viii,२०) का उल्लेख यह सुझाव देता है कि अधिक से अधिक वे श्वेताम्बर साहित्य से समीप से परिचित थे ।

१३६. मैंने अपना सारांश का पुनर्लेखन पूर्णरुप से किया है जो कभी जैनगज़ट भाग XXV पृ.१५६ आदि में प्रकाशित हुआ था ।

१३७. शुद्धोपयोग मात्र स्वभाव-परिणाम है, अर्थात् शुभाशुभ भावों से मुक्त आत्मा की स्वाभाविक अवस्था : इसी विध मैं उसे समझता हूं ।

१३८. सभी तीनों ग्रन्थों में शुभोपयोग के विभिन्न कथनों के उदाहरण के लिए सूची देखिये .

१३९. उदाहरणार्थ तुलना करिए I,२४-५, II८१., इत्यादि ।

१४०. देखिये ii,२३,८० इत्यादि ।

१४१. धर्म और अधर्म की धारणाओं के लिए श्रमसाध्य अध्ययन की आवश्यकता है । प्राच्य विद्याओं के प्राथमिक पूर्वकालीन अवस्थाओं के अध्ययन काल में वे एक समान रुप से गलत रुप में समझी जाती थीं । इन दोनों के कुछ महत्वपूर्ण प्रतिपादन के लिए देखिये जैनीः आउटलाइन्स आफ जैनिज्म, पृ. २२ आदि , घोषाल : दव्वसंगह (SBJ I), पृ.५२ आदि और परिशिष्ट पृ. LV iii,चक्रवर्तीः पंचास्तिकायसार(SBJ III), पृ.९०-८, १०१ आदि, भट्टाचार्यः जैन गज़ट, भाग XXII,पृ. २४२ आदि , और XXIII, पृ. ९०-८,बेचरदासः जैन साहित्य संशोधक III, पृ. ३५-४२,और जगदीशचन्द्रः इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली IX ,३, पृ.७९२.

१४२. सांख्यकारिका ४४.

१४३. आउटलाइन्स आफ जैनिज्म पृ. XXX iii.

१४४. अंत में पादटिप्पण ५ पर अनुवाद के पृ. १६-७ देखिये ।

१४५. वही पृष्ठ १८, पादटिप्पण १.

१४६. उदाहरणों को शेष पांच द्रव्यों के निर्देशानुसार भी विस्तृत किया जा सकता है । पुद्गल एक द्रव्य है : वर्ण, रस, गंध, और स्पर्श उसके गुण हैं, और विविध मूर्त वस्तुएं जैसे पात्र, पिन, कलम आदि उसकी पर्यायें हैं । धर्म और अधर्म द्रव्य हैं, । क्रमशः (जीव एवं पुद्गल द्रव्यों के) गमन एवं स्थिति में सहकारी होना उनका गुण है, और विभिन्न गमनशील एवं स्थिर वस्तुओं से सम्बन्धित यथार्थ गमन व स्थिरता रुप उनकी

पर्यायें हैं । आकाश एक द्रव्य है : अवगाहन देना उसका गुण है, और पात्र, घड़ा आदि विविध वस्तुओं द्वारा व्यक्तिगत रुप से अवगाहित आकाश उसकी पर्यायें हैं । अंत में काल एक द्रव्य है, वर्तना उसका गुण है : और सेकण्ड, मिनिट, घंटा आदि रुप काल की पर्यायें हैं ।

१४७. आद्य–क्षणे निर्गुणं द्रव्यं तिष्ठति जैसा कि तर्कभाषा आदि में दिया गया है ।

१४८. देखिये न्यायकोश, ३ रा संस्करण, पृ. ४९१, पर्याय में ।

१४९. आलापपद्धति (एस जे जी आई)पृ.१५५ इत्यादि, प्रवचनसार, पृ.१२४ पर अमृतचन्द्र की टीका देखिए ।

१५०. अभयदेव की टीका सहित सन्मति–तर्क–प्रकरण के ३ रे काण्ड की गाथाएं ८–१४ आदि देखिये ।

१५१. गुण शब्द को न्यायककोश में देखिये , पृ.२६१ ।

१५२. मैक्सम्युलर (M ax M uller) : सिक्स सिस्टम्स आफ इंडियन फिलासफी,

(प्रथम)संस्करण , पृ. ४६८I

१५३. प्रवचनसार II , ४० , पंजास्तिकाय (एस.बी.जे III) पृ. ८४ आदि, और दव्वसंगह १६ (एस.बी.जे I,पृ. ४७)।

१५४. भगवती सूत्र IV X , ४ , सूत्र ५१३ .

१५५. मुझे ज्ञात है कि कुछ पश्चाद्वर्ती ग्रंथकार जिन्होंने जैन और वैशेषिक विचारों में भ्रम उत्पन्न किया है , कभी पीलेपन को गुण कहते हैं और कभी पर्याय कहते हैं । उदाहरणार्थ –

पीततादिपर्यायेण ...... ।, पीततादओ गणाः...... ।, आदि जो प्रवचनसारकी अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका में पृ. २२,९० आदि पर दिये गये हैं । जैन मूलधारणा यह थी कि वर्ण गुण है और पीतादि जैसे विभिन्न वर्ण उस गुण की पर्यायें हैं,किन्तु वैशेषिकों के अनुसार विभिन्न वर्ण गुण हैं , इस प्रकार स्वाभाविक रुप से पश्चाद्वर्ती ग्रंथ कारों ने इन धारणाओं भ्रम को उत्पन्न किया ।

१५६ उत्तराध्ययन सूत्र २८,६.

१५७. कुन्दकुन्द, उमास्वाति , पूज्यपाद, अकलंक, हरिभद्र, सिद्धसेनसूरि, अमृतचन्द्र, विद्यानन्द, वादिदेवसूरि, राजमल्ल और यशोविजय आदि जैसे विभिन्न ग्रन्थकारों ने द्रव्य , गुण और पर्याय पर जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें विस्तार रूप में सन्मति – प्रकरण (संस्करण अहमदाबाद) के पृ. ६३१– ३३ पर पादटिप्पणी में उद्‌धृत किया गया है । अकलंक, जिन्होंने सिद्धसेन के विविधग्रंथों के साथ निकट परिचिति दिखाई है ने सिद्धसेन के आक्षेपों को दृष्टि में रखा है । अर्हत्प्रवचन, नामतः तत्वार्थसूत्रों की प्रामाणिकता की ओर अपील इंगित करते हुए अकलंक द्वारा तृतीय नय की आवश्यकता को , यदि गुण पर्याय से पृथक् है, सरलता से न्याय असंगत बतला दिया है ।
आगे द्रव्य के दो स्वभाव है, गुण होते हैं – सामान्य और विशेष जिसके अनुसार दो नय होते हैं । अंत में वह ध्यान नहीं देते कि, जहाँ तक सूत्र गुण पर्यवद् द्रव्यम् की व्याख्या का सम्बन्ध है, चाहे उसे गुणा एव पर्यायाः (राजवार्तिकम् पृ. २४३) ले लिया जाये । इस प्रकार अकलंक , अपने अनेकान्त –आधार की दृष्टि से, सिद्धसेन के दृष्टिकोण को आंशिक रूप में मान लेते हैं । हरिभद्र और यशोविजय भी सिद्धसेन का आंशिक रूप से अनुगमन करते हैं । १५८. बेलवलकर एवं रानाडे : हिस्टरी आफ इंडियन फिलासफी क्रियेटिव पीरियड ,पृ.३३७ .

१५९. डा. बेलवलकर :" सांख्य, रियलिज्म या आइडियालिज्म "दयानन्द कामेमोरेशन वालुम, अजमेर, १९३४ पृ. १९–२४.

१६० . सिद्ध स्वभाव पर चर्चा करते हुए, कुन्दकुन्द एक अत्यंत मर्यदित और सापेक्ष स्थिति ग्रहण करते हैं , स्पष्ट रूप से यह कहते हुए कि आत्यंतिक मान्य नहीं हैं । इस प्रसंग में (देखिये पंचास्तिकाय ३७) एक कथन बिलकुल संबन्धित रूप से किया गया है :

सस्सदम् अध अच्छेदं भव्वम् अभव्वं च सुण्णम् इदरं च ।
विण्णाणम् अविणणाणं वि जुज्जदि असदि सब्भावे ।। ३७।।

यह गाथा , जहां तक मैं टीकाकारों से स्वतन्त्र रूप से समझता हूं अपनी दृष्टि में शाश्वतवाद, उच्छेदवाद , शून्यवाद और विज्ञानवाद लिये है जो बहुधा बौद्धग्रंथों में निर्दिष्ट किये जाते हैं ।(देखिये ई.जे.टामस(E.J.Thomas): दी हिस्टरी आफ

बुधिस्ट थाट, पृ.१२४ आदि उच्छेदवाद को अजितकेसकमबलि की दृष्टि कहा जाता है।

१६१. जैन टीकाकार उसकी व्युत्पति इस प्रकार देते हैं: पूरण –गलनान्वर्थ– संज्ञत्वात् पुद्गलाः आदि । (राजवार्तिकम् , पृ. १९०)।\बौद्ध व्युत्पति इस प्रकार है : पुन्ति वुच्चति, तस्मिं गलन्तीति
पुद्गला (पी.टी.३२एस पालि इंग्लिस डिक्शनरी – पुद्गल शब्द में) विष्णु पुराण में दी गयी परिभाषा पूरणाद् गलनाद् इत्यादि पुद्गलाः परमाणवः जैन संकलपना से प्रायः पूर्णरूपेण मिलती है (न्यायकोश, पृ. ५०२)।

१६२. मिसेज़ सी.ए. एफ. राइस डेविड्स (Mrs. C A F. Rhys Davids) कहती हैं। "हमें ज्ञात नहीं कब यह बेजोड़ विरूप शब्द पुद्गल, पुग्गल प्राचीनतर पुरिस या पुलिस, अथवा पुरुष के लिए प्रतिस्थापित किया गया " – इत्यादि । देखिये फेस्टश्रिफ्ट मारित्ज़ विन्टरनिट्ज़, लाइपज़िग १९३३, पृ. १५८.

१६३. पालि पाराजिक भी पारंचिय तक पीछे अनुरेखित किया जाता है "जो प्रसंभाव्यतः जैनों और सम्भवतः अन्य स्कूलों (मतों) के द्वारा पारिभाषिक पद के रूप में प्रयुक्त होता था जिसके बाद उसका उपयोग बौद्धों द्वारा किया गया और अपने निजी नियमों में प्रयुक्त किया गया ।" – ई. जे. टामस (E J. Thomas): फेस्टश्रिफ्ट एम. विन्टरनिट्ज़, पृ. १६३.

१६४. देखिये तत्तसंग्रह, गाथाएं ३३६–३४९, भूमिका, पृ.cix.

१६५. सांख्यकारिका २५ आदि, सांख्यप्रवचनसूत्र (इलाहाबाद १९१५) पृ. २५० आदि, मैक्सम्युलर (Max Muller): सिक्स सिस्टम्स आदि पृ. ३२०.

१६६. विण्डिश (Windisch) ने ग्लेज़नेप (Glasenapp) की पुस्तक डी लेहरे फास कर्मान इन डेर फिलासफी डेर जैन्स नेख डेन कर्मग्रन्थाज़ डर्गस्टेल्ट, लाइपज़िग १९१५ का पुनरावलोकन करते हुए टिप्पणी की है "भारतीय धर्मों का केन्द्रीभूत निश्चितमत कर्म का सिद्धांत है" ऐसा एच.व्ही. ग्लेज़नेप अपने प्राक्कथन के प्रारम्भ में कहते हैं, किन्तु जितने विस्तृत रूप में उसे जैनदर्शन में उपयोग में लाया गया है उतना किसी भी ब्राह्मण या बौद्ध ग्रन्थ में नहीं लाया गया है । वहीं कर्मग्रंथों का विशिष्ट मूल्य था । और यह स्पष्ट है कि सिद्धांत की पारिभाषिक शब्दावलि प्राचीन सिद्धांत से ली गयी है ।" (गिशिश्ते डेर संस्कृत फिलालाजी, गुंड्रिस में से)

१६७. सांख्यकारिकाएं ५३-४, अनुगीता xiv ३६ आदि, कीथ (Keith) : सांख्य सिस्टम, पृ.३४.

१६८. कलेक्टेड वर्क्स भाग II,पृ. २४२.

१६९. श्वेताश्वतरोपनिषद I,३ एवं कीथ : सांख्य सिस्टम पृ. ३४.

१७०. मैक्सम्युलर, सिक्स सिस्टम्स आदि, पृ. ३३४ .

१७१. मैक्सम्युलरः सिक्स सिस्टम्स आदि, पृ. ५५९.

१७२. मैक्डानेल (Macdonell): वैदिक मायथालाजी पृ. २२ आदि ।

१७३. बेलवलकर एवं रानाडे : हिस्टरी आफ इंडियन फिलासफी, क्रियेटिव पीरियड, पृ. ३५१ आदि ।

१७४. ह्यूम (Hume) थर्टीन प्रिंसिपल उपनिषद्स भूमिका, पृ. ३७.

१७५. देखिये ई.जे.टामस (E.J.Thomas):दी हिस्टरी आफ बुद्धिस्ट थाट, पृ. १४८.

१७६. ततत्संग्रह, जी.ओ. एस. xxx,पृ. ८१५-९३६, भूमिका पृ. ४५-५०, १५३-६ और ६२-४.

१७७. श्लोकवार्तिक गाथाएं १११ आदि ।

१७८. सांख्यकारिका ६७.

१७९. बेलवलकरः बसुमल्लिक लेक्चर्स पृ. ६६-८.

१८०. रानाडे : कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषद फिलासफी, पृ. ३३५ आदि ।

१८१. एन आइडियालिस्टिक विउ आफ लाइफ पृ. ८४ आदि, साथ ही काउण्टर अटेक फ्राम दी ईस्ट सी.ई.एम. जोड (C.E.M .Joad)द्वारा लिखित, पृ. ७९ आदि ।

१८२. जोड (Joad) का यह कथन ऐसा प्रतीत होता है मानो कुन्दकुन्द की गाथा पुनः लिखी गयी हो । उसका अर्थ मात्र यह है कि वास्तविकता (निश्चयता) के निर्वचन में साम्प्रदायिक धर्म, जिनसे हमारे सम्बन्धो को काल और स्थान के संयोग से निश्चित किया जाता है, वास्तविक के भावातीत (लोकोत्तर) अनुभव के एकधर्म में तिरोहित हो जाते हैं ।

१८३. यह अप्रासंगिक न होगा, यदि मैं यहाँ साक्षेप काल क्रमानुसार व्यवस्थित, भारतीय साहित्य में, सर्वज्ञता के सम्बन्ध में विविध महत्वपूर्ण विवेचन के निर्देश देता हूं। यथार्थतः सर्वज्ञता सम्बंधी तर्कसंगत विवेचन समन्तभद्र (लगभग दूसरी सदी ईस्वी) से प्रारम्भ होता है जिन्होंने अपने ग्रंथ आप्तमीमांसा, श्लोक ५-६ में सर्वज्ञाता की सिद्धि करने का प्रयास किया है। सिद्धसेन, जो निस्संदेह कुन्दकुन्द के पश्चाद्वर्ती हैं, जो सम्भवतः समन्तभद्र के पश्चात् हुए, और जो सामान्यतः ईसा की छठवीं सदी के अन्त में हुए, माने जाते हैं (अथवा एक या दो शताब्दी पूर्व अथवा जैसा मैं विचार करता हूं इससे भी पूर्व के हो सकते हैं), अपने ग्रंथ सन्मति-प्रकरण (अहमदाबाद १९३० संस्करण), द्वितीय काण्ड में केवलज्ञान के विषय में विवेचन देते हैं ?, जो विशेष कर श्वेताम्बर आगम की दृष्टि की पृष्ठभूमि में सर्वज्ञाता या सर्वज्ञता जैसा ही है।अपने ग्रन्थ बृहत्-सर्वज्ञसिद्धि में अनन्तकीर्ति द्वारा उद्धृत कुछ गाथाओं से प्रतीत होता है कि समन्तभद्र द्वारा उपयोग में लाये शब्द दुरार्थ आदि पर धर्मकीर्ति द्वारा आक्षेप किया गया होगा। संभवतः अकलंक से पूर्व हुए पात्रकेसरी ने अपने पंचनमस्कारस्तोत्र में स्पष्ट रूप से केवलज्ञान को चुने हुए शब्दों में परिभाषित किया है जिसमें अक्रमं (जो युगपत् के समान है) हमें श्वेताम्बर आगम के विरुद्ध सिद्धसेन द्वारा उठाये गये आक्षेप का स्मरण दिलाता है, वे सर्वज्ञ की सिद्धि का भी प्रयास करते हैं (देखिये गाथाएं ४, १८-२० एम.डी.जे.जी भाग १३.) विद्यानन्द द्वारा संरचित प्रशस्ति (पुष्पिका) को सम्भवतः सम्पादक द्वारा रखा गया है जो डॉ. पाठक द्वारा प्रस्तावित पात्रकेसरी और विद्यानन्द की पहचान (एकरूपता) द्वारा भ्रमित हुए हैं, किन्तु अब उसे त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया जा चुका है। अकलंक (लगभग ईस्वी सातवीं सदी के मध्य) अपने ग्रंथ अष्टशती में, जो समन्तभद्र के ग्रंथ आप्तमीमासा की टीका है, विशेषरूप से बौद्ध आक्षेप को दृष्टि में रखकर समन्तभद्र की स्थिति को स्पष्ट रूप से समझाते हैं। कुमारिल (ईसा की सातवीं सदी के मध्य) अपने श्लोकवार्तिक (बनारस संस्करण के पृ. ८० आदि) में बौद्ध सर्वज्ञता और जैन केवलज्ञान (श्लोक १४१) पर आक्षेप करते हैं, जहाँ तक जैनों पर आक्षेप का सम्बंध है उनकी दृष्टि में समन्तभद्र के कथन हैं और सम्भवतः वे अकलंक की दृष्टि से परिचित हैं। कुमारिल के विचारों की शांतरक्षित (७०५-७६२ईस्वी) द्वारा अपने तत्वसंग्रह में और कमलशील (७१३-७६३ईस्वी) द्वारा उसी पर अपनी टीका में सम्पूर्ण एवं श्रमसाध्य रूप से आलोचना की गयी है। प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड में हमें कुछ विवेचन मिलता है। समन्तभद्र के ग्रंथ आप्तमीमांसा पर अष्टसहस्री टीका में विद्यानन्द ने अकलंक की अष्टशती को पूर्णतः

समाविष्ट किया है, श्लोकवार्तिक एवं सम्भवतः कुमारिल के कुछ अन्य ग्रंथों से तथा शान्तरक्षित के तत्वसंग्रह से परिष्कृत रूप में उद्धरण दिये हैं और उनके विचारों पर विस्तार से आक्षेप प्रस्तुत किये हैं। इन विवेचनों को हम उनके तत्वार्थश्लोकवार्तिक में पाते हैं और यह नाम कुमारिल के ग्रंथ के नाम के पश्चात् दिया गया प्रतीत होता है। सिद्धसेन के सन्मतिप्रकरण पर अपनी परिष्कृत टीका में अभयदेवसूरि इस विषय पर विस्तृत रूप से विवेचना करते हैं। बाद में कुछ पुस्तिकाओं (दीपिकाओं) को सर्वज्ञाता की सिद्धि के लिए लिखा गया। उदाहरणार्थ अनन्तकीर्ति की बृहत्-सर्वज्ञसिद्धि और लघुसर्वज्ञसिद्धि (संस्करण एम डी जे जी भाग I) में मुख्यतः कुमारिल के विरुद्ध आक्षेप दिये गये और वे समन्तभद्र से लेकर विद्यानन्द तक के विविध ग्रंथकारों के प्रति अत्यंत आभारी हैं। इन स्रोत्रों के सिवाय, यह संभव है कि सुमति, अनन्तवीर्य, वादिराज आदि के ग्रंथों में विवेचन दिया गया हो जिनमें से कुछ विलुप्त हो गये और कुछ अभी भी हस्तलिपिरूप में हैं। मात्र धार्मिक आवश्यकता को लेकर सर्वज्ञता को मान्यता दी गयी और उस पर विवेचन किया गया, किन्तु कुछ समय पश्चात् संयोगवश उसके मनोवैज्ञानिक पक्षों को भी विकसित किया गया।

१८४. देखिये पंचास्तिकाय ८४ आदि तथा उस पर प्रोफेसर चक्रवर्ती के टिप्पण (एस बी जे III पृ.८२ आदि), गाथा ८५ में वैशेषिक सिद्धात जैसी दृष्टि कुछ-कुछ दिखाई देती है, किन्तु घटकों (तत्वों) के लिए धातु शब्द का उपयोग, बौद्ध पारिभाषिक शब्द रूप में वैशेषिक शब्द की अपेक्षा अधिक (संभावित) है, देखिये नियमसार, २५ भी।

१८५. रस पाच प्रकार के होते हैं: कडुवा, खट्टा, तीखा, मीठा और काषायिक, जिनमें परमाणु के मात्र एक रस होता है। वर्ण पांच प्रकार के होते हैं: काला, नीला, पीला, सफेद और लाल, जिसमें परमाणु का केवल एक रंग होता है। गंध दो प्रकार की है: सुगंध और दुर्गंध, जिसमें परमाणु की दो में, कोई भी एक होती है। स्पर्श आठ प्रकार का होता है: मृदु और कठोर, गुरु और लघु, शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। परमाणु में प्रथम दो युग्म संभव नहीं हैं, शेष में से उसके दो स्पर्श होते हैं और तदनुसार युग्म को व्यवस्थित किया जा सकता है, परमाणु शीत और रूक्ष, शीत और स्निग्ध, उष्ण और रूक्ष, तथा उष्ण और स्निग्ध हो सकता है (देखिये तत्वार्थसूत्र V, २३, भाष्य और सर्वार्थसिद्धि सहित, तथा पंचास्तिकाय ८४-८)।

१८६. अंतः और बाह्य कारणों (?) वश किसी परमाणु में रूक्षत्व अथवा स्निग्धत्व के अंशों में वृद्धि और ह्रास द्वारा परिवर्तन की संभाव्यता भी मान्य है (देखिये गोम्मटसार, जीवकाण्ड गाथा ६१८)।

१८७. दी पाज़िटिव साइन्स आफ दी एन्श्येण्ट हिन्दूज़ पृ. ९७.

१८८. एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स, भाग II,पृ. १९९ .

१८९. स्याद्वाद पर विस्तृत विवेचन के लिए मेरा लेख जैन गज़ट भाग २६ , पृ. १८८-९७ देखिये ।

१९०. पंचास्तिकाय में कहा गया है कि आदेसवसेण सप्तभंग होते हैं, जबकि प्रवचनसार में पज्जायेण दु केणवि : व्यावहारिक रूप से इसका वही अर्थ है, क्योंकि पर्याय आदेश (सूचना का कथन) का सार रूप विषय है ।

१९१. मैक्सम्युलर : सिक्स सिस्टम्स आदि, पृ. २१५.

१९२. तत्तर्थसूत्र I, ३३,ए.बी. ध्रुव : स्याद्वादमंजरी (बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज़) गाथा २८ आदि पृ. २७६ आदि पर टिप्पणियाँ ।

१९३. जैन गज़ट भाग २६ पृ. १९१-२, यह नहीं है कि जैन ग्रंथकारों ने कभी सप्त भंगों के अन्य निर्वचन देने का प्रयास नहीं किया हो : स्याद्वाद की व्याकरणीय दृष्टि से, मैंने उदाहरणार्थ जयधवला टीका (शोलापुर हस्तलिपि, पृ. ३७) में इस प्रकार की एक रुचिपूर्ण गाथा प्राप्त की है ।

कथंचित् केनचित् कश्चित् कुतश्चित् कस्यचित् क्वचित् ।।
कदाचिच् चेति पर्यायात् स्याद्वादः सप्त-भंग-भृत् ।।

१९४. देखिये अर्धमागधी डिक्शनरी, इन्दौर, एस. व्ही.

१९५. ध्रुव : स्याद्वादमंजरी टिप्पण, पृ. ३०३, मैंने अर्धमागधी डिक्शनरी से विचार किया है और ज्ञात किया है कि नैगम, समभिरुढ़ आदि जैसे नयों को ठणांग और भगवती में खोजे जा सकते हैं , किन्तु, इन ग्रंथों में से कुछ मेरी पहुंच के बाहर हैं अतएव मैं कोश के निर्देशों का सत्यापन नहीं कर सका हूं ।

१९६ समयसार : गाथाएं ७, १२ *५, २७, ४६, ४७, ४८, ५६, ५९, ६०, ६७, ८४, ९८, ३६० आदि, और १६, *५, २७, २९, ३३, ५६, ६०, ८३, २७२, ३२४ आदि,

प्रवचनसार I,८९ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक I,२१,२२ पंचास्तिकाय १६१ निश्चय का उल्लेख करता है, बी. अणुवेक्खा ८२, ८५, ८६, ९१,

१९७. समयसार ८, ४३, ११, १२, १४, १४१, २७२ आदि ।

१९८. समयसार १४२.

१९९. वही, १४४, यह प्रश्न रह जाता है कि कुन्दकुन्द की कृतियों में संभवतः व्यवहार के सिवाय नयों के पारिभाषिक नाम में से हमें कोई भी प्राप्त नहीं होता है । कुन्दकुन्दाचार्य कृत एक ग्रंथ नयपाहुड कहा जाता है किन्तु वह अभी तक खोजा नहीं जा सका है ।

२००. तत्वार्थसूत्र I,३३, विशेषतः उस पर विविध टीकाएं ।

२०१. चक्रवर्ती : पंचास्तिकाय भूमिका, पृ. ५२ आदि और उपर्युक्त निर्देशित ध्रुव के टिप्पण ।

२०२. जैन साहित्य संशोधक I,४, सन्मतिप्रकरण पृ. ४४१, विशेषतः उसी पृष्ठ पर तथा अगले पृष्ठ पर दिये गये पाद-टिप्पण । स्याद्वादमंजरी की (लेखक) ध्रुव की भूमिका पृ. ७७ .

२०३. सूयगडं सम्पा. डा. पी. एल. वैद्य, पूना ।

२०४. पंचास्तिकाय १४ और ७२ ।

२०५. जैकोबी (Jacobi) : एस बी ई, ४५ भूमिका पृ. ४६, बेलवलकर : ब्रह्मसूत्र-भाष्य II, ii, टिप्पण, पृ. ११४, और ध्रुव : उसी की भूमिका पृ. ७६.

२०६. देखिये पी टी एस पालि डिकशनरी में समणो शब्द ।

२०७. दत्त : अर्ली बुद्धिस्ट मोनेकिज्म पृ. ६४ एवं ६९.

२०८. प्रश्न व्याकरणांग पर अभयदेव की टीका में सम्भवतः पर्याप्त पुरातन पारम्परिक परिभाषा सुरक्षित है, और वह इस प्रकार है : निग्गंथ-सक्क-तावस-गेरुय आजीव पंचहा समणा । सम्भवतः इसका अर्थ सामान्य रूप में मागधी विरागी (एकांतवासी) है ।

२०९. इंडियन हि. क्वार्टरली V III, पृ. ७२१

२१०. दसवेयालियसुत्त अधि. ७, साथ ही आचारांग एवं अन्य ग्रंथ ।

२११. सांख्यप्रवचनसूत्र V ,५४, विशेषतः विज्ञानभिक्षु का भाष्य , देखिये दासगुप्ता : हिस्टरी आफ इंडियन फिलासफी भाग I, पृ. ४६१, ४८७ .

२१२. सर ओलाइवर लाज (Sir oliver lodge) : रिलेटिविटी पृ. ३९ आदि ।

२१३. जे. एफ. वुल्फेंडेन (J.F.W olfenden) दी एप्रोच टू फिलासफी, पृ. २७ आदि, साथ ही जोड (Joad) का काउण्टर अटेक फ्राम दी ईस्ट पृ. ९५ आदि ।

२१४. दर्शन के बदले स्याद्वाद को प्रतिस्थापित करते हैं, तथा विविध नयों को दार्शनिकों की अवधारणाओं के बदले प्रतिस्थापित करते हैं : और तुलनात्मक स्थिति वही रहती है ।

२१५. नयवाद तथा स्याद्वाद के मध्य ठीक कालक्रम सम्बन्ध, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के अधीन सात या छः नयों का समूहीकरण, निश्चय और व्यवहार से इन दो नयों का समन्वय अथवा समरूप पहचान : ये बिन्दु हैं जिनका आगे का अध्ययन नियमनिष्ठ रूप से ऐतिहासिक एवं भाषा वैज्ञानिक पथों पर आवश्यक है ।

२१६. पंचास्तिकाय भूमिका पृ. २८५.

२१७. स्याद्वादमंजरी टिप्पणियाँ पृ. २७२.

२१८. स्याद्वाद अथवा सप्तभंगी ने प्राच्यविद्याविदों का ध्यान आकर्षित किया, मुख्यतः इसलिये कि बादरायण के ब्रह्मसूत्र में एक सूत्र निहित है . न एकस्मिन्न सम्भवात् II,ii,33 ,जिसमें जैनों के अनेकान्तवाद के विरुद्ध आक्षेप (वस्तुतः) गर्भित है, और इस सूत्र की भावना को न्यायसंगत रूप से शंकर, रामानुज, वल्लभ और अन्य जैसे अनेक टीकाकारों ने अमर बना दिया है । वह जैन परिभाषा ठीक रूप से कहना संभव नहीं है जो बादरायण की दृष्टि में रही होगी, किन्तु सभी प्रसम्भावनाओ में, जैन परिभाषा में एक शब्द एकस्मिन् निहित था, और जैन टीकाओं में अब मिलने वाली ऐसी परिभाषाओं का वह सम्भवतः अग्ररूप था :

प्रश्नवशाद् एकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि –प्रतिषेध– विकल्पना सप्तभंगी (राजवार्तिक पृ. २४),अथवा वह गुमनाम गाथा जिसका स्रोत मैं खोज नहीं सका हू किन्तु जो जयसेन द्वारा पंचास्तिकाय पर अपनी टीका में उद्धृत की है :

एकस्मिन्नविरोधेन प्रमाण–नय–वाक्यतः ।

सदादि–कल्पना या च सप्तभंगीति सा मता ।।

जैनधर्म पर प्रायः सभी शास्त्रों में स्याद्वाद सम्बन्धी कुछ विवेचन दिया गया है, इसलिए इस पाद टिप्पण में विस्तृत पूर्ण निर्देशिका देने की गुंजाइश नहीं है । स्याद्वाद

पर जैन प्राविधिक ग्रंथों का यथार्थ प्रारंभ करने के पूर्व निम्नलिखित पुस्तकों का पढ़ना लाभदायक सिद्ध होगा । जैकोबी (Jacobi) का शोधपत्र "दी मेटाफिजिक्स एण्ड एथिक्स आफ दी जैनाज" , चक्रवर्ती : पंचास्तिकाय, फिलासाफिकल इण्ट्रोडक्शन (एस बी जे III) , दासगुप्ता : ए हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी भाग I, जैनधर्म पर अध्याय : राधाकृष्णन : इंडियन फिलासफी भाग I, जैनधर्म पर अध्याय ; ध्रुवः स्याद्वादमंजरी भूमिका एवं टिप्पण । प्रोफेसर ध्रुव ने अपनी भूमिका और टिप्पण में महत्वपूर्ण ग्रंथों का उल्लेख किया है ।

२१९. अपने आगमों को जैनों ने जो महत्व प्रदान किया है उसे प्रवचनसार के तृतीय खंड (पुस्तक) में देखा जा सकता है ।

२२०. उपनिषदों में स्वयम्भू शब्द का उपयोग हुआ है, और वह स्व अस्तित्ववान् ब्रह्म (ईश ८, कठ ४, १, आदि) को सूचित करता है । जैन भी अपने देवता को स्वयम्भू कहते हैं । इसका उपयोग करते हुए उनका तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत आत्मा (स्वयंभूत) पूर्णाधिकारी (सार्वभौमिक) हो गयी है । वेदान्ती अर्थ यह है कि वह स्वसृष्ट और स्व-अस्तित्ववान् है । यह अभिधान विविध जैन ग्रंथकारों द्वारा उपयोग में लाया गया है : कुन्दकुन्द द्वारा प्रवचनसार I, १६, में, समन्तभद्र द्वारा अपने स्वयंभू-स्तोत्र में, सिद्धसेन द्वारा अपनी स्तुतियों के प्रारंभ में, पूज्यपाद द्वारा अपनी सिद्धभक्ति ४ में, और अनेक अन्य पश्चाद्वर्ती ग्रंथकारों द्वारा ।

२२१ कीथ (Keith)ः सांख्य सिस्टम पृ. १५-६, उपनिषद साहित्य ग्रंथों के मात्र तृतीय समूह (और आंशिक रूप से चतुर्थ समूह) में पुनर्जन्म (भवान्तर) जैसे विचारों को निश्चित तथ्य के रूप में मान्य किया गया है, देखिये बेलवलकर एवं रानाडेः हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, भाग II,पृ. ३७५.

२२२. इस सिद्धान्त को मैंने सर्वप्रथम अपने शोधपत्र में प्रस्तुत किया था "निर्वाण पर महावीर और बुद्ध" जिसे १९३२ में संस्कृत एसोसियेशन, राजाराम कालेज, कोल्हापुर में पढ़ा गया था, वह कालेज मेगेज़ीन में छपा था और बाद में उसका मुख्य अंश जैन गज़ट भाग ३०, ६ में प्रकाशित हुआ था । जैन और बौद्ध आत्मा सम्बन्धी धारणाओं के सम्बन्ध में कतिपय प्रकरणों पर कुछ ऊहापोह करते हुए आनन्द कौसल्यायन, बर्लिन , जैन गज़ट भाग ३०, II में लिखते हैं " वैदिक, ब्राह्मण, उपनिषद और बुद्ध-जैन संबन्धी विचारधाराओं का श्री उपाध्ये द्वारा किया गया सर्वेक्षण इस विषय के किसी भी लेखक

को उपयोगी सिद्ध होगा । साथ ही उनका इस सुझाव पर बल कि स्वदेशजात वैदिकेतर विचारधारा से आर्य विचारधारा को कुछ प्रेरणा मिली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।" इसी विषय की अधिक विस्तार से मैंने अपने जैनकर्मसिद्धान्त नामक निबन्ध में विवेचना की है जिसके प्रकाशन की प्रतीक्षा है ।

२२३. तुलना करिये दसवेयालिय, X II,९-१०.

२२४. आचारांग I,९ १ आदि और द्वितीय भाग से अनेक अन्य गद्यांश, दसवेयालिय V I ६५, उत्तराध्ययन २१ ४९,के.पी. जैन स्टूडिए मटीरियलि डी स्टोरी डेल्ले रिलीजनी, III फार १९२७, में बौद्ध साहित्य में जैन निर्देश (दी जैन रिफरेन्सेज़ इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, तथा जैन होस्टल मेगेज़ीन, अलाहाबाद में प्रकाशित उनके अनेक शोधपत्र, विण्टरनित्ज (W internitz) इंडियन लिटरेचर II पृ. ४३४.

२२५. देखिये पंचसुत्त पृ. ११ और अनुगामी पर मेरी भूमिका, पाति-मोक्ख की एक उपशाखा उपोसथ संग्रह की खोज बौद्धेतर स्रोतों की पृष्ठभूमि में की जाती है और वे बिम्बसार काल के कुछ धार्मिक आदेशों में से बिम्बसार की विनती के अनुसार बुद्ध द्वारा मान्य किये गये थे , यह विचारणीय है कि कम से कम कुछ समय के लिए बिम्बसार जैनमत के अनुयायी थे – देखिये दत्त (D utt) : अर्ली हिस्टरी आफ बुद्धिज्म एण्ड दी बुद्धिष्ट स्कूल्स , पृ.११५.

२२६. अर्ली बुद्धिष्ट मोनेकिज्म पृ. ६० ।

२२७. देखिये पृ. ८३ ऊपर, साथ ही दत्त (D utt) : अर्ली बुद्धिस्ट मोनेकिज्म, पृ. ४१ आदि

२२८. दत्त : अर्ली बुद्धिस्ट मोनेकिज्म, पृ. १२० और अनुगामी ।

२२९. अमृतचन्द्र पर कुछ टिप्पणियों के लिए देखिये पीटरसन (Peterson) : रिपोर्टस IV , पृ. ix, जैन हितैषी, भाग ivx पृ. २५५, पंडित प्रेमी और पंडित जगदीशचंद्र द्वारा जैन जगत् में कुछ अतिरिक्त टिप्पण लिखे गये हैं , जिनके वास्तविक निर्देश मेरे द्वारा खो गये हैं ।

२३०. धर्मामृत (अनगार) पर उनकी टीका, पृ. १६०, एम डी जे जी क्रमांक १४ ।

२३१. यह और तत्त्वार्थसार एस जे जी भाग I में प्रकाशित हैं पूर्व का आर जे जी में प्रेमी के हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित है ।

२३२. एस जे जी क्रमांक १५, कलकत्ता में परमाध्यात्म- तरंगिणी शीर्षक सहित प्रकाशित। शुभचन्द्र पर मेरा शोधपत्र एनल्स आफ दी बी. ओ.आर.आई. भाग X II, ii पृ. १३२ एवं अनुगामी, में देखिये।

२३३. प्रोफेसर बेलवलकर : केटेलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनस्क्रिप्टस इन दी लायब्रेरी आफ बी बी आर ए एस, भाग III- IV पृ. ४३०.

२३४. संस्करण एम डी जे जी भाग १३, पृ. १६१ आदि, वह बीसवीं गाथा है जिसे मेघविजय ने उद्धृत किया है।

२३५. देखिये ऊपर पृ. ५० तथा पाद-टिप्पण क्रमांक ५ पृ. ५१ पर।

२३६. उदाहरणार्थ देखिये I,१९ (अदिंदियो), ५१ (विसमं) आदि,

२३७. पंचास्तिकाय, गाथा १४६ पृ. २१२ पर।

२३८. समयसार, पृ. ४०४.

२३९. पंचास्तिकाय गाथा १७२, पृ. २५१ पर।

२४० मात्र जावइया आदि जयधवला (शोलापुर हस्तलिपि के पृ. २८) में उद्धृत है। प्रसंग और भाषिका झलक से निर्णय करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसे सन्मतिप्रकरण में से उदधृत किया गया है। जयधवला नामक टीका के अन्तिम रूप का है जिसमें प्राचीनतर अंश समन्वित है। इसलिये यह गाथा अंतिम परत की हो सकती है। सम्भावना है कि यह गाथा और भी पूर्व के साहित्य ग्रन्थों में खोजी जा सके।

२४१. इन पाठान्तरों को अधिक महत्व नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि इन संस्करणों में कोई भी आलोचनात्मक नहीं है।

२४२. आगमोदय समिति संस्करण भाग I,पृ. ४२५.

२४३. सिद्धसेन की तिथि पर अनेक विद्वानों ने लिखा है। मैं अपनी पहुंच के भीतर मात्र कुछ चुने हुए निर्देशों को दे सकता हू : विद्याभूषण ने उन्हें लगभग ४८०-५५० ईस्वी में रखा है (इंडियन लाजिक पृ. १७३), जिनविजय ने उन्हें पांचवी सदी ईस्वी में रखा है (जैन साहित्य संशोधक I ii,पृ. ८२ पाद-टिप्पण, तथा जीतकल्प के अहमदाबाद १९२६ के संस्करण पर उनकी भूमिका, सिद्धसेन ,पर उनका लेख देखिये जैन हितैषी, भाग १२, पृ. २२ आदि, भाग १४ पृ. ५२, १३१,१५३), डा. जैकोबी (Jacobi) ने सिद्धसेन को सातवीं सदी ईस्वी के अंतिम चरण में रखा है (समराइच्चकहा, भूमिका, पृ.

iii) देखिये पंडित जुगलकिशोर का स्वामी समन्तभद्र पृ. १२८ आदि पर विवेचन, डा. वैद्य ने उन्हें लगभग ७०० ईस्वी में रखा है (न्यायावतार भूमिका पृ.२१, बम्बई १९२८), पंडित सुखलाल ने उन्हें विक्रमसंवत् की पांचवी सदी में रखा है (देखिये सन्मतिप्रकरण पृ. ३५ आदि पर उनकी गुजराती भूमिका), विण्टरनित्ज़ (Winternitz) : इंडियन लिटरेचर भाग II, पृ. ४७७ पाद-टिप्पण २, और भी देखिये हीरालालः केटेलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनस्क्रिप्ट्स इन सी.पी. एण्ड बरार, पृ. XII.

२४४. इस प्रकार कहते हुए मेरी दृष्टि में पूज्यपाद का सिद्धसेन के प्रति उनकी संस्कृत व्याकरण में निर्देश है, और यह कि उन्होंने सिद्धसेन की स्तुति में से आंशिक रूप में एक गाथा उद्धृत की है (देखिये सर्वार्थसिद्धि VII,१३), मुझे ज्ञात है, किसी भी तरह कि सिद्धसेन नाम वाले अनेक ग्रंथकार हुए हैं ।

२४५. देखिये तत्वसंग्रह, जी.ओ.एस. पृ. ८२ पर डा. भट्टाचार्य की भूमिका ।

२४६. मैंने अन्यत्र बतलाया है कि अकलंक सातवीं सदी ईस्वी के अंतिम चरण से पश्चाद्वर्ती नहीं हो सकते हैं (एनल्स आफ दी बी.ओ.आर.आई. XIII,ii,पृ. १६४ पाद-टिप्पण) अमृतचन्द्र निश्चितपूर्वक अकलंक से पश्चाद्वर्ती हैं जो कुमारिल से पूर्व के हैं ।

२४७. तुलना करिए प्रवचनसार के पृ. ११२ से ।

२४८. कुछ हस्तलिपियों में उन्हें पंचास्तिकाय की टीका के अंत में रखा गया है , देखिये मल्लिषेण की टीका पर पाद-टिप्पण ।

२४९. जयसेन की कही जाने वाली टीकाओं के विषय में अधिक संभ्रान्ति दिखाई देती है । बाद में वर्णित बेलगांव से प्राप्त हस्तलिपि जयसेन की टीका के समान ही है , उनके नाम का उल्लेख बिल्कुल भी नहीं है, किन्तु प्रवचनसार-टीका के अंत में (म)ल्लिषेण नाम है । पीटरसन (Peterson) के उद्धरणों (रिपोर्ट्स IV ,पृ. १५३) के अनुसार पंचास्तिकाय पर ब्रह्मदेव जी की एक टीका है, किन्तु पीटरसन द्वारा दिये गये उद्धरणों से तुलना करने पर मुझे ज्ञात हुआ है कि वह जयसेन की टीका से शब्दशः मिलती है जो आर जे एस में छपी है । इस संभ्रान्ति को मात्र तभी स्पष्ट किया जा सकता है जब कि जयसेन की टीका की और अधिक हस्तलिपियाँ प्राप्त हो जायें : मुझे खेद है कि मैंने इस बिन्दु को इतनी देर से पता लगा कि उस पर आगे कोई प्रकाश नहीं डाल सका ।

२५०. देखिये प्रवचनसार पृ. १२१, १६२ और १८७, समयसार पृ. ११६

२५१. ई.आई. II पृ.१९९

२५२. देखिये महापुराण क्रमांक ५८ की परिचायक गाथाएं ।

२५३. पीटरसन (Prterson) रिपोर्टस IV पृ.१५२.

२५४. समयसार पृ. ५६८.

२५५. पंचास्तिकाय की अपनी टीका में जयसेन ने निम्नलिखित ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया है : द्रव्यसंग्रह (पृ.६–७) चारित्रसार (पृ. २१९) सर्वार्थसिद्धि–टिप्पणक (पृ.२१९), तत्वानुशासन (पृ.२१२, २५३), उपासकाध्ययन, आचार (सार ?), आराधना (पृ. २५४), त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण (पृ. २५४) उन्होंनें अनेक अनाम रूप गाथाओं के उद्धरण दिये हैं, और जहां तक मैं उनके स्रोतों का पता लगा सका हूं इन उद्धरणों में से कुछ निम्नलिखित जैसे ग्रंथों में प्राप्य हैं –
समवसरण–स्तोत्र (पृ. ४,८ पर उद्धरण), दशभक्तियाँ (पृ.६, १२६ पर), आचारसार (पृ. ८ पर), इष्टोपदेश (पृ. ४४ पर), योगसार (पृ. ६१ पर), आलापपद्धति (पृ. १०५ पर), गोम्मटसार (पृ. १२६, १८२ पर) अमर–कोश (पृ.१३५ पर), मोक्खपाहुड (पृ. २११ पर), भावपाहुड (पृ. २१२, २५४ पर) । मात्र एक लेखक जिनके नाम का उल्लेख है वह पूज्यपाद हैं । समयसार की अपनी टीका में वे समन्तभद्र (पृ. ४५९) और योगीन्द्रदेव (पृ.४२४) का उल्लेख करते हैं, तथा बिना ग्रंथकार के नाम के वे गोम्मटसार, समाधिशतक, परमात्मप्रकाश जैसे ग्रंथों से उद्धरण देते हैं । वे एक ग्रंथ सिद्धान्त (पृ. २५०, ४२४, साथ ही पंचास्तिकाय में पृ. २५४ और साथ ही प्राभृत एवं तत्वार्थ) का उल्लेख करते हैं जिनसे उनका प्रयोजन धवला और जयधवला टीकाएं हैं । मुझे कहना चाहिए कि मेरी यह टिप्पणी सम्पूर्ण नहीं है ।

२५६. देखिये प्रवचनसार पृ. २४०, समयसार पृ. ११, ५२,१७८, २३६, २४३, २४९ और ३०३.

२५७. देखिये प्रवचनसार पृ. २७०, कभी कभी वे अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख करते हैं, कभी मात्र उनकी टीका का निर्देश करते हैं, कभी कभी उसे वार्तिक– व्याख्यान से सम्बोधित करते हैं, देखिये पंचास्तिकाय पृ. ९, १६६, प्रवचनसार पृ.१६, १४८

२५८. तुलना करिये समयसार पृ. २०४–५, ३९४, ५४५

२५९. संदर्भों के लिए देखिये प्रोफेसर ध्रुव की स्याद्वादमंजरी पर टिप्पणियाँ पृ.१४

२६०. सन्मति-प्रकरण पृ. ६३, पाद-टिप्पण ७, पंडित जुगलकिशोर को धन्यवाद है जिन्होंने मेरा ध्यान इस निर्देश की ओर तथा नोकम्म आदि के दूसरे (आगे) की ओर आकर्षित किया ।

२६१. चारित्रसार पृ. २२, संस्करण एम डी जे जी भाग ९ .

२६२. पृ.६३८, संस्करण एम डी जे जी भाग १४ .

२६३. पृ. ५१, संस्करण एम डी जे जी भाग १३ .

२६४. देखिये कर्णाटककविचरिते भाग I, पृ. १६८, आचारसार, भूमिका एम डी जे जी भाग ११.

२६५. ई. सी. II, १२७, १४० आदि ।

२६६. नये तथ्यों के प्रकाश में मैंने अपनी पहले की आयुक्तियों को किंचित् सुधारा है, देखिये एनल्स आफ दी बी.ओ.आर.आई X II,ii, पृ. १५८ .

२६७. गद्य पुष्पिका इस प्रकार है : "इदु समस्त- सैद्धान्तिक चक्रवर्ति - श्री नयकीर्ति देवनन्दन-विन (ए?) य- जनानन्दन- निजरुचि- सागरनन्दि- परमात्म-देव सेवा-सादित आत्मस्वभाव- नित्यानन्द- बालचन्द्रदेव विरचित-समयसार प्राभृत-सूत्रानुगत- तात्पर्य-वृत्ति । उपर्युक्त दत्त गद्यांश के मेरे इस अनुवाद से , यह स्पष्ट है कि मैं डा. वेंकटसुब्बैया की व्याख्या से सहमत नहीं हूं (देखिये उनका केलवु कन्नड कविगळ जीवन-काल-विचार पृ. १९०) जिनकी खुद अपनी अड़चनें हैं : उनके प्रस्तावानुसार यदि शब्दों को अलगकर दिया जाये, तो वे बिना आवश्यक व्युच्छित्ति के रह जाते हैं, यदि इस प्रकार विलग सभी शब्दों को बालचन्द्र के साथ आवश्यकीय रूप से लिया जाये, तो विशेषण सिद्धान्तचक्रवर्ती बालचन्द्र के साथ जाता है और वह औपसंहारिक गाथाओं में बालचन्द्र के ही कथन के विरोध में जाती है । और अंत में सागरनन्दि के रूप में बालचन्द्र का दूसरा आध्यात्मिक गुरु होना आक्षेपपूर्ण नहीं है । कारण यह है कि नयकीर्ति का देहावसान ११७६ ईस्वी में हुआ और बालचन्द्र कम से कम १२३२ ईस्वी तक जीवित रहे । ऐसा प्रतीत होता है कि नरसिंहाचार्य के ध्यान से किसी प्रकार सागरनन्दि का नाम निकल गया, यद्यपि वे सुझाव देते हैं कि नयकीर्ति के किसी शिष्य के साथ बालचन्द्र अध्ययन किये प्रतीत होते हैं ।

२६८. अनेक बालचन्द्र हुए हैं। विभिन्न बालचन्द्रों पर यद्यपि बहुत कुछ लिखा गया है, फिर भी विभिन्न शिलालेख निर्देशों के प्रकाश में एक बार और सम्पूर्ण स्थिति को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यहाँ मैंने केवल अध्यात्मिबालचन्द्र तक ही अपने को सीमित रखा है जो कुन्दकुन्द की कृति के टीकाकार हैं, और मात्र संबन्धित पुरालेखीय निर्देशों का उपयोग किया गया है। बालचन्द्रों के विभिन्न विवेचनों के किये देखिये आर. नरसिंहाचार्य : कर्णाटककविचरिते भाग I,पृ. ९९ आदि, २५३ अनुगामी, ३११ अनुगामी, भाग III भूमिका पृ ४५ अनुगामी। वेंकटसुब्बैया : केवलु कन्नड कविगळ जीवन काल–विचार, पृ. ३३ अनुगामी, पृ. १९० अनुगामी, और अभिनव पम्प, धारवार १९३४ पृ. १–४१ पर पई (Pai) का लेख। आसड के उपदेश – कन्दली के टीकाकार रूप में बालचन्द्र के लिए देखिये पीटरसन (Peterson) की रिपार्टस III,पृ. ३९.

२६९ शिलालेखों से मुझे दो सागरनन्दि ज्ञात हुए हैं : प्रथम वे जिन्हें ११४५ ईस्वी के किसी शिलालेख में उल्लेखित किया गया है (देखिये ई.सी. IV ,नगमंगल क्रमाक ७६) और दूसरे, सागरनन्दि सिद्धान्तदेव एक श्रवणबेलगोल शिलालेख में उल्लिखित हैं (ई.सी. II ३८०), और उनके किए बेलगोल के ठीक सानिध्य में शान्तिनाथ मन्दिर रेचिमय्य द्वारा बनवाया गया था। एक अन्य १२२० ईस्वी के शिलालेख (ई.सी. V अर्सिकेरे क्रमाक ७७) में सागरनन्दि का उल्लेख है जिसमें आगे सूचित किया गया है कि रेचिमय्य पहले कलचूर्यों का मंत्री था और बाद में वह होयसल राजा बल्लाळ II की शरण में स्वयं चला गया था (ई. सी., II भूमिका पृ. ३३)। इस प्रकार यह द्वितीय सागरनन्दि १२२० ईस्वी तक जीवित था और उसका निवास स्थान भी श्रवणबेळगोळ के आसपास था, इस प्रकार यह सम्भव है कि बालचन्द्र को नयकीर्ति के देहावसान के पश्चात् इन सागरनन्दि से आध्यात्मिक संस्कृति के पाठ प्राप्त हुए हों। हमारे पास यह कहने के लिए सुनिश्चित साक्ष्य नहीं हैं कि सागरनन्दि नयकीर्ति के भी शिष्य (नन्दन) थे परन्तु बालचन्द्र द्वारा उन्हें ऐसा कहा जा सकता था, जबकि नयकीर्ति एक महान् गुरु महामण्डलाचार्य, थे। समसामयिक सागरनन्दि की उपस्थिति गद्य पुष्पिका के मेरे निर्वचन को पुष्ट करती है।

२७०. ई.सी. II, ३४५, ३३५ ईस्वी सन् ११९५ का।

२७१. ई. सी. II ३२७, IV नगमंगल क्रमांक ७०.

२७२. ई.सी. II,६६

२७३. ई. सी. II,३६, ३२७, ३३ और ३३५.

२७४. ई.सी. II,३२६, ३२७ ।

२७५. ई.सी. II १८५, १९३, १९५, १९८, ३३१ आदि ।

२७६. ई.सी. II,३२७, V चेन्नरायपत्तन् क्रमांक ५० ।

२७७. निसिदि के महत्व के लिए देखिये एनल्स आफ दी बी.ओ.आर.आइ.भाग X IV , iii-iv,पृ. २६४ पर मेरा टिप्पण ।

२७८-२७९- ई.सी. II,३३५, १८६.

२८०. वही २३४.

२८१. कविचरिते I,पृ. २५३.

२८२. जयसेन और बालचन्द्र के मध्य उभयनिष्ठ शब्दों को तिर्यगक्षरों में रखा गया है, जबकि कन्नड व्युच्छित्तियों (पर्यवसान) और शब्दों को जो मात्र प्रकरणान्तर रूप हैं, तिर्यक्षरों में नहीं रखा गया है ।

२८३. उदाहरणार्थ देखिये I,१५.

२८४. उदाहरणार्थ देखिये II,४६,-७

२८५. स्वामी समन्तभद्र पृ. १६७, पादटिप्पण ।

२८६. व्ही.एल. वृत्तियिं

२८७. व्ही.एल. निर्वणिसिदं

२८८. मैं पंडित बाहुबलि शर्मा, सांगली को धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने कृपया मुझे बालचन्द्र की टीकाओं की हस्तलिपि (स्वाध्यायार्थ) दी वह प्राचीन कन्नड अक्षरों की लिपि में आधुनिक जल-चिन्ह कागजों पर लिखी गयी है, उसे हलिगंलि के भुजबलि अनन्तप्पा शास्त्री ने शक १८२४ (+ ७८ = १९०२ ईश्वी) द्वारा प्रतिलिपि रूप लिखा गया ।

२८९. इस हस्तलिपि के वर्णन के लिए देखिये पृ. ४२ अंत में, प्रभाचन्द्र की टीका का प्रारम्भ इस प्रकार है (जो प्रशस्ति रूप है) :

वीरं प्रवचनसारे निखिलार्थं निर्मलं जनानन्दम् ।

वक्ष्ये सुखाववोधं निर्वाण-पदं प्रणाम्यहम् ।।

अंत में (औपसंहारिक) पुष्पिका इस प्रकार है :

इति श्री प्रभाचन्द्रदेव-विरचिते प्रवचनसार-सरोजभास्करे इत्यादि ।

२९०. विविध प्रभाचन्द्रों के लिए और इन प्रभाचन्द्र के लिए देखिये पंडित जुगलकिशोर की टिप्पणियाँ जो श्रावकाचार, एम डी जे जी भाग २४ की भूमिका के पृ. ६३ पर दी गयी हैं ।

२९१. एम डी जे जी भाग २० पृ. ४ आदि पर भूमिका ।

२९२. कोष्ठकों में मेरे संशोधनों सहित गाथा इस प्रकार है :

वरसारत्तयणिऊणो सुद्धं परओ (सुद्धप्प-रओ) विरहिय-परमाओ (वो) ।

भवियाणं पडिबोहणकरो पहाचंद णाम मुणि ।।

२९३. ई.सी. III नंजनगुड क्रमाक ६४ .

२९४. ई.सी. II २५४.

२९५ ई. सी. V बेहुर क्रमाक १३, १३२, कर्णाटककविचरिते भाग I, पृ. ३९१.

२९६. ई.सी. II ३३४.

२९७. केटेलाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेनस्क्रिप्ट्स इन सी. पी. एण्ड बरार पृ ६६३, ३७१

२९८. यह हस्तलिपि रूप में कागज पर है जो १०x६ इंच आकार में है । इसमें ३९४ पत्र (पत्रे) हैं जिनमें दोनों ओर स्पष्ट देवनागरी लिपि में लिखा गया है और कुछ शब्द तथा वाक्य यहाँ और वहा लाल स्याही से लिखे गये हैं । प्रत्येक पृष्ठ में १४ पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति प्रायः ३४ अक्षरों सहित है । १०९ पत्रों को पंचास्तिकाय टीका के लिए, ११०-२४३ को प्रवचनसार टीका के लिए और २४४-३९४ को समयसार-टीका के लिए, अर्पित किया गया है । यद्यपि हस्तलिपि भलीभांति सुरक्षित है, तथापि ३९३ और ९४ (पृष्ठों) के बीच का कुछ अंश विलुप्त हुआ प्रतीत होता है । पृष्ठ १०८ पर हमें प्रशस्ति प्राप्त हुई है " अज्ञान-तमसो लिप्तो आदि" जो जयसेन की टीका के इस संस्करण में अंत में छपी है, विस्मयरूप से वाक्य " नृप-विक्रम संवत् ।।१३६९।। वर्षेराश्विन-सुदि ।।१।। भोमदिने " प्रथम गाथा और प्रशस्ति के अवशेष अंश के मध्य पड़ता है (अंतराक्षेप रूप है) प्रवचनसार टीका के अंत में प्रशस्ति है "श्री ल्लिषेणाचार्य कृता टीका

भद्रं भूयात् " जिसमें श्री के पश्चात् म विलुप्त हुआ प्रतीत होता है । समयसार टीका के अंत में पत्र ३१४ पर, हमें लिपिकर्ताओं की प्रशस्तियाँ, पहली देवनागरी में और दूसरी कन्नड लिपि में प्राप्त हुई हैं । शक १६९२ विकृत–नाम–संवत्सरे संवत् १८२७ आषाढ–मासे शुक्लपक्षे दशमी–तिथौ स्वा (––?) तिनक्षत्रे सोमवासरे सिद्धयोग युक्ते श्री बेडकीहालग्रामिल–सान्तप्प–सत्पुत्र–भुजबलिना स्व–ज्ञानावरणीय–कर्म–क्षयार्थं स्व–हस्तेन प्राभृतसार–नाम पुस्तकं लिखितं ।। श्री नान्दनी– ग्रामे आदीश्वर चैत्यालये ।।, मंगलं भूयात् ।। श्री सुमति ** शिष्य–भुजबलि–नामधेयेन श्री सम्यक्त्व–प्राप्त्यर्थं ।। इसके पश्चात् कन्नड अक्षर लिपि में प्रशस्ति है : शक–वर्ष १७१३ नेय विरोधिकृतसंवत्सरद मार्गशिर–बहुळ नवमियल्लु श्रीमल्लक्ष्मीसेन–भट्टारकस्वामियवरिगे जिनमति–अक्कगळ जियनु तनगे केवलज्ञान–निमित्यवागि बरसि– कोट्टंथ प्राभृत– ग्रंथक्के आचन्द्र–तारकं मंगलमस्तु ।। श्री ३ ।।

ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान हस्तलिपि शक १७१३ (+ ७८–१७९१) में एक ऐसी १७७० ईस्वी में लिखी गई हस्तलिपि में से लिखी गयी जो प्रत्यावर्तन रुप से १३१२ ईस्वी की किसी हस्तलिपि से उतारी गयी है । यह भी माना जा सकता है कि वर्तमान हस्तलिपि १७७० ईस्वी में लिखी गयी, और जिनमति के द्वारा १७९१ ईस्वी में कन्नड प्रशस्ति को लिखने के पश्चात् लक्ष्मीसेन को भेंट स्वरूप दी गयी ।
बेडकीहाल और नान्दणी ग्राम एक दूसरे से समीप हैं, प्रथम तो बम्बई प्रेसीडेन्सी के जिला बेलगाव में है और दूसरा कोल्हापुर क्षेत्र में है ।

२९९. वह मल्लिषेण के लिए लिपिक की त्रुटि प्रतीत होती है ।

३००. प्रोफेसर हीरालाल ने मुझे लिखा है " यह असंभाव्य नहीं है कि ये मल्लिषेण उनके तत्सम हों जिन्हें श्रवणबेलगोल शिलालेखों [(ई.सी. II ६७, ११२८ ईस्वी के)] में से एक में स्मरण किया गया है जिनके विषय में उस प्रशस्ति में कहा गया है यस्माद्–आगम–निर्णयो यमभृताम् (गाथा ६९)"

३०१. यह सूचना मुख्यतः जैनहितैषी, भाग X III पृ. १०, १७ में प्रेमी द्वारा लिखित जैन हिन्दी साहित्य पर निबन्ध पर आधारित है ।

३०२. भण्डारकार : कलेक्टेड वर्क्स भाग II पृ. २२४.

३०३. वृन्दावन द्वारा रचित प्रवचनसार का एक हिन्दी छंदबद्ध पद्य है । उनका जन्म संवत् १८४८ में हुआ था । वे गोयल गोत्र के अग्रवाल थे । उनके पिता का नाम धर्मचन्द्र था । वे बनारस में रहते थे । उन्होंने कुछ रचनाएं जैन पूजापाठ पर कीं, और पंडित प्रेमी कहते हैं कि उनकी छन्दशतक एक आदर्श पाठ्यपुस्तक है (प्रेमी : वही, पृ. २२–३) ।

३०४. यह परिच्छेद यहाँ जर्नल आफ दी यूनिवर्सिटी आफ बाम्बे भाग II परि. ii से कुछ संशोधनों एवं अतिरिक्त सामग्री सहित पुनर्मुद्रित किया गया है ।.मैं प्रकाशन बोर्ड के प्रति आभारी हूं जिसने कृपया मेरी विनती पर प्रवचनसार की भूमिका में इस लेख को पुनर्मुद्रित करने की अनुमति प्रदान की ।

३०५. प्रिंट्ज (Printz) : भास का प्राकृत (बी.पी.), पृ. ५

३०६. गाइगेर (Geiger) : पालि लिटरेचर उण्ट स्प्राशे, पृ. ५२

३०७. प्रिंट्ज : बी.पी. ५

३०८. गाइगेर : पालि लि. स्प्रा. पृ. ४५.

३०९. वही पृ. ४५.

३१०. तारांकित सहित क्रमांक जयसेन की संस्कृतटीका में अतिरिक्त गाथाओं को सूचित करते हैं ।

३११. गाइगेर : पालि. लि. स्प्रा., पृ. ४५.

३१२. वही पृ. ५०

३१३. कीथ (Keith) : संस्कृत ड्रामा, पृ. ८६

३१४. गाइगेर : पालि लि. स्प्रा., पृ. ४६.

३१५. वही पृ. ५०

३१६. हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण VIII,i१० ,और साथ ही समराइच्चकहा, भूमिका पृ. २८–२९ में डा. जैकोबी की टीकाटिप्पणी ।

३१७. पिशेल (Poischel) : ग्रेमेटिक देर प्राकृत – स्प्राशेन, पृ. २३९.

३१८. गेर : पालि लि. स्प्रा., पृ.५३

३१९. वही पृ. ५५.

३२०. ए= अमृतचंद्राचार्य की संस्कृत टीका सहित हस्तलिपि, पी = प्रभाचन्द्र की टीका सहित हस्तलिपि : देखिये अंत में उनके वर्णन ।

३२१. गाइगेर : पालि. लि. स्प्रा., पृ. ५९

३२२. गाइगेर : पालि. लि. स्प्रा., पृ. ५९

३२३. पिशेल : ग्रा. प्रा. स्प्रा., पृ. १३७, एम घोष : प्राकृत गाथाएं भारत–नाट्य शास्त्र में, देखिये इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग VIII,४, का पृ. ८, डॉ पी. एल. वैद्य: ऐ मेनुअल आफ अर्धमागधी. ग्रामर, पूना १९३३, पृ. १९–२०.

३२४. चण्ड का प्राकृत लक्षण, III,३९, हेमचन्द्र : VIIIi,१८०.

३२५. गाइगेर : पालि लि. स्प्रा., पृ. ५५.

३२६ गाइगेर . पालि.लि. स्प्रा., पृ. ६७

३२७. प्रिंट्ज़ : बी.पी., पृ. १२

३२८. वही पृ. १२.

३२९. लुइदेर्स (Luders) : ब्रुशस्टुइके बुद्धिस्टिशेर ड्रामेन, पृ. ४५.

३३०. वही, पृ. ४७.

३३१. प्रिंट्ज़ : बी.पी., पृ. ५ और १३.

३३२. वही, पृ.१२

३३३. गाइगेर : पालि.लि. स्प्रा. , पृ. ७९

३३४. वूलनर (W oolner): अशोक टेक्स्ट एण्ड ग्लासरी, भाग I,पृ. XXi.

३३५. शूब्रिंग (Schubring) : आचाराग –सूत्र पृ. १२ आदि ।

३३६. गाइगेर : पालि.लि स्प्रा , पृ. ११०

३३७. शूब्रिग द्वारा सम्पादित आचाराग–सूत्र, पृ. ३४.

३३८. देखिये हेम. प्राकृत ग्रामर, iv,२१८,२४५.

३३९. वेबर (W eber) : उबेर आइन फ्रागमेण्ट देर भगवती, बर्लिन, १८६६–७, डॉ. वैद्य: निर्यावलियाओ ,अंतगडदसाओ आदि, विवागसूय और पएसिकहाणय आदि, पूना के उनके संपादित संस्करण ।

३४०. लोएमान्न (Leum ann) ने णुणं, णो आदि जैसे रूपों को ज्यों का त्यों रखा है। देखिये उनका दस औपपातिक-सूत्र, खंड १३२-३, १३७, डॉ. वैद्य: ए मैनुअल आफ अर्धमागधी ग्रामर, पृ. २१-२.

३४१. डॉ. जैकोबी : आयारांगसुत्त, पी. टी. एस. लन्दन १८८२, पृ. XV .

३४२. हेम. ग्रामर, V III, i,५६, ii,८३.

३४३. पिशेल (Pischel) : ग्रा. प्रा. स्प्रा., पृ.२०.

३४४. रिपोर्ट आन सर्च फार संस्कृत मेनस्क्रिप्ट्स, १८८३-८४.

३४५ वीर, हिन्दी मासिक, भाग V ,पृ.११-१२ में प्रकाशित ।

३४६. फेस्टगाबे, हेर्मान्न जैकोबी (H erm ann Jacobi) जुम ७५, बोन्न १९२६.

३४७. एनल्स आफ दी बी. ओ. आर. आई.,X II,ii,पृ. १५७.

३४८. कल्पसूत्र पृ. १८, लाइप्जिग १८७९ में उनकी भूमिका ।

३४९. साउथ इंडियन जैनिजम अध्याय II,अर्धमागधी रीडर iX L आदि ।

३५०. मूलाचार एवं आवश्यक-नियुक्ति के बीच, और प्रकीर्णकों एवं भगवती आराधना के बीच उभयनिष्ठ गाथाओं द्वारा उठी समस्याओं पर अलग से शोधपत्र लिखा जायेगा ।

३५१. देखिये चटर्जी : आरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट आफ बेंगाली लेंग्वेज, पृ. ६०-१.

३५२. केशिराज द्वारा रचित शब्दमणिदर्पण कन्नड व्याकरण के अपभ्रंश प्रकरण, अध्याय V III, में संस्कृत शब्दों को अपभ्रंशित करने सम्बन्धी नियम दिये गये हैं । ये नियम हमें प्राकृत व्याकरण में इन्हीं की सादृशता परिलक्षित कराते हैं (याद दिलाते हैं), जिनमें से कुछ शौरसेनी के लिए विशिष्ट रूप हैं ।

३५३. डॉ. जैकोबी (Jacobi) : भविसत्त-कहा फोन धनपाल पृ. ८१-८९

३५४. डॉ. लुइदेर्स : ब्रुशस्टुइके बुद्धिस्टिशेर द्रामेन पृ. ३३-३४.

३५५. अभिनव अवधि में प्राकृत गाथाओं को समालोचना पूर्वक सम्पादित किया गया है, देखिये इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग V III,iV .

प्रस्तावना की अतिरिक्त सामग्री

पृ.1 पैरा 1। पंडित जुगलकिशोर मुख्यार ने प्रवचनसार के मेरे संस्करण की जैन सिद्धान्त भास्कर, IV,I, पृ.63-69, आरा 1937 में, एक निश्शेषित एवं विद्वत्तापूर्ण समीक्षा लिखी है। उनके द्वारा प्रकाश में लाए तथ्यों में से कुछ ध्यातव्य हैं। पुरातन जैन वाक्य सूची (पी.जे.एस.) सरसावा 1950 की पृ 12 आदि पर उनकी भूमिका में 'कुन्दकुन्दाचार्य एवं उनकी रचनाएं' पर उनका टिप्पण भी देखिये।

पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने हिन्दी में अपने प्राभृत-संग्रह (जीवराज जैन ग्रन्थमाला क्रमांक 9 शोलापुर,1960) में एक सर्वांगपूर्ण भूमिका लिखी है। यद्यपि उन्होंने इस भूमिका का सारगर्भित रूप से उपयोग किया है। उन्होंने अपने निजी सुझाव दिये हैं अतिरिक्त सामग्री दी है, जो ध्यान देने योग्य है। उनमें से महत्वपूर्ण सामग्री को मैंने यत्र-तत्र नीचे टिप्पण रूप में दिया है।

पैरा , 1.2। वर्गाकार कोष्ठकों के अक 1935 में मेरे द्वारा निकाले गये पूर्व के संस्करण के पृष्ठों को निर्देशित करते हैं।

पृ.7 पेरा का अन्तिम शब्द मामत.'मानुषक्षेप'। पंडित जुगलकिशोर इस अनुमान को स्वीकार करने तैयार नहीं है देखिये उनकी समीक्षा जो ऊपर निर्देशित है। पडित कैलाशचन्द्र के अवलोकनों को भी देखा जा सकता है। देखिये निर्देशित उनकी भूमिका।

पृ.8 पैरा 1 वादन्याय शब्द पर। धर्मकीर्ति के द्वारा भी एक ग्रन्थ वादन्याय लिखा गया है। उसके प्रथम भाग को राहुल सास्कृत्यायन द्वारा जर्नल आफ दी बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसायटी, XXI, 4 दिसम्बर 1955 में सम्पादित किया गया है।

पंक्ति 5 में 'सुयकेवली' शब्द पर। ऊपर दिये निर्देश के अनुसार पडित जुगलकिशोर के अवलोकन उनकी समीक्षा से, तथा पडित कैलाशचन्द्र की अभ्युक्तियाँ उनकी भूमिका से लेकर विचार करें।

पृ 16 पंक्ति 26 में 'जयधवला टीकाएं' शब्दों पर। पडित जुगलकिशोर ने अपनी ऊपर निर्देशित समीक्षा में बतलाया है कि धवला में परिकर्म का निर्देश दिया गया है। डा एच एल जैन ने धवला के उन प्रसगों के निर्देश दिये हैं जहाँ परियम्म उल्लिखित है। उन्होंने बतलाया है कि वह पट्खण्डागम पर कोई टीका थी जो अत्यन्त प्रमाणिक है। यद्यपि ग्रन्थकार का नाम उल्लिखित नहीं है, सम्भाव्यरूप से (नियमसार के कुछ समान अभिव्यक्तियों से) उसके ग्रन्थकार कुन्दकुन्द हो सकते हैं। (धवला,I भूमिका पृ 46 अनुगामी, अमरावती 1939)। जयधवला में परिकर्म सम्बन्धी निर्देश के लिये देखिये तिलोयपण्णत्ति भाग II शोलापुर 1951। भूमिका पृ. 6 पंडित कैलाशचन्द्र ने भी (डा.एच एल जैन की विधि से) धवला में से कुछ अवतरणों को (ऊपर निर्देशित उनकी भूमिका देखिए) एकत्रित किया गया है। जिनमें परिकर्म का निर्देश है। उनके अभिमत से उसकी विषयवस्तु मूलत सैद्धान्तिक गणित से युक्त है। उसका उल्लेख परिकर्मसूत्र नियमसार में उपलब्ध है जैसा कि डा.एच.एल जैन ने पहले ही ध्यान दिलाया है।

पृ.20 पैरा 2, 'ईस्वी सन्' शब्दों पर। मुनि श्री कल्याणविजय जी ने कुन्दकुन्द के निर्धारित समय सम्बन्धी पूर्व तिथि के विरुद्ध कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं। (श्रमण भगवान् महावीर,जालोर 1941)। किन्तु उनके अवलोकन वस्तुपरक रूप से प्रदर्शित नहीं किये गये हैं, ना ही वे सशक्त आलोचनात्मक छानबीन के सामने टिक सकते हैं। उनके तर्कों में से कुछ का मैं अपनी विवेचनाओं में परिचय करा चुका हूँ जिसका उन्होंने कोई निर्देश नहीं दिया है। उनके अन्य विवरणों पर मैं अग्रसर होते हुए निम्नलिखित बिन्दुओं पर ध्यान दिला सकता हूँ। (I) अर्धमागधी आगम के प्राचीनतम ग्रन्थों में से एक सूत्रकृताग (I 6,21.I 1,5 आदि) में हिन्दू देवताओं विष्णु ब्रम्हा आदि उल्लिखित हैं, और यह कल्पना करना ठीक नहीं होगा कि वे तथ्यतः पौराणिक युग के देवता हैं।

(ii) चैत्यगृह के निर्देश से चैत्यवास का कोई सरोकार नहीं है।

(iii) यह अभी भी सिद्ध करना है कि रयणसार कुन्दकुन्द की रचना है, जहाँ कुन्दकुन्द प्रवचनसार के ग्रन्थकार हैं।

(iv) उनकी कुछ पूर्वधारणाएं स्पष्ट रूप से गलत हैं। कालक्रम सम्बन्धी विवेचनों में किसी के अभिमत

की अपेक्षा साक्ष्य अधिक मूल्यवान् होता है, चाहे वह कितना ही मेधावी क्यों न हो।

पंडित सुखलाल जी ने कुन्दकुन्द के लिये इतने पूर्व की तिथि के निर्धारण के विरोध में अपनी स्वाग्रही वाणी अभिव्यक्त की है। [सन्मति प्रकरण, (हिन्दी), अहमदाबाद, 1963]। किन्तु उन्होंने कोई भी साक्ष्य प्रदर्शित नहीं किया है जो साहित्य के इतिहासकार द्वारा तौला जा सके। वह निष्कर्ष नहीं है वरन् साक्ष्य है जो प्रस्तुत किया जाता है। जो वस्तुनिष्ठ अध्ययनों में अधिक महत्वपूर्ण होता है। भारत में विविधधाराओं और मिश्रधाराओं में दार्शनिक धारणाएं और सहवर्ती पद प्रवाहित हुये हैं, और उनके सम्बन्ध में अल्पतम व्यष्टि परक है। अत: धारणों की समानता (सादृश्य) आदि के आधार पर कालक्रम सम्बन्धी निष्कर्ष पर पहुँचने का कोई भी प्रयत्न सदैव समस्यात्मक रहेगा। एफ.डब्लू.थामस (देखिये उनकी इन्ट्रोडक्शन टू दी प्रवचनसार, पृ.16आदि अनुगामी के 1935) ने पहले ही इस दिशा में एक वस्तुनिष्ठ प्रयास किया है जिसमें उन्होंने [पुरातनमा के चिन्ह रूप में] कुन्दकुन्द द्वारा उपयोग में लाये गये विविध पदों आदि को एकत्रित किया है जिनको उन्होंने उमास्वाति से पूर्व का बतलाया है और किसी भी तरह उनको सिद्धसेन के बाद नहीं कहा है जैसा कि संभवत: पंडित सुखलाल जी ने अपने मस्तिष्क में मान रखा है। कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में अध्ययन अभी भी अपने बाल्यकाल में है, और आगे अनुसंधान करने के लिए कार्यक्षेत्र पड़ा है। यह सुविख्यात है कि कालिदास के युग (तिथि) पर भी (कोई) विद्वान् सहमत नहीं हैं जिसका सरल कारण यह है कि उनमें से कुछ ऐसे तर्क प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हैं कि कालक्रम के प्रश्नों का निर्धारण करने सम्बन्धी उनमें कठिनाई से कोई प्रासंगिकता और सुनिश्चितता होती है। यह हम सभी के लिये एक अच्छी सीख है जो कालक्रम विज्ञान सम्बन्धी समस्यों पर कार्य कर रहे हैं।

पृ.21 पादटिप्पण 83 । यह सुझाव दिया जाता है कि कोण्डकुन्दे-कोन्कोण्डला (Kondakunde-Konkondla) (अनन्तपुर जिला) ऐसा स्थल है जहां के कुन्दकुन्द थे और सम्भवत: उस स्थान के कारण उनके नाम का अनुमान निकला। यह एक रुचिपूर्ण सुझाव है और वर्तमान के लिये एक कार्यवाहक प्रकल्पना (Hypothesis) के रूप में स्वीकार की जा सकती है। (पी.बी देसाई।जैनिज्म इन साउथ इंडिया, शोलापुर 1975 पृ.152 आदि अनुगामी)

पृ.24 पेरा 4,'मूलाचार' शब्द पर। देखिये पंडित जुगलकिशोर की अपने पी.जी.एस.के पृ.18 एवं अनुगामी पर उनकी भूमिका में इस रचना पर उनकी टीका-टिप्पणी। पंडित परमानन्द ने एक लेख लिखा है। (अनेकान्त II 3,पृ.221एव अनुगामी) कि कुन्दकुन्द को मूलाचार के ग्रन्थकर्ता के रूप में देखा जाना चाहिए, किन्तु प्रस्तुत साक्ष्य निर्णायक नहीं हैं। वे आगे (वही पृ 319 एव अनुगामी) दिखलाते हैं, कि उसमें अन्य ग्रन्थों के समान कुछ गाथाएं हैं। पंडित हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री का भी लेख इस रचना पर देखिये (वही XII,11,पृ.330 एव अनुगामी)। उन्होंने आगे ध्यान दिलाया है (वही पृ.362 और अनुगामी) कि किस प्रकार कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की कुछ गाथाओं की सहभागिता मूलाचार में है। मूलाचार के समयसाराधिकार (X,89-90) में कुछ गाथायें हैं जो सिद्धसेन के सन्मति (II40-53) के साथ समान हैं। देखिये सन्मतितर्क, अंग्रेजी, प्रस्तावना पृ.71 बम्बई 1939 ग्रन्थकार या सकलन कर्त्ता का नाम फिर भी अस्पष्ट है। फिर भी यह आवश्यक है कि मूलाचार के विद्यमान अध्यायों को स्वतन्त्र प्रकरण रूप व्यवहार किया जाये जिन्हें एक शीर्षक के अधीन एकत्रित कर दिया हो इस प्रसंग में देखिये पादटिप्पण क्रमांक 3,पृ.31 पर नीचे।

पृ.27 पेरा 2,'दंसणपाहुड' शब्द पर। डा डब्लू.शूब्रिंग ने एक विद्वत्तापूर्ण शोधपत्र 'कुन्दकुन्द एश्ट उण्ट अनेश्ट' जेड डी एम जी बेंड 103-हेफ्ट 3 (दिसम्बर 1957) पृ.557 एवं अनुगामी। यह पाहुडों की भाषा एव विषय वस्तुओं पर खोजपूर्ण प्रकाश डालता है, और चाहे प्रवचनसार आदि के ग्रन्थकार वही हों जो पाहुडों में से कुछ के रचयिता हैं, एक विचाराधीन प्रश्न है। यह अत्यावश्यक अभीष्ट है कि इन पाहुडों का समालोचना पूर्वक सम्पादन हो जाना चाहिए।

पृ.27 पेरा 2,'चारित्तपाहुड' पर। श्रावकाचार के सम्पूर्ण क्षेत्र का एक सर्वांगपूर्ण एवं उत्कृष्ट अध्ययन डा.आर.विलियम्स (R Williams) द्वारा उनके जैन योग, लन्दन ओरियण्टल सीरीज भाग 14 लन्दन 1963 में प्रस्तुत किया गया है।

पृ.38 पादटिप्पण 108 'लखनऊ 1931'के पश्चात् जोड़िये- अभी पद्मप्रभ की टीका सहित नियमसार

और उसका गुजराती अनुवाद जे शाह द्वारा श्री स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट, सोनगढ 1951 से भिन्न सस्करण रूप में प्रकाशित हुआ है।

पृ.108 पिछले पृ के पादटिप्पण के 'अन्तिम' शब्द के पश्चात् जोड़िये। इस विषय पर मेरा शोधपत्र आल इंडिया ओरिएटल कान्फेन्स, मैसूर के आठवें सत्र में प्रस्तुत हुआ जो अपने सशोधित रूप में जर्नल आफ दी यूनिवर्सिटी आफ बाम्बे,XI,ii,फार 1942 पृ. 100 एव अनुगामी में प्रकाशित है। 'पद्मप्रभ एण्ड हिज कमेन्टरी आन दी नियमसार'। सभी उद्धरणों की सूची बनाई गयी है और प्रयत्न किया गया है कि उनके युग की विस्तृत सीमाएं निकाली जाएं जो 12 वीं सदी के अन्तिम चरण में और 13 वीं ईस्वी सदी का प्रथमचरण रूप में निर्धारित की गई थी। और विशेष साक्ष्य की सहायता से, नामत पतशीवरण् (जिला अनन्तपुर) का पुरालेख जिसमें पद्मप्रभ के सम्बन्ध में अनेक ऐसे विवरण दिये गये हैं, यह अब बतलाता है। (पी बी.देसाई। जैनिज्म इन साउथ इंडिया एण्ड सम जैन एपीग्राफ्स शोलापुर 1957 पृ 159-60) कि वे सोमवार, फरवरी 24, ईस्वी 1185 में स्वर्गवासी हुये।

पृ 47 पादटिप्पण 123 उसके अन्त में जोड़े। अमृतचन्द्र की सस्कृत टीका सहित प्रवचनसार का संकल्पित अंग्रेजी अनुवाद बी फेडगान (B Faddegon) द्वारा किया गया तथा एफ.डब्लू.थामस द्वारा भूमिका सहित सम्पादित होकर भाग 1 के रूप में जैन लिटरेचर सोसायटी सीरीज केम्ब्रीज 1935 द्वारा प्रकाशित किया गया। विद्वान् सम्पादक ने भूमिका में कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर विवेचन दिया है जो विशेष ध्यान देने योग्य है, जैसे कि कुन्दकुन्द और उमास्वाति के सापेक्ष युगों, कुन्दकुन्द की रचनाओं का, उनकी पारिभाषित प्रचलन सम्बन्धी प्रकरण। प्रवचनसार ग्रन्थ का एक सस्करण, अमृतचन्द्र की टीका सहित और एच.जे शाह के गुजराती अनुवाद सहित सोनगढ 1948 निकाला गया है, साथ ही इस सस्करण का हिन्दी प्रतिरूप पडित परमेष्ठीदास, मारोठ 1950 द्वारा प्रकट हुआ है। प्रवचनसार का हिन्दी में छन्दबद्ध अनुवाद वृन्दावन द्वारा (देखिये पृ 106 नीचे पादटिप्पण 3) पहले ही जैन हितैषी कार्यालय बम्बई 1908 द्वारा प्रकाशित किया गया था। अभी अभी एक गुजराती पद्यानुवाद सोनगढ से 1950 में प्रकाशित हुआ है। एम एच गाधी द्वारा एक मराठी पद्यानुवाद उस्मानाबाद 1952 में प्रकाशित हुआ है। अनुक्रम से, 1915 में स्वर्गीय टी के लड्डू द्वारा प्रवचनसार का एक सस्करण एस बी जे में प्रकल्पित किया गया था। (देखिये परमात्मप्रकाश, आरा 1915 में प्रस्तावित प्रकाशनों की सूची) सभवत सम्पादक की दु खद मृत्यु के कारण ऐसा कोई सस्करण नहीं निकाला जा सका।

पेरा के अन्त में शब्द 'जैनधर्म' पर। पडित सुखलाल जी (सन्मतिप्रकरण, हिन्दी पृ 40 एव अनुगामी अहमदाबाद 1963) ने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों और सिद्धसेन के सन्मतिप्रकरण के बीच एक तुलना प्रवर्तित की है। उन्होंने उनके मध्य समान अभिव्यक्तियाँ, शैली की सदृशता,समान्तर विषयवस्तु और यत्र तत्र कुछ सुधार (विषमताए) खोज निकाली है। यह आवश्यक है कि इस अध्ययन को स्तुतियों तक भी विस्तृत किया जाये। यदि कोई सम्पूर्ण प्राचीन (पूर्ववर्ती) जैन साहित्य को अध्ययन की एक इकाई रूप में समाधित करे और मात्र उपलब्ध साक्ष्य द्वारा निर्देशित हो, तो अप्रतिरोध्य निष्कर्ष यह होगा कि सिद्धसेन ने युगपद्वाद का सुराग (भूल-भुलैयों का पथ प्रदर्शन) कुन्दकुन्द से प्राप्त किया और परिणामस्वरूप उनके सन्मतिप्रकरण का सघटन कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के संघटन से अधिक प्रभावित हुआ है। सभवत इस निष्कर्ष को पार्श्वपथित करने के लिये पडित सुखलालजी, यदि मैं उन्हें ठीक समझता हूँ, युगपद्वाद के प्रचलन को, जिसे कुछ हद तक पूर्ववर्ती श्वेताम्बर साहित्य में भी अभिधारित कर रहे हैं। (वही पृ 54 और अनुगामी)।

पृ 48 पेरा 3। उपर्युक्त समीक्षा में पडित जुगलकिशोर ने प्रवचनसार और यतिवृषभ के तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ के मध्य समान गाथाओं के प्रश्न को उठाया है। इस प्रकरण पर उनका लेख अनेकान्त, भाग 1 पृ 3 एव अनुगामी दिल्ली 1939 में देखिये, साथ ही उनका आगे का विवेचन देखिये जो पी जे एस की उनकी भूमिका पृ 27 एव अनुगामी में दिया गया है, यह विषय तिलोयपण्णत्ति, भाग II, शोलापुर 1951 में अंग्रेजी एव हिन्दी भूमिकाओं में विवेचित है।

पृ 52 पेरा 3 'हरिभद्र'शब्द पर। 'हरिभद्र' द्वारा उद्धृत ये दोनों गाथाए सावयपण्णत्ति (बम्बई105) में पायी जाती हैं। जिसकी रचना का श्रेय उमास्वाति को दिया जाता है। किन्तु सभवत वे स्वयं हरिभद्र द्वारा

रची गयी है। देखिए गाथाए क्रमाक 223-4,पृ.122।

पृ 131 पादटिप्पण 52 पिछले पेज से निरन्तरित। इस अनुमान के सम्बन्ध में पंडित जुगलकिशोर के विविध विचार उनकी उपर्युक्त समीक्षा में देखिये।

पृ 165 पादटिप्पण 69। जब मैने यह लिखा मुझे एच.जैकोबी (H.jacobi) के पादटिप्पण (एस.बी.ई.45,जैन सूत्राज भाग ॥,पृ 406-7,पादटिप्पण 3)के विषय में जानकारी नहीं थी जहाँ उन्होंने पाच शरीरों का वर्णन किया है जो वयक्ति के जैनधर्म के अनुसार होते है, और अपने टिप्पण के अन्त में उन्होंने आयुक्ति दी है,'साख्य पदो वैकृत और तैजस से भी तुलना करिये, गार्बे (Garbe),दी सांख्य फिलासफी, पृ 236, 249'ऐसा प्रतीत होता है कि शेष पद तब तक उनका ध्यान आकर्षित नहीं कर सके थे। जो कुछ हो, सदृशता जो वास्तव में अति समीप की है, एक तथ्य है।

पृ 74 पंक्ति 25, ब्रह्मशब्द पर। सर्वज्ञ जीव के रूप में ब्रह्म के विषय में देखिये वेदान्त-सिद्धान्त-सूक्ति-मजरी, कलकत्ता संस्कृत सीरिज, क्रमाक IV, भूमिका पृ.39 ग्रन्थ भी देखिये,पृ 57-60।

पृ.85 पादटिप्पण 208 हरिभद्र ने भी दसवेयालिय I,3, पर अपनी टीका में इस पक्ति को उद्धृत किया है। अत. सभवत यह एक पर्याप्त प्राचीन परिभाषा है जो परम्परागत रूप से प्राप्त हुई है।

पृ.93 पक्ति 20 सभवत सूयगड दिगम्बर (नग्न) साधु को आदर्श रूप से स्वीकार करता है (I,7,1,222)और नागणीय का अर्थ नग्न मुनि है।

पृ 96 पेरा 2, शब्द शैली आदि पर। इस प्रसग में डा एफ डब्लू थामस के अवलोकन विशेष से ध्यान देने योग्य हैं। 'प्रवचनसार पर उनकी (अर्थात् अमृतचन्द्र की) टीका परिकृप्त है और दु साध्य, प्राय कृच्छ्रसाध्य पूर्ण यथातथ्य रूप वाली है जो पूर्ति करने के लिए कुछ भी नही छोडती और पुनरावृत्ति करने में किसी भी भाति पीछे नहीं हटती है। वह जैन संस्कृत के उत्कृष्ट अधिकारी हैं। वे पदबन्ध को पूर्णता अपनाते है जो पुनरावृत्ति रूप से यथार्थता के सरल प्रयास वाले होने की अपेक्षा ठीक-ठीक गुंजायमान वाग्जाल और जटिल वाक्यों के आनन्द की छाप छोड जाते हैं, और जो व्याख्या तथा अनुवाद के कार्य को अत्यन्त कठिन बना देते है, किन्तु अटल धार्मिक श्रद्धा के परिणाम को शैली के निर्मोहत्व (कठोरता) में पहचानने के लिए कोई विशेष उदारता की आवश्यता नहीं होता है। अन्य जैन लेखकों की भाँति टीका व्यक्तिगत प्रदर्शन से पूर्णता शून्य है। किन्तु ऐसे कुछ अवतरण हैं जहाँ उसमें उत्कण्ठा का तनाव ग्रहण किया गया है और गाथा में आसक्ति (तृप्ति) प्रदर्शित है (24,संस्करण की भूमिका, उपर्युक्त पृ 47)।

पृ 98 पेरा के अन्त में '10 वी शताब्दी ईस्वी' शब्दों पर। अनेकान्त, VIII पृ 173-4 में अमृतचन्द्र पर पडित परमानन्द की टिप्पणी देखिये। सकलीकरहाटक में संवत् 1055 (-57=998 ईस्वी) में रचित धर्मरत्नाकर के ग्रन्थकार, जयसेन ने अमृतचन्द्र के पुरूषार्थसिद्ध्युपाय में से अनेक गाथाए उद्धृत की है। अत. अमृतचन्द्र 998 ईस्वी से अवश्य ही पूर्व हुए होंगे। जैन सदेश शोधांक V, पृ.177 एव अनुगामी,मथुरा 1959 देखिये, तथा दी व्वायस आफ अहिंसा, भाग XI क्रमाक 6 जून 1961 भी देखिये।

पृ 97 पादटिप्पण क्रमाक 244 पर। यह निर्देशा पडित सुखलालजी द्वारा सिद्धसेन के युग पर एक लेख में (भारतीय विद्या,हिन्दी III,1 पृ.132-3 जुलाई 1945) परिष्कृत रूप में दिया गया है जिसमें उन्हे विक्रम सवत् की पाँचवी सदी में हुए माना गया है उनकी टिप्पणी सन्मतिप्रकरण, हिन्दी पृ.10 एव अनुगामी, अहमदाबाद 1963 में भी समन्वित की गयी है। पडित सुखलालजी यह स्वीकार करते हैं कि जैनेन्द्रव्याकरण में सिद्धसेन का निर्देश है, किन्तु अनके अभिमत में, वह समन्तभद्र को ग्रन्थकार रूप में निर्देशित नहीं कर सकता है। वे इस पक्ष को मानते है कि 'समन्तभद्र' सभवत बौद्धग्रन्थकार चन्द्रकीर्ति के 'समन्तभद्र-व्याकरण'के लिए मान्य होता है। सुझाव प्रासगिक है, किन्तु वह तब तक केवल एक अटकलबाजी रहेगी जब तक कि सम्बद्ध प्रसग चन्द्रकीर्ति के ग्रन्थ में खोज नहीं लिया जाता है, जिसके विषय में, इच्छानुसार, आवश्यक ग्रन्थसूची सम्बन्धी निर्देश अगले अध्ययन एव सत्यापन के लिए प्रदान किये गये है (वही पृ 47)।

पृ 99 प्रथम पेरा के अन्त में 'धर्मरत्नाकर'पर। 'धर्मरत्नाकर'(सवत् 1055)के ग्रन्थकार का नाम

योगीन्द्रदेव के रूप में उल्लेखित करते हों। वस्तुतः नाम योगीन्दु होना चाहिए था। ए.मास्टर (A Master) ने जिनदत्तसूरि की उपाधि (योगीन्दु) को परमात्मप्रकाश के ग्रन्थकार के रूप में त्रुटिरूप मान लिया। (देखिये उनका शोधपत्र, मिस्टीरियस पैशाची, जे आर ए एस, अप्रेल 1943,पृ 45) जैसा कि मेरे द्वारा एनल्स आफ दी बी ओ आर आई भाग 34,पृ 166-7 में एक टिप्पण द्वारा दिखाया गया।

पृ.12 पेरा 1 में श्रुतमुनि शब्द पर। मेरे मित्र, प्रोफेसर डी एल नरसिंहचर, मैसूर ने मुझे इस प्रकार लिखा है। तत्वरत्न प्रदीपिका नामक एक हस्तलिपि के अन्त में, अध्यात्मी बालचन्द्र द्वारा लिखित उमास्वाति के सूत्रों पर एक कन्नड टीका में निम्नलिखित प्राकृत गाथा आई है-

सिद्धंति अभयचंदो तस्स सिस्सो य होइ सुदमुणिणो ।

सव्वगुणे परिपुण्णो तस्स सिस्सो य णागचंदो य ।।

पृ 105 पेरा 4 के अन्त में। कुन्दकुन्द के तीन ग्रन्थों पर एक तमिल टीका भी है, देखिये एनल्स आफ दी बी ओ आर आई XIX,1 पृ 1-2,पूना 1938 में दिया गया मेरा टिप्पण।